UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180820

UNIVERSAL
LIBRARY

श्री नरेश मेहता कृत

Naresh Mehta's

Dhoomketu : Ek Shruti

धूमकेतु : एक श्रुति

: उपन्यास :

नेशनल पब्लिशिंग हाउस

जवाहर नगर, दिल्ली–६

१९६२ | प्रथम संस्करण

मूल्य | ~~[illegible]~~ रुपये 8/—

प्रकाशक | नेशनल पब्लिशिंग हाउस
'चन्द्रलोक' जवाहर नगर
दिल्ली-६

मुद्रक | लीडर प्रेस, इलाहाबाद

© | लेखक

स्वर्गीय पिताश्री को

धूमकेतु : एक श्रुति

मैं पृथीकृत हूँ,
मेरे चक्र की लकीरों से
बँधी है धरा
सृष्टि
समय ।

न सही आज
पर कल
पूजित त्रिपुण्ड सा
प्रत्येक मस्तक पर
वैशाखी वैश्वानर बन
दमकूंगा ।

ओ पार्थिव ! दो पथ,
द्वार-द्वार पहुँचे यह
रक्त-स्वेद श्लथ
देवरथ ।

শ্রুতি-বিস্তার

एक जगह पहुँच कर विगत को देखने पर लगता है जैसे दूर, नीचे कहीं टूटे खिलौनों की तरह अव्यवस्थित ढंग से विभिन्न शक्लों, रूप-रंगों तथा आकार-प्रकार में—विगत, अपने उन अनेक दिनों, व्यक्तियों तथा स्थानों में असम्पृक्त भाव से पड़ा हुआ है, जो आज भी हम में कहीं क्षीण, आभास बनकर है। बरसों बाद हमारी गंभीरता को चुनौती देते हुए हमारे कमरे में जैसे बचपन के खिलौने चलकर आ जाएँ तो हमें कैसी उलझन होती है न ?

विगत, कितना साधारण था उन दिनों—घर, दीवारें - जिनमें लकड़ी के खंभे, जिन्हें रेंगते हुए अपने कच्चे नाखूनों से खुरचा करते थे और न खुरचे जाने पर रो दिया करते थे। खम्भे में लोहे के दीपदान पर रखी जलती ढिबरी की ओर मिट्टी मुँह में भरे कैसे ताकते होते थे। ढिबरी भभकती तो हमारी भी पलकें झपकने लगतीं। छत के चँदोवे में कतार से लगे कागज के रंगीन फूल, चारों ओर हाशिये में फ्रेमित धार्मिक चित्र, जिनके बीच शीशे पर लाल रंग की बनी बेगम तथा बेगम की वह बड़ी सी बुलाक कैसी लगती जैसे अभी टूट कर गिर पड़ेगी। पिता का वह 'चित्र-सेवा' वाला वैष्णवी अपरसी पूजा का भंडार, जहाँ

से भोग के लड्डू, मिश्री कितनी ही बार चुरा कर खाये...चावल की गंध... पिता की बँगवई के कड़ों की खास आवाज...सब कितना असमाप्त होने वाला तथा थका देने वाला लगता था। बड़ा ही रोज-रोज का सा उदास भाव लगा करता था जैसे ये कभी नहीं व्यतीतेंगे...केले के पत्रों की पंगत...विभिन्न वर्णी सोले-मुकुटे में जीमते ब्राह्मण...राँगोली...अगरुगंध...ये सब कभी नहीं बीतेंगे। लेकिन तब क्या जानते थे कि व्यतीत तक व्यतीत जाता है। खुली खिड़की से वर्षा-फुहार चुनचुनाती देह को कैसे ठंढा कर जाती थी। नीम की कड़वी गंध रात-रात भर आती रहती। दोपहर में उदासी को चीरती 'चूड़ी बिल्लोर' वाले की आवाज दूर-देर तक आती रहती। पनचक्की की कान पका देने वाली चीख, पूरी शाम ही जैसे फोड़े सी दुखने लगती थी...और मन क्रमशः उनमें से होता हुआ अपने को पृथक करने लगता है बल्कि उन सबसे निष्कृत होने के लिए कैसा व्यग्र होने लगता था। खिड़की पर झुके गली के सिरे पर बड़ी सड़क से जाती हुई मोटर, उसकी धूल कैसी सगोत्री लगती कि इसमें बैठकर यहाँ से दूर, जाने कितनी नदियों-नालों के पार मुक्ति है जहाँ न उदास दोपहर, न ये कागज के रंगीन फूल, न गोबर लिपा यह फर्श कुछ भी नहीं है...बल्कि कुछ अन्य ही है जिसके लिए अकुलाते हुए बच्चे से किशोर हुए हैं...और आज सचमुच अपने ही पैरों चलकर अपने विगत के लिलिपुट से कितनी दूर, उस वांछित दूर आ पहुँचे हैं जिसके लिए हम उन दिनों आकुल थे।

स्मृतियाँ, बीज में निहित वृक्ष हैं। हम सब स्मृतियों के संग्रहालय हैं। जहाँ कोई भी मूर्ति या प्रतिमा अखण्डित नहीं। समय, जल, धूप, धूल, कैसे हमारी इन मूर्तियों को काट जाता है, विकृत कर जाता है कि हम चौंक उठते हैं जब पिता का कबन्ध ही हमें दिखता है...तो, उनका सिर क्या हुआ ? हमारे पिता तो हम में सुरक्षित थे, तब यह कैसे क्या हो गया ?...उनके तन्जेब के कुरते की तन्नी अभी भी हिलती हम अनुभव कर रहे होते हैं। ....बँगवई से नीचे लटकता झूला लेता उनका एक पैर झूले के साथ कैसे आता है, चला जाता है...तो क्या पिता,

पिता...??—किसी दिन हम स्वयं भी भावी इतिहास में ऐसे ही क्षीण, दूराभास से, अंगहीन धड़ मात्र ही रह जाएँगे?...और कैसी घुटन होती है कि क्या यह अमूल्य जीवन एक दिन हमारी सारी चेष्टाओं को झुठलाकर हममें से बीत जाएगा? खुली आँखें होने पर भी न ये आकाश, न धूप, न पुत्र, न परिवार कुछ नहीं दीखेगा? ...और हम जीवन की इस प्यास को अपने दाँतों में कैसे चुपचाप कस कर थामे रहना चाहते हैं कि दाँतों में दर्द होने लगता है।...हम कितने सशंक मन से माँ को अनुभवना चाहते है...और एक गोरा चूड़ियों भरा हाथ सामने आ जाता है जिस पर अभी भी गुदने की बिंदियाँ स्पष्ट दिख रही होती हैं...बस?? हम घबरा कर पूरी माँ को गहना चाहते हैं...रात्रीघर से दीदी को फटकारती माँ की आवाज आती है—'ससुराल जाओगी और परवल इस तरह बनाओगी तो सास कच्चा ही चबा जाएगी'—केवल आवाज...माँ....दूर-दूर तक साड़ी में लिपटी आवाज बनी हमारे चारों ओर सुनायी भर पड़ती है...बस?? और हम घबराकर दीदी को पकड़ना चाहते हैं। सेवार से लम्बे चिकने घने बाल सामने आ जाते हैं।...हाँ, दीदी इन्हें ही धोया करती थीं। दीदी को सामने बैठाल कर माँ इनमें ही तैल डाला करती थीं। बचपन में माँ कैसे इन्हें कस कर बाँध दिया करती थीं, लेकिन जब ब्याह के बाद दीदी आयी थीं तो कैसा बड़ा सा फूला-फूला कनपटियों के पास लहर लेता जूड़ा बना था इनका।...बालों के उस जूड़े में दीदी की बड़ी-बड़ी आँखें उग आती हैं...लेकिन शेष?...और शेष, किसी प्राचीन चित्र की आकृति सा क्षीण। जूड़ा और आँखें भी एक शोभायात्रा के समान गुजर कर दूर होने की चेष्टा में होते हैं...और हम अपने भीतर की इस पारिवारिक भग्नता को छू लेना चाहते हैं लेकिन जैसे हमारा हाथ शीशेघर में रखे ताजमहल को नहीं छू पाता बल्कि टकरा जाता है कि व्यतीत छुआ नहीं जा सकता। व्यतीत जाने पर सब सम्बन्धहीन हो जाता है।

और ये परछाँइयाँ हममें गुँथती चली जाती हैं। कभी ढाक के जंगलों से होती हुई ये हमारे पीछे आकर खड़ी हो जाती हैं तो कभी घोसिन के पँचरंगे हिलते घाघरे के साथ आकर हमारे पैरों के नीचे होती हैं तो कभी अवन्ती पगली की भाँति हँसते हुए मुँह में दाँत भरे हमारे आगे-आगे चलते हुए डाकती होती हैं। ✱

हम सबके पास ऐसा संग्रहालय होता है। जो मैं सुना रहा हूँ उसमें कोई विशेषता नहीं है। यह प्रश्न हो सकता है कि तब सुनाने की क्या आवश्यकता है ? वह इसलिए कि इसे संवहित करने में मेरा स्वत्व अनेक बार टूट-टूट गया है। कोई अन्य इस सब पर ग्रन्थ रच सकता था लेकिन मेरा प्रयोजन मात्र इतना ही है कि घटनाएँ नदियों की भाँति बह कर चली गयीं और मुझे डेल्टा कर गयी हैं। मैं यथातथ्य रूप में बात रख दूँ मेरी मात्र यही चेष्टा है। उन्हें कलात्मक रूप देना मेरा इष्ट नहीं क्योंकि ऐसा करने पर कुछ मिथ्या को भी योजित करना पड़ता। और मैं तब प्रयोजन-च्युत हो जाता।

एक कठिनाई यह है कि कहाँ से आरम्भ करूँ ? यदि बीच के किसी केन्द्र को लेता हूँ तो कथा के बीच आप पूछ उठेंगे कि फलाँ महाशय का कुल-शील क्या है ? या, वो साहब कौन हैं ? इसलिए श्रुति के प्रवाह की दृष्टि से बिलकुल शुरू से आरम्भ करूँ तो आप मेरे टूट-टूट जाने की विवशता का अर्थ समझ सकेंगे।

एक धूप भरा सवेरा है। मास विशेष का कोई आग्रह नहीं कारण कि घटना ही ऐसी है। एक मालवी-गुजराती माँ, साँवली सी, बल्कि काफी साँवली। जाँघों तक धोती चढ़ाये एक बच्चे को जाँघों पर औंधा लिटाये नहला रही है। खुले से आँगन के सिरे पर नहाने के लिए एक शिला है। सवेरे की धूप दीवारों पर तिरछी गिर रही है। पास की दीवार में बाँस की अलगनी पर कुछ कपड़े सूख तथा टँग रहे हैं। बच्चा रोता जा रहा है और वह माँ पीतल की गंगाल से गुनगुना पानी बच्चे पर डालते हुए पहले तो बड़बड़ाने लगती है लेकिन जब बच्चा चुप नहीं होता तो उसे जोरों से मारने लगती है। बच्चे की चीख-पुकार सुन कर घर के और लोग भाग कर आते हैं। बड़े-पिता, बा, धूप में हाथ जोड़े सूर्य को अर्घ्य दे रहे हैं। पड़ौसी मारवाड़ी दर्जनमाँ निकल आती हैं। 'शृंगार' के दर्शन के लिए मंदिर जाने की तैयारी करती अड़ोस-पड़ोस की दूसरी औरतें निकल आती हैं और हाय-हाय मच जाती है।

यह बच्चा मैं हूँ।

माँ की केवल यही अकेली स्मृति है। बहुत याद करता हूँ कि माँ और क्या

थी? लेकिन अपने जीवन भर इस तरह स्मृति में माँ की जाँघ पर औंधे लेटे हुए नहलाती माँ के हाथों की मार खाते हुए रोता हूँ। इससे अधिक नहीं स्मरणता। माँ, व्यक्ति होती है इसलिए उसका मुख याद करता हूँ लेकिन व्यर्थ। केवल श्रुति-मुख जो कल्पना में है वह यह कि नन्दन की माँ को अपने गोरेपन का अत्यधिक गर्व है इसलिए गाहे-बगाहे मुझे सुनाया करती हैं कि मेरी माँ उल्टा तवा थी लेकिन पानी था। काली मटकी के दही सी बत्तीसी थी। बेचारी जियी ही पाँच बरस। ब्याह कर आयी। मैं हुआ। वह बीमार हुई। आखिर दिनों में तो पागल भी हो गयी थी और उपरान्त तो चल ही बसी—लेकिन थी बड़ी सीधी ?
तीसरी पत्नी थी बेचारी...।
मैं इस श्रुति का साक्षी भर हूँ, व्यक्ति का नहीं।

साँझ पड़े की बेला है। धरधरी वखत।
उसी आँगन में दो आसनों पर बा (पिता के पिता) तथा माँ (पिता की बुआ) सन्ध्या कर रहे हैं। सन्ध्या तारा उगने को है। ये दोनों वृद्ध भाई-बहन अपनी-अपनी गोमुखी में माला फेरते हुए बुदबुदा रहे हैं —ॐ नमो भगवते वासु-देवाय।—दोनों के सामने ताँबे के पंचपात्र, तरभाणा तथा आचमनी रखे हैं। पड़ौस के किसी राम-मन्दिर के शंख-घड़ियाल तथा आरती के स्वर आ रहे है।

मुझसे सात-आठ बरस बड़ी दीदी इस समय चूल्हे के पास बाल चुचुआते, मर्दों की तरह धोती कमर से कसे, जरा से में थक जाने वाले नन्हे-नन्हे हाथों से आटा गूँधती होती हैं। कढ़ाई में कोई भाजी सीझती हुई सुँसुआ रही होती। चूल्हे की आँच में दीदी का मुख ताँबे का हो जाता। रान्नीघर की गोबर लिपी दीवारों पर आँच का आभास भी मन्द-तेज होता रहता। कोने में अलगनी पर चुन्नट किया हुआ रसोई का अपरस का अबूट्या टँगा हुआ रहता। सवेरे इसे पहन कर माँ भोजन राँधती हैं। भोजन के बाद ही दीदी अपने चुचुआते चूलों को झारेंगी। दोनों बखत नहाकर ही भोजन बनाया जा सकता है।

घर में निर्जनी शान्ति है। बा या माँ के खाँसने की आवाज या फिर आटे को

माँड़ते हुए पानी के लिए दीदी का बार-बार लोटे में हाथ डालने के और कोई शब्द नहीं है। शेष, इस बड़े से घर के अनेकों कोनों में एकान्त अँधेरी साँझ—दीवार पर टँगी बन्दनवार पर, अनाज की मटकियों की उतरेल पर, ऊपर, नीचे, बाहर, भीतर चुपचाप भर रही होती है।

इस लम्बे रान्नीघर के आखिरी सिरे पर अभी देखते-देखते ढेर सारा अँधेरा घिर आया है। वहाँ लकड़ियाँ, कंडियाँ रखी जाती हैं। प्रायः उन गँजी लकड़ियों पर बिल्ले-बिल्ली या तो गुर्राते हुए झगड़ते या बच्चे जन कर बिल्ली अपने पेट से आवाज निकाला करती। बिल्ली के बच्चे लकड़ियों पर झूलते हुए लुढ़का करते और बिल्ली सन्तुष्ट भाव से लेटी उन्हें देखा करती। दीदी मुझे लकड़ियाँ ले आने के लिए भेजती हैं। मैं सिहर उठता हूँ। मुझे बिल्ली की वे चमकती हरी आँखें उस अँधेरे में जड़ी लगती हैं। मैं तेजी से झपट कर एक लकड़ी खींच कर भागने की चेष्टा करता हूँ लेकिन वह उलझ कर रह जाती है और मैं चीख कर वापस भाग आता हूँ।—डरपोक कहीं का!!—दीदी झिड़कती हैं लेकिन दीदी को क्या मालुम कि जिस लकड़ी को मैंने खेंचा था उसे बिल्ली ने अपने पंजों से पकड़े रखा था।—झूठा!!

बा और माँ पूजा समाप्त कर आसन बिछा, लोटा-गिलास भर कर भोजन के लिए चौके की सीमा के बाहर बैठ जाते हैं। दीदी को भोजन बनाना आये, के लिए प्रायः साँझ को दीदी ही खाना बनाती हैं। माँ और दीदी पीछे खाना खाते हैं। इस समय तो बा और मैं ही खा रहे होते हैं। माँ रह-रह कर बताती जाती हैं। रान्नीघर की अकेली छोटी सी ढिबरी के नीचे बैठे हुए बा, माँ की हिलती-डुलती छायाएँ फर्श पर तथा दीवारों पर अनेक आकार ग्रहण कर लेती हैं। बा की नाक एक दीवार से चल कर दूसरी पर पहुँच कर कितनी अकेली, निरीह लगने लगती। बा की वह बेचारी अकेली नाक!! तभी सहसा माँ का झुका सिर लँबोतरा हो जाता है। कभी कोई हाथ साँप की तरह रेंगता हुआ दीवार से नीचे फर्श पर उतरता होता या फिर काँटे वाले जानवर की शकलें बनती-मिटतीं। दीवार पर नाचती ये छायाएँ मुझे रात में याद आतीं और अपने चारों ओर उनसे घिरा मैं दीदी से सट जाता रहा हूँ। लगता कि प्रकाश एक थैला है जिसे ये बा-माँ क्यों नहीं इतना झाड़ते कि इसमें से ढेर सारा प्रकाश आटे की तरह बरस पड़े और घर में दिन ही दिन हो जाए। ओह, प्रकाश!!

खाना खाकर दीदी और माँ बासन-चौका करतीं। नींद के मारे मैं झुका पड़ता हूँ—लेकिन इतने बड़े घर का बड़ा सा अँधेरा जैसे पास बैठा लगता। मैं दीदी और

माँ से सट कर बैठ जाता हूँ। पीठ पीछे घिरे अँधेरे की तरफ देखने का साहस नहीं होता जैसे-अँधेरा धीरे-धीरे बड़े चुपके से मेरी पीठ पर कुछ लिख रहा है या नाखून चुभा रहा है। दीदी और माँ जब ढिबरी लेकर दूसरे कमरे की तरफ चलती होतीं, मैं दोनों की टाँगों में दुबका चल रहा होता हूँ। दोनों कानों को कस कर बन्द कर रखा है वर्ना अभी इन दीवारों को चीर कर अँधेरा "हूअ्" करके चौंका देगा। और दिल धकधक करने लगता है।

रात। गर्मियों की रात है। खूब खुला हुआ आकाश तना हुआ है। सारा मुहल्ला, सेरी ऊँघ रहे हैं। दूर यति महाराज का बड़ा सा पीपल दक्षिण की ओर हरहरा रहा है। उत्तर में सेठ केसरी मल जी का विशाल नीम गंभीर आचार के साथ हिल रहा होता है। सप्तर्षि ठीक नीम के ऊपर चमक रहे हैं। आकाशगंगा आकाश को बीचोबीच से काटते हुए फेन की नहर सी खिंची है। उजली रातों में सेरी, मकान सब दूध से धुल जाते हैं लेकिन कृष्ण पक्ष में अजीब नीलिमा होती है। अभी-अभी गामोठ महाराज अपने चबूतरे पर टहलते हुए रुद्र-पाठ समाप्त कर सोये हैं। समी-साँझ से वे टहलते हुए आधी रात तक जोर-जोर से सस्वर जाने क्या-क्या पाठ किया करते हैं। कहीं दूर पर पहरेदार 'जागते रहो' कहकर अंधकार जगा रहा होता है। कैसा डर लगता है जब वह कहीं पास में आकर टेरता है तो। मैं तकिये में सिर घुसा कानों में अँगुली डाल 'राम-राम' जपते हुए पहरेदार के जोर से 'जागते रहो' पर बेंत की तरह काँप उठता हूँ। नुक्कड़ वाली म्युनीसीपाल्टी की लालटेन आधी रात होने पर रोज भभकती है। इस समय भी वह भभक रही है। केवल लोगों के खुर्राटे, खाँसने या पानी पीने के शब्द ही बराबर मुझे सुनायी

पड़ते हैं। मैं कसकर पलकों में नींद पकड़ने की चेष्टा करता हूँ कि तभी कहीं दो बिल्लियाँ किसी खपरैल पर गुर्राती हुई जोरों पर लड़ने लगती हैं। कोई बच्चा रोने लगता है। और मैं डर कर दीदी की चादर में घुस जाता हूँ।

—क्या है रे ?

—दीदी !

और मेरी घिग्घी बँधी होती है।

—क्या बात है ?

मेरी फटी-फटी आँखें देखकर दीदी अपने से सटा लेती हैं।

—डर गया क्या ?

—नींद नहीं आती दीदी !

और मैं दीदी के हाथ पर सिर रख सोने को होता हूँ। कुछ ही देर में दीदी का हाथ मेरे सिर नीचे से निकल जाता है। वे करवट ले लेती हैं। और मैं फिर अकेला पड़ जाता हूँ। मेरे सामने रह-रह कर अवन्ती पगली नंग-धड़ंग हँसती हुई खड़ी हो जाती है। उसकी जाँघें घुटनों तक रगड़ खाती हैं। तिनका दाँतों में दबाये वह दिन भर सड़क पर घूमती है.....और हठात एक चीख मार कर अपने बालों को दोनों हाथों से खुजलाते हुए जोरों से थूकने लगती है तथा भद्दी गालियाँ देने लगती है।...शाम के समय लड़के सेरी में खेल रहे हैं। मैं बा के पास बैठा हुआ पराँच ले रहा हूँ...पचहत्तर, छहत्तर, सतहत्तर...और मुझे बुलाने के लिए नन्दन सीटी बजाता है। धीरे से खसकने के लिए जैसे ही हिलता हूँ कि ध्यानमग्न बैठे बा की लौह हथेली मेरा हाथ कस लेती है,

—कहाँ जा रहे हो ? कहीं नहीं जाना। हाँ, अब श्लोक बोलो।

और मैं बुरी से बुरी गाली मन में देता हुआ,

—शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं....'

और मैं लगभग चीखने लगता हूँ। डाँट पड़ती है,

—चीखो नहीं। हाँ अब स्तोत्र-पाठ शुरू करो।...

दूर दूर तक लड़कों के खेलने तथा मुझे बुलाती सीटियों की आवाज आती रहती है।....गामोठ महाराज ने अपने चबूतरे पर टहलते हुए 'शिव संकल्पमस्तु' जोर-जोर से शुरू कर दिया है....क्रमशः घिरते अँधेरे में सेरी डूब चुकी है।

तभी बा की खाँसी सुनायी देती है। वे सिरहाने रखी ताँबे की कलसी से पानी गटकाने लगते हैं। लगभग उसी समय पिता के जूतों की आहट होती है। रोज की तरह बा, पिताजी से पूछते होते हैं ,

—इच्छा ! ये रोज-रोज इत्ती-इत्ती रात तक कोठों पर बैठे रहना क्या कोई अच्छी बात है ? लोग नाम पर थूकते हैं।

पिता जी सदा की भाँति कोई उत्तर दिये बिना ही माँ के सिरहाने से चाभी निकाल दरवाजे का ताला खोलते होते हैं।

नींद, नीम सी काँपने लगती है।

हम जीना पर चढ़ रहे हैं ।

दिन दोपहर में भी ऊपर जाने में डर लगता है। जीना चढ़ते हुए सदा यह लगा है जैसे किसी खोह में चढ़ रहे हों। जीने के साथ ऊपर की खपरैल भी ऊपर चढ़ती लगती है। जहाँ से धूप की नीली रस्सियाँ-लटकी होतीं। सीढ़ियों पर धूप के गोल टुकड़े अशर्फियों से चमकते रहते। पड़ौसी की तरफ की जीने की दीवार से कान सटाकर सुनने पर अजीब गडमड आवाजें सुनायी पड़तीं। शहतीरों में ढेर सारी जंग खायी तलवारें विमन खुँसी हुई हैं। ऊपर जाना, सदा साह-सिकता लगी है। वहाँ आम की पाल रखी हुई है। घर के सब लोग सो रहे हैं। नन्दन दरवाजे के पास हौले से सीटी बजाता है। मैं दबे पाँव उठकर कुंडी खोल देता हूँ। पुराना भारी सा दरवाजा चरमराता है। हम दोनों आँखों में हँसते भी हैं तथा दरवाजे के इस चरमराने को कोसते भी हैं। नन्दन भीतर आ जाता है। पंजों की गुद्दियों पर चल कर जीने से ऊपर जाते हैं। ऊपर, जहाँ कि पचीसों रन्ध्रों से दोपहर, धूप की नीली रस्सियों में लटकी होती है तथा पचीसों सुनहरी बिंदियों में फर्श पर छिटके हुए देख रही होती है। हमें

सहसा आया देख एकान्त दीवारें, उपेक्षित सामान, टूटी छतरियाँ, सूखी पीली घास, धूल-धूसरित बन्द खिड़कियाँ सब देखने लगते हैं। हम किसी की चिन्ता किये बिना उस कमरे की तरफ बढ़ते हैं जहाँ घास में पाल रखी गयी है। नाक में आम गमकने लगा है। और हम लोग एक..दो...दस...पन्द्रह.. ढेर से आम खाते हैं। गुठलियाँ वहीं घास में छुपा देते हैं तथा घास से ही अपनी पीली-पीली अँगुलियाँ पोंछ लेते हैं। आम की डकार से नाक तक भर उठती है। वापस ऊपर के उस बड़े कमरे में आते हैं जहाँ लकड़ी के बड़े-बड़े बक्से रखे हैं जिनमें लम्बी तालियों से खुलने वाले बेडौल ताले लगे हैं। आल्मारियाँ हैं जिनमें चीजों से अधिक धूल भरी रहती है। एक किताब तथा कुछ फोटो लेकर हम लोग एक बक्से पर बैठ जाते हैं। नन्दन चूँकि मुझसे बड़ा है वह अक्षरों को मिला-मिलाकर पढ़ना जानता है और वह जिस तरह से पढ़ता है मैं उसे गर्व तथा प्रशंसा से देखता हूँ। किताब हाथ में ले वह पढ़ता है,

——रा...नी——रानी कौश...कौशल्या—रानी कौशल्या के पु...त्र—रानी कौशल्या के पुत्र का नाम राम...चं...द्र——रानी कौशल्या के पुत्र का नाम रामचन्द्र... और बीच ही में पढ़ना छोड़ कर हम फोटो देखने लगते हैं। बरसाती पानी के गोल दाग वाले फीके-फीके फोटो पचीसों बार देखने पर भी सदा बा का चित्र ही हम पहचान पाते हैं।...कोई ग्रूप फोटोग्राफ है। जिसमें बीच में बा बैठे हैं। उनके आस पास बैठे हुओं में नन्दन का कहना है कि एक तरफ मेरे पिताजी हैं तथा दूसरी तरफ चाचाजी हैं। पीछे कुछ औरतें खड़ी हैं तथा बा के पैरों के पास नीचे धारीदार दरी पर कोई बड़ा सा लड़का बैठा है। दीदी कहती हैं कि ये हमारे सब से छोटे चाचा थे, जो अब नहीं रहे। उन्हीं औरतों में मेरी माँ भी हैं जिन पर बरसाती पानी खूब थक्का सा कत्थई घेरे में जमा हो गया है इसलिए मैं कभी भी अपनी माँ को नहीं देख सका हूँ। कुछ ही देर में ये फोटो भी उबा देते हैं। एक गठरी खोलते हैं जिसका कपड़ा, खोलते में कागज की तरह फट जाता है। उसमें कामदार लाल-नीली पन्नीवाले झालरदार हाथपंखे हैं। हल्की-हल्की आवाज करते हुए पंखे हिलाते फर्श पर गिरी कबूतरों की बीटों को, धूल को, खालीपन को देखने लगते हैं।....खूँटी पर एक बन्दूक टँगी हुई है जिसे दिवाली पर साफ किया जाता है तथा उसमें पोटास लोहे की छड़ से ठूँस-ठूँस कर भरी जाती है। यह सारा काम नन्दन के मँझले भाई किया करते हैं जिन्हें हम रमण-दादा कहते हैं। जिस समय रमण-दादा मुँह पीछे कर आकाश में उठी बन्दूक का घोड़ा दाबते हैं उस समय सारे बच्चे आँखें तथा

कान बन्द कर जोर के एक धमाके की प्रतीक्षा में अपने पेट तक को सिकोड़े होते हैं ।

—नन्दन ! एक दिन इन बक्सों को खोलकर देखा जाए ।

—इसमें क्या रखा है । चाभी ले आना—बस !!

—लेकिन चाभी कहाँ मिलेगी ?

—तुम्हारे बा के भंडारे में रहती है ।

और नन्दन ने आखिरकार काँख-कूँख कर एक बक्स खोल ही दिया । बक्से में से कैसी सीलन की गंध आयी । कितने ढेर सारे लँहगे, लुगड़े, सड़ियाँ, गोटा-किनारियाँ, कामदार टोपियाँ...और मुझे अपनी वह जामुनी कामदार टोपी दिखी जिसे पिछले बरस चाचाजी ने हमेशा के लिए उतरवा दी थी । नन्दन और मैं एक-एक टोपी पहन लेते हैं ।....इतनी चीजें ? लेकिन हमारा ध्यान सब से अधिक पीतल के खिलौनों की ओर जाता है । अभी हम सारी चीजें निकाल भी नहीं पाये हैं कि हम दोनों को अनुभव होता है कि किसी ने बड़े जोरों से कान उमेठ दिये हैं । हम लगभग टँगने-टँगने हो उठते हैं,

वे बा थे ।

मैं अपने चाचाजी के साथ बाजार गया हुआ हूँ। सवेरे मेरे कान की मुरकियाँ और मेरी रंगीन टोपी हमेशा के लिए मुझसे ले ली गयी हैं। शायद पहली बार अँग्रेजी मशीन से मेरे बाल काटे जाते हैं। नारायण नाई अँग्रेजी मशीन से बाल बनाते समय पूरे वक्त बा की ओर देखता रहा जैसे कि क्या अब इस घर में भी 'इंग्रेजी फेसन' आ रही है? मुझे नारायण नाई से बड़ी चिढ़ है। वह कलम काटते समय बड़ी देर तक कनपटी के पास अपने अँगूठे से पानी मलता रहता है तथा बा से दुनिया-जहान के सवाल करता होता कि छोटे भय्या (अर्थात मेरी चाचा जी) अब कहाँ हैं? कित्ते बड़े अफसर हो गये हैं?—हाँ, और क्या, पहले जिनकी वह दाढ़ी बनाया करता था अब वे अपने हाथों से दाढ़ी बनाते हैं। साबुन लगाते हैं। नारायण नाई की एक आदत और भी बहुत बुरी है कि वह बाल काटने के बाद आम की गुठली की खोखल सिर पर रगड़ता है तथा उसके बाद अँगुलियों में एक खास ढंग से बजाकर जब उसे कपड़े पर उलटता है तो उसमें से खूब सारा सफेद बूरा सा जाने क्या गिरता है। जब वह गर्दन के पास उस्तरा लगाता है उस समय तक गर्दन दर्द करने लगती है लेकिन

उस्तरा छूने से अजीब गुदगुदी छूटती है। नारायण नाई इतने धीमे-धीमे अपना काम करता है कि चिढ़ छूटने लगती है। हमारे गिलास से अपनी कटोरी में पानी डालने के लिए भी उसे चश्मे की जरूरत होती है। उसके बाद किस-किस की शादी में क्या-क्या खाने बने थे, कित्ता-कित्ता दहेज मिला था, कैसी-कैसी बहू आयी थी। कृपाशंकर फोटोग्राफर के घर में फाके होते थे लेकिन अब दुमंजिला मकान कहाँ से बन रहा है ? उसके घर में गड़े हुए धन का चरवा निकला —और क्या, गाड़ा किसी ने, मिला इस सूम को।

सुना, यति महाराज ने घासीराम दर्जी की विधवा को घर में बिठाल लिया है—राम, राम कैसा कलजुग आ गया है।

और नारायण नाई घर भर के लोगों के बाल बनाकर पीतल की चादर जड़ी पेटी बगल में दबाये दो घंटे बाद जाता है।

मैं चाचाजी के साथ बाजार जा रहा होता हूँ। 'मीरकलाँ' वाले बड़े शाही दरवाजे के पास 'बोरा बाखल' है वहीं बम्बई वाले एक बोहरे की दूकान है। लकदक करती उस दूकान पर खड़ा कर चाचाजी कहते हैं कि जो चाहिए, ले लो।—और मैं देखता ही रह जाता हूँ—

कुत्ता, खरगोश, टार्च, स्टोव, घड़ियाँ..और मैं एक छोटा कप-तश्तरी उठा लेता हूँ। क्योंकि ठीक ऐसा ही बड़ा कप-तश्तरी चाचाजी के लिए है जिसमें वे चाय पीते हैं...वैसा कप-तश्तरी किसी के पास नहीं है, किसी के यहाँ नहीं हैं...चीनी के।...मैं घर आकर चाचाजी के कप के पास अपना कप भी स्टेन्ड में टाँग देता हूँ।...बस एक बात का बराबर दुःख लगता है कि कप-तश्तरी के बाद भी मुझे उसमें पीने के लिए दूध ही दिया जाता है, चाय नहीं।

अँग्रेजी कटे बाल। कानों के पीछे सुरसुराहट होती है। मैं नन्दन को दिखाता

हूँ और मुझे कितनी प्रसन्नता होती है कि कम से कम एक बात में वह भी मुझे गर्व और प्रशंसा से देखता है। जिन दिनों मनौती वाले बाल थे उन दिनों नन्दन मुझे 'लड़की' कह कर चिढ़ाया करता था।

एक स्मृति आती है—कहीं गये हुए हैं। एक बड़ी सी नदी है। जिसमें खूब नावें हैं। लोग ही लोग है जैसे कोई जात्रा भरी हो, मेला लगा हो। पहाड़ी पर कोई मन्दिर है। पिताजी मुझे उठाये ह। साथ में नन्दन का परिवार भी है। पत्थर की गुमटियों वाला एक घाट है। नाई मेरे बाल काटता है। पहली बार सिर मे कितनी हवा अनुभव होती है ? उसके बाद याद नहीं आता...लेकिन फिर नाव में बैठना याद आता है...यह मुझे इसलिए याद है कि उसके बाद से फिर कभी उतने बड़े बाल नहीं रखने पड़े।

पानी बरस रहा है। धाराधर। मौसम खूब ठण्डा हो आया है। हमारे घर के आगे वाले बड़े कमरे को 'कचहरी' कहा जाता है। माँ ने दीदी के पूछने पर बताया था कि इस कमरे में हमारे पूर्वज बैठकर जमींदारी की वसूल-बाकलात किया करते थे, आसामियों से मिलते थे, लेन-देन होता था और वे ही इसे 'कचहरी' कहते थे। कचहरी में हमेशा एक बड़ी सी लाल जाजम बिछी रहती थी। इसके अलावा कोने में एक गद्दा, दो गाव तकिये रहते। लेकिन मैंने कभी किसी आसामी को नहीं देखा। कचहरी वाले इस कमरे के बीच में एक बड़ा सा दरवाजा था तथा दो आदमकद बड़ी खिड़कियाँ दरवाजे के दोनों ओर थी। उत्तर ओर की दीवार में एक खिड़की उतनी ही बड़ी और थी जो नेरे (गैरेज) में खुलती थी। नेरे के उधर नन्दन का घर था। नेरे में गाँव से लकड़ियों या घास की गाड़ियाँ आतीं या गायें बँधी रहती। चूँकि हमारे परिवार के अवनति के दिन थे इसलिए नन्दन के घर की गाय-भैंसें ही बँधी रहतीं। नेरे की भीतरी दीवार के पास एक पुरानी टमटम थी जिसे मैंने कभी भी चलते नहीं देखा था। दोपहरी में कभी-कभी नन्दन और मैं उसकी चमड़े की सीटों पर टाँगे फैला बैठ जाते थे या फिर उसमें पीछे

लगे शीशे पर अपनी थूथें रगड़ते हुए आवाजें निकाला करते थे। नेरे का बड़ा भारी लकड़ी का दरवाजा गाड़ियों के आने पर ही खुलता या ग्वाला गाय-भैंसें जाने-ले आने के वक्त खोलता बाकी समय बन्द रहता लेकिन उसकी एक खिड़की इधर से उधर आने-जाने वालों के लिए दिन भर खुलती-बन्द होती थी।

कचहरी वाले कमरे की छत लकड़ी की थी जिसमें पाँच रंगीन शीशे के हण्डे लगे थे। छत की लकड़ी तथा दीवार के जोड़ के वहाँ तस्वीरें चारों तरफ लगी थीं। जिनमें नवाबों, बेगमों, दिल्ली दरबार, रवि वर्मा आदि की थीं। कुछ नाथद्वारा शैली के वैष्णव-चित्र थे। दक्षिण वाली दीवार में बीचोबीच बा का वह बड़ा सा भंडारा था जिसकी चौखट तथा पल्लों पर रंगीन पत्तियाँ लगी थीं और जिसमें से इत्र की सुगन्ध आया करती थी। बा उसी में रुपये-पैसे रखा करते थे। कभी किसी दिन बा और माँ हम लोगों को भी बाहर भगाकर भंडारा खोलकर एक काले पत्थर पर घंटों रुपये बजाते रहते। दीदी और मैं दरवाजों में फाँक खोजते चक्कर काटते ताकि भीतर बा-माँ क्या करते है, देख सकें। लेकिन हार कर तब दरवाजे से कान सटा रुपयों की लगातार खनकार सुनते होते। बा के इस भंडारे के बारे में जीवन भर मेरी उत्सुकता रही इसीलिए कभी इलायची के बहाने या कभी मुनक्का के लिए उनसे खुलवाता रहता था। मुझे उस दिन बड़ा आश्चर्य हुआ जब देखा कि उस भंडारे में भीतर भी जाया जा सकता था। एक दिन बा उसी में बैठे हुए पीले रुपये (अशर्फी) गिन रहे थे। उनके उस भंडारे में कई गुप्तियाँ तथा एकाध पिस्तौल भी थी।

कचहरी की दक्षिण वाली खिड़की में दीदी और मैं 'घर बनाने' का खेल खेलते रहे है। इस समय भी जब कि धाराधर वृष्टि हो रही है एक लाल कपड़ा तान कर तथा दरी का एक पुराना टुकड़ा बिछाकर वृष्टि देख रहे हैं। खिड़की के निचले हिस्से में पटिया लगी है लेकिन बाकी की खुली है। पटिया पर झुके हुए नेवती का गिरना देख रहे हैं। ढेरों चीटे निकल-निकल कर भीगती दीवारों पर चढ़ते हुए कही जाने की चेष्टा कर रहे हैं। वीरबहूटियाँ रेंगते हुए जा रही हैं। कच्चे चबूतरे पर नेवती के पानी से एक लम्बी नहर सी बन गयी है। जिसमें चबूतरे के भीतर के कंकड़-पत्थर भी निकल आये हैं। कभी कोई शैतान हवा नेवती को हिला जाती है तब नेवती 'पड़-पड़' करती इधर-उधर हो जाती है वर्ना गाय के थन से जैसे धारा गिर रही हो। वर्षा का एक शोर होता है जो देखने वाले के भीतर भी उतना ही भर उठता है जितना कि कोई उसे डूब और गाय बन कर कहीं झेल रहा होता है। हम दोनों अपनी एकान्त आँखों से नेवती के पानी

का गिरना तथा उसका छितराना बराबर देख रहे हैं। सामने की खपरैल पर तेज हवा से पानी कैसा फुहार बनकर नील धुएँ सा छितरा जाता है जैसे हवा झाड़ू हो और पानी का कूड़ा खपरैलों पर से साफ किया जा रहा हो। खपरैल की शहतीर में वर्षा से बचता एक भीगा कबूतर पंजे और पर समेटे बैठा पानी थमने की प्रतीक्षा में है। पानी का एक दौंगरा आता है और मुँह-नाक में ठण्डी फुहार ही फुहार भर उठती है। दीदी पल्लू से मुँह पोंछ लेती हैं लेकिन लट गीली होकर कान के पास लम्बी हो जाती है। इस प्रकार भीग कर प्रायः दीदी के ओठ भीगी जामुन से हो जाते हैं। हमारे भीगे मुँह को छूती हुई हवा भीतर तक धँस जाती है। खूब ठण्ढा सा लगने लगता है। दीदी हथेलियों से कान बजाने लगती हैं। मैं भी वैसा ही करता हूँ। और जैसे शोर का एक हिलता भारी पर्दा कान के पास आ जाता है और चला जाता है—आता है और चला जाता है। कान के पास वर्षा 'झिपझिप-झिपझिप' करती बजने लगती है। दीदी उसी लय में गाने लगती हैं। मैं मात्र दीदी की नकल में टाँगे हिलाते हुए शोर करने लगता हूँ—कैसा चारों ओर गान करता भीगा नीला शोर बरस रहा होता है। मालवी श्रावण घन, श्यामा गाय की पीठ की तरह चिकने गोल-गोल बरस रहे होते हैं। यति महाराज के पीपल की फुनगी पर कोई चील बार-बार बैठने की चेष्टा करती है और फुनगी झुक-झुक पड़ती है, चील पर तौल कर उड़ने-उड़ने होती रहती है।

—दीदी ! नाव चलाएँ ?

और हम लोग सोत्साह नाव बनाने लगते है। मुझे नाव क्या, टोपी तक बनानी नहीं आती। दीदी की अनुकम्पा पर रहना पड़ता है। खिड़की से मैं पहले नीचे उतरता हूँ। चीटों की एक लम्बी कतार सहसा अपने मार्ग में बाधक एक पैर को देख सम्मिलित हमला कर देती है। मैं पैर झटकारता हूँ लेकिन दो-एक फिर भी काट ही खाते हैं। गीली धरती पर नंगा पैर पड़ते ही कैसा झनझना जाता है।

यहाँ से वहाँ तक नेवती के गिरने से एक लम्बी नहर बन गयी है। उसमें एक छोटा सा प्रवाह भी आ गया है। अतिरिक्त जल चबूतरे पर से फिसल-फिसल कर रपट रहा है। गोबर लिपे चबूतरे में सोने के चपटे तारों की तरह पीली घास के टुकड़े चमक रहे हैं। चबूतरे के रपटते जल में केंचुल अपनी यात्राओं पर निकले हुए हैं। बूँदों के छल्ले रपटते जल में डुब-डुब करते बरस रहे हैं। पानी के छोटे-छोटे गुम्बद !! हमारी छोटी सी नहर का प्रवाह बड़े चबूतरे से सटे छोटे चबूतरे की ओर जाता है उपरान्त नेरे के बड़े दरवाजे के सामने नेरे

के भीतर से आये हुए गँदेले पानी के ढेर में अंतिम रूप से प्रपात बनकर शेष हो जाता है। अतएव गँदेले पानी का वह ढेर—वह अंतिम झील है जहाँ हमारी नहर गिरती है। हाथों में एक-एक खपच्ची लिये हम अपनी एक-एक नाव दक्षिणी सिरे पर छोड़ते हैं। नहर के एक ओर अर्थात घर की ओर दीदी हैं तथा दूसरी ओर अर्थात बाहर की ओर मैं हूँ। हमारी नावों को कई संकट हैं—बूँदें, नेवती का जल तथा नहर का रपटता अतिरिक्त जल। चूँकि मैं बाहर की तरफ के किनारे पर हूं इसलिए मुझ पर दायित्व भी अधिक है। एक प्रकार से मैं दीदी की नाव का भी वास्तविक अभिभावक हूँ। मैंने दीदी को नाव आगे करने दी है। कागज की स्याही से नहर का पानी नीला हो जाता है। चीटों की एक लम्बी कतार दीवार से सटी, गुजरती हुई हमें देख रही होती है। चूँकि वृष्टि खूब तेज हुई है इसलिए नहर के कच्चे कगारे नावों के लिए काफी संकटपूर्ण हो गये है। जरा सी असावधानी से कगार टूट कर नाव को डुबा सकती है। रेंगते घुटनों में गीली मिट्टी चिपक गयी है लेकिन हमारा ध्यान इस समय सिर्फ नावों पर है।

—दीदी ! तुम्हारी नाव कहाँ जा रही है ?

—यहाँ से नदी में जाएगी और नदी से समुद्र में जाएगी।

—समुद्र क्या ?

—समुद्र नहीं मालूम ? अरे, समुद्र . . . समुद्र होता है।

मुझे मानना पड़ता है कि जरूर समुद्र, समुद्र होता होगा तभी तो दीदी अपनी नाव वहाँ ले जाना चाहती है। लेकिन समुद्र क्या होता है ? . . . लेकिन मैं अपनी नाव कहाँ ले जा रहा हूँ ? . . . सम्प्रति यह नहर ही हमारे लिए महत्वपूर्ण है। खपच्ची से बूँदों और धारा से नाव को बचाना इस समय जरूरी है। . . . सच, दीदी से कहीं अधिक मुझे उनकी नाव के हठात गल जाने का दुःख हुआ। उनकी नाव का शायद कहीं जोड़ खुल गया और बेचारी नाव कैसी विवश, भरते जल के साथ नीचे बैठती चली गयी। मुझे याद है डूबती हुई वह नाव मुझे देख रही थी साथ ही मेरी अभिभावकता पर मुझे धिक्कार भी रही थी। वह नेवती के जल की एक बड़ी सी जल-भरी पुतली की तरह लग रही थी। . . . मुझे अब कोई उत्साह नहीं रह गया था। . . . रुककर दीदी से सहानुभूति प्रकट करना चाहता हूँ लेकिन वह निरी भावुकता होती क्योंकि नहर में अब अधिक प्रवाह आ गया था। चबूतरा यहीं पर ढलान लेता है। . . . नहर के नहाये हुए कंकड़-पत्थर बरसती बूँदों को जैसे मुँह पर से हटाते हुए मेरी नौका की साहसिक यात्रा देखना चाहते थे। कगारें ऊँची हो गयी थीं साथ ही उनमें इतनी कचान आ गयी थी कि आवारा चीटों

के गश्त करने पर मुझे गुस्सा आ रहा था क्योंकि कगार टूट सकती थी।... मेरी सारी चेतना, खपच्ची पकड़ी अँगुलियों की कोरों में आ बैठी थी। सामने ही प्रपात आ गया था। नाव उस प्रपात में घुसने के पूर्व एक बार फाख्ता की तरह कैसी प्रसन्न होकर थिरकी। अगर फाख्ता की तरह पंख भी होते तो निश्चय ही वह पंख भी फड़फड़ाती।... मैं गंभीरतम संकट के क्षण का अनुभव कर ले जाता हूँ... हाथों में विवश खपच्ची, आर्तनाद में ऊँची उठ जाती है। बन्द आँखें किये मैं केवल नौका को ही नहीं वरन अपने को भी उस प्रपात में गिर जाने दे रहा हूँ और... सर्वनाश !!

—अरे बुद्धू ! नाव तो तिर रही है।

दीदी मेरी इस समर्पण-मुद्रा से समझ ले जाती हैं कि मैं कितना अवश हो गया हूँ। दीदी का वाक्य मुझे सपने में पुकारे जाने की तरह लग रहा है। मैं आँखें खोलना चाहता हूँ लेकिन मैं अभी भी प्रपात से नीचे गिरते जाने के बोध से मुक्त नहीं हुआ हूँ। बन्द आँखों में अपने पैरों के नीचे सनातन पाताल खुला पाता हूँ जिसमें आगे-आगे सफेद खरगोश सी मेरी नाव डूबती जा रही है और मैं मौन चीखों से उसे पुकारता हुआ टूट रहा हूँ नीचे की ओर। हमे क्रमशः खोखला अँधेरा चारों ओर से घेरता जाता है। आँखों में, रन्ध्रों में, शिराओं में वह काला खोखलापन समाता जा रहा है। उस सनातन पाताल के अँधेरेपन में मैं और मेरी नौका टूटते हुए मौन की तरह अनभिज्ञित विलीन हो रहे थे।

—अरे मूर्ख ! आँख खोल नाव सड़क की नाली की तरफ बढ रही है... और मुक्ति !!

कौन सी दिशाओं से जीवन की यह आदित्यवाणी फूटी ? और इस बार जैसे मेरे और मेरी नौका के इन्द्रधनुष चमकदार पंख निकल आये थे और हम रंगीन मछलियों की भाँति ऊपर, ऊपर जल के ऊपरी अंतिम स्तर तक, जहाँ जल पर हवा किल्लोलती है, जहाँ तट की वंशी सुनायी देती है, जहाँ नील आकाश नील फूलों सा झरता रहता है... तेज-तेज संतरित होते हैं। अंधकार काले से नील; नील से श्याम; श्याम से मंद, मन्द से उज्ज्वल और उपरान्त धूपगोरा खिल उठता है। मैं और मेरी नाव सनातन पाताल पर विजय प्राप्त कर धूप के पास, आकाश के पास, श्रावण घनों के पास, ठण्डी

हवा के पास लौट आये थे।...और मैं बैंड मास्टर की तरह उठी हुई अपनी छड़ी नाव की ओर बढ़ाता हूँ कि जाने कब से भीगता एक मेंढक टर्राता हुआ इस पार से उस पार जाने के प्रयास में मेरी नाव पर अपना बदसूरत बोझ डाल देता है, फलस्वरूप नाव एक घायल पक्षी की भाँति क्षणान्त में निर्जीव होकर पानी में छितरा जाती है। नेरे के तेज जल में बह कर आयी हुई आम की गुठलियाँ, जो घूमते द्वीपों सी चल कर यहाँ तक आयी थी, साक्षी हैं कि वह मेंढक इतना बदसूरत था कि नौका उसका स्पर्श किसी भी प्रकार अपने गौर तन पर सहन नहीं कर सकती थी।...मैं अवाक हो जाता हूँ...सड़क, प्रपात, चबूतरा, नहर, गुठलियों के द्वीप...सब घूम जाते है...मेरे दिमाग में ढेर सारा पानी खलखल करता बहने लगता है...दीदी, साड़ी का एक घूमता बगूला बन जाती हैं और मैं भाग गये मेंढक के स्थान पर पानी पीटने लगता हूँ...छप् छप् छप् छप्। पानी, पिटने रहने के अतिरिक्त और क्या कर सकता है? वह पिट रहा होता है। जो बात मुझे सबसे अधिक दुःख-दायी लग रही है वह यह कि कितना ही पानी पीटूँ अपनी नाव को अब कभी वापस न कर सकूँगा। और मैं असह्य पीड़ा में रो पड़ना चाहता हूँ।

दीदी इस बीच फिर दो नावों को नहर में डालकर पुकार रही होती है,

—अच्छा, अब आओ।

और पानी का तेज प्रवाह मेरी नाव को उसी तरह घसीट कर दूर ले जा रहा था जैसे म्यूनीसीपाल्टी वाले मरे कुत्तों को घसीटते हुए ले जाते है।

एक अन्य श्रावण दिन। पानी के बुलबुले उठ रहे है। पूरा चबूतरा भर उठा है। वैसे तो बहुत बुलबुले बनते हैं लेकिन कुछ ही बड़ी सी फूली आँख की तरह निकल आते हैं और उपरान्त उनकी झीनी-पतली पारदर्शी गुम्बद आकार की वह देह, पानी पर फिसलती यात्रा पर निकल पड़ती है। किसी एक कोण पर मटमैले भीगे प्रकाश का मटमैला भीगा इन्द्रधनुष भी झलक जाता है। चबूतरे पर बड़े-छोटे पारदर्शी गुप्बद गर्व से यात्रित होते हैं और कभी इधर, कभी उधर ये गुम्बद मौन

आवाजों में टूट कर अपनी यात्राएँ अधूरी छोड़ जाने कहाँ चले जाते हैं। कहना चाहिए, उड़ जाते हैं।...दीदी कहती हैं कि जब बुलबुले उठते हैं तो खूब पानी आता है।...काले-काले मेघ यति महाराज के पीपल पर जैसे पैर टिका कर खड़े हो जाते हैं। वर्षा उफनाने लगती है। वर्षा से अधिक मेघों का भीगा उजलापन अपनी नीलिमा में भर उठता है। सारा मुहल्ला मकान, सेरी ऐसे लगते है जैसे जल के अन्दर कस्बा बसा हुआ हो। प्रायः इस तरह के मौसम में माँ चीले या पकौड़ियाँ बनाती हैं। रान्नीघर कहीं-कहीं टपकता है। उनके नीचे बर्तन रख दिये जाते हैं। उन खाली बर्तनों में गिरती बूँदें पहले तो बर्तनों को बजा जाती हैं, उपरान्त बिछल जाती हैं। उसके बाद पट्-पट् आवाज करती बूँदों से बर्तन भरने लगते हैं। बरसाती पानी में एक अजीब ठण्डा पुखराजपन होता है और वही चीज उसे दूसरे जलों से पृथक भी करता है। बिजली बहुत सारी तो क्षपरैल के ऊपर सपाटे मारते गुजर जाती है लेकिन थोड़ी सी किसी रन्ध्र से नीचे आ जाती है और सब दिप उठता है। उसके बाद ही मेघ गरजते हुए आकाश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक धड़धड़ाते दौड़ जाते हैं जैसे बिजली का पीछा कर रहे हों। वह गर्जन दीवारों, बर्तनों में जैसे धँस जाती है। दीवारें बैलों की तरह कैसी मौन भीगती खड़ी रहती हैं। कम्बल ओढ़ कर आँच के सामने बैठे हुए हम लोग माँ का पकौड़ियाँ बनाना देख रहे होते है। तेज हवा दरवाजों को झँझोड़ती दरारों में से सूँऽऽऊँ करती दीवारों से टकरा गोल-गोल घूमने लगती है। दीया विनम्र काँप उठता है। उसकी लौ के झुकने के साथ हमारी छायाएँ भी झुक पड़ती हैं। और माँ मुझे छायाएं देखने से मना करती है। मैं डरी-फटी आँखों से फिर भी देखता होता हूँ और दीदी मेरी आँखों पर हाथ रख देती है।

चारों ओर अँधेरा घुप्प। दीया जाने कब का बढ़ाया जा चुका है। वा अपने बिस्तरे पर एक तरफ लेटे हैं। पिताजी बाहर कचहरी में ही सोते हैं। माँ के दोनों ओर दीदी और मैं लेटे हुए कहानी सुन रहे हैं। दीदी हामी भरती जा रही हैं। अँधेरे के प्रकाश में आभास भर है कि हम हैं तथा आभास मात्र में हमारे निकट कुछ

और भी हैं। अँधेरे में विशेष रूप से आवाजें, सेतु होती हैं जो हमें जोड़ती हैं, तथा हमारे होने के विश्वास को मूर्त्त किये रहती हैं। जब कभी माँ, दीदी की ओर मुँह करके कहानी सुनाने लगती हैं मैं अपने हाथ से उनका मुँह अपनी तरफ कर लेता हूँ। इस पर दीदी झल्ला जाती हैं कि कितनी देर से माँ ने उनकी तरफ मुँह ही नहीं किया। यह व्यतिक्रम कथा में कोई बाधक नहीं बनता... राजकुमारी के सोने के बाल थे। जब सोने के बाल थे तब निश्चय ही हीरे की आँखें होंगी। और जब वह राजकुमारी उस राजकुमार को मिल सकती है तो क्या कभी मुझे नहीं मिल सकती ? केवल नाव लेकर जाना होगा। लेकिन नाव...??

दीदी पूछती हैं,

—फिर क्या हुआ माँ ?

—उसके बाद राजकुमार को रास्ते में बड़े-बड़े समुद्र मिले...

मुझे सोच हो आता है कि ऐसी नाव कहाँ मिले जिस पर बैठकर समुद्र तक जाया जाए। समुद्र का पता कैसे लगेगा ? ठीक है, दीदी अपनी नाव समुद्र में ले जाने वाली थीं। उन्हें मालूम ही होगा... उसके बाद... लेकिन नाव ??... सामने के उजालदान से छत की शहतीरें रहस्यमय आभासित लग रही हैं।... छत, झील बन जाती है। शहतीरें सीढ़ियाँ। और ये दोनों चीजें इतनी दूर, इतनी गहराई पर लगती हैं कि उन सीढ़ियों पर अनेक परियों के साथ राजकुमारी झील नहाने के लिए आयी हुई दिखने लगती है... लेकिन माँ तो कह रही थीं कि राजकुमारी समुद्र... तो क्या झील ही समुद्र होती है...?? ...तभी एक सीढ़ी पर एक साँप राजकुमारी को काटने के लिए बढ़ता है... मैं चीख पड़ता हूँ...

—साँप !! साँप !! बचाओ राजकुमारी को...।

माँ और दीदी चौक कर खड़े हो जाते हैं। बा जाग जाते हैं। दीया बाल दिया जाता है। 'कहाँ है ?' 'किधर देखा ?' प्रश्नों से मुझे चेत होता है। छतवाली झील, शहतीरों की सीढ़ियाँ जाने कहाँ चली जाती हैं। शहतीर में एक जगह जाने कब का खोंसा हुआ मोरपंख हवा में हिल रहा था। बा इस बीच कपास की एक डंडी लेकर मंत्र पढ़ने बैठ जाते हैं। उन्हें साँप पकड़ने का मंत्र आता है। माँ मुझे झकझोर कर पूछती हैं कि साँप कहाँ देखा ? लेकिन मैं अभी भी छत को देख रहा होता हूँ। जहाँ मोर पंख हिल रहा है।

—नींद में डर गया शायद।

और माँ अपने से सटाकर सुलाने लगती हैं। दीदी फिर पूछती हैं,

—आगे क्या हुआ माँ !

—तेग सिर ।

और डाँट खाकर दीदी भी मुँह फेर लेती हैं ।

आम के पापड़ बनाये जा रहे हैं। नन्दन का परिवार बड़ा है। नन्दन की माँ है, दो भाभियाँ हैं, आयी-गयी और भी औरतें हैं इसलिए हमारी माँ हमारे पापड़ भी वहीं बनाती हैं। आम के ही नहीं मूँग और चने के भी, सिवैंया आदि सब कुछ नन्दन के घर ही बनता है। इसका कारण यह है कि माँ के लिए हमारा परिवार, भाई का परिवार है तथा नन्दन का परिवार उनकी बहन का परिवार है। नन्दन के पिता और मेरे पिता मामा-बुआ के भाई-भाई हैं। नन्दन के पिता को उनकी माँ बचपन ही में छोड़कर चल बसी थीं। चूंकि इन माँ का अपना कोई परिवार नहीं था। बचपन ही में विधवा हो गयी थीं, इसलिए नन्दन के पिता का लालन-पालन भी इन्हीं माँ ने किया था। जब हमारे परिवार पर आपत्ति आयी तो माँ हमारा घर देखने-सहेजने आ गयीं। चूंकि दोनों परिवार बिल्कुल पास-ही-पास में थे इसलिए माँ के लिए आसानी थी। अब नन्दन का परिवार भरा-पूरा हो गया था इसलिए उन्हें इन माँ की कोई विशेष आवश्यकता नहीं रह गयी थी अतएव वे अब हमारे घर ही में रहती थीं। आम के पापड़ बनाये जा रहे हैं। मुझे इस बात से चिढ़ होती कि हमारे घर क्यों नहीं पापड़ बनाये जाते ? नन्दन के ऊपर

वाले बड़े-से कमरे में आम की गंध-ही-गंध भरी पड़ी है। नन्दन और मैं आम की गुठलियाँ और छिलके उठा-उठाकर खिड़की से नीचे फेंकते जाते हैं जिन्हें गायें खा रही हैं। थालियों में घी लगाकर रस को फैलाने का काम काकीमाँ, अर्थात नन्दन की माँ ही करती हैं। वे इस बारे में किसी का विश्वास नहीं करती हैं। थोड़ी देर में जब रस थक्का जाता है तो उन्हें धूप में चटाइयों पर फैला दिया जाता है। और यह हम लोगों का काम है कि चिलचिलाती धूप में सूखते पापड़ों को चिड़ियों, कौवों से बचाएँ। हम दोनों बाँस लिये हुए आगे निकली खपरैल की छाया में बैठे हुए चुराया हुआ आम का पापड़ चोरी-चोरी खाते जा रहे हैं चूँकि काकीमाँ पापड़ों पर कड़ी निगरानी रखती हैं इसलिए नन्दन ने चुराने की एक खास कला का आविष्कार किया था। चटाइयों पर सूखते पापड़ों को बाहरी गोलाई की तरफ से चाकू से काटकर ऐसी सफाई से वह काटता था कि काकी माँ तमीज नहीं कर पाती थीं कि पापड़ छोटे भी हुए हैं। लेकिन नन्दन अपनी माँ के सामने ही जब कोई छोटा पापड़ उठाकर खाने लगता तो वे उसे बरजतीं जरूर लेकिन वह निडरता से उठा लेता। मुझे यह अच्छा लगता है।

—उदयन ! इस बार मैं पापड़ की थालियाँ लेने भीतर जा रहा हूँ। तुम वोऽऽ कोने वाला पापड़ उठा ले आना समझे ?

—नहीं, काकीमाँ डाटेंगी।

—अरे यार ! ऐसी डाँट की क्या परवाह है।

नन्दन उठकर भीतर जाता है और मैं उस कोने वाले पापड़ की तरफ बढ़ता हूँ। धूप में थालियाँ चमक रही हैं। गीले, कम सूखे, काफी सूखे पापड़ पीले, लाल, कत्थई, किशमिशी रंग में धूप में सूख रहे हैं। जैसे शहद सूख रहा हो। मैंने मुश्किल से अभी पापड़ उठाया ही है कि बड़ी भाभी देख लेती हैं और वे चीख पड़ती हैं,

—सासूजी ! पापड़।

और काकीमाँ चील की तरह झपटटा मारती मेरे हाथों से पापड़ छीन लेती है। कान उमेठ देती है। मैं सर्वहारा बना उपेक्षित, तिरस्कृत, अपमानित वहीं जड़ बना खड़ा रह जाता हूँ। पैरों में धूप काट रही है, सिर के बाल गरमाने लगे हैं, आँखें लहराने लगी हैं... लेकिन मैं जब स्वयं का ही सामना नहीं कर सकता तब भला इतनी अवमानना के बाद...??

रात भर सपने में आम के पापड़-ही-पापड़ नदी में बहते हुए, पेड़ों पर लटके हुए, आकाश में उड़ते हुए देखता हूँ। बादल घिर आते हैं और आम के पापड़ बरसने लगते हैं। मैं उन्हें उठा-उठाकर काकी माँ पर चिल्लाते हुए फेंकता हूँ,
——लो, ये पापड़——एक...दो...चार...सात...दस...लो, लो...।
और मैं नींद में सुबुकने लगता हूँ।

सिवैंयाँ बन रही हैं। काकीमाँ और माँ हाथों से सिवैंयाँ चूँट रही है। इसके अलावा दोनों भाभियाँ घोड़े की पीठ जैसी बैठक बनाकर सामने तिरछे पट्टे पर मैदे को बंटकर सिवैंयाँ बना रही हैं। ऐसी ही एक बैठक और है जिस पर दीदी बँट रही है तथा नन्दन की छोटी बहन रूमा वही काम कर रही है जो मैं और नन्दन कर रहे हैं। हमारा काम यह है कि दोनों तरफ की सिवैंयों को झेलकर सामने चटाइयों पर सफाई से फैलाते जाना ताकि गुच्छियाँ न पड़ें। भाभियों के हाथ कैसे मिलते हैं——और फिर फैल जाते हैं और दूध की धार-सी पतली-पतली सिवैंयाँ गिरती हैं। उनके गोरे हाथों में बजती लाल चूड़ियाँ अनवरत बजती रहतीं। खासकर बड़ी भाभी तो स्वयं मैदे की तरह गोरी-चिकनी हैं। मुझसे बार-बार सिवैंयाँ टूट जाती हैं क्योंकि मेरा ध्यान भाभी के गोरे चिकने हाथ, चूड़ियों की छनकार से बँट जाता है। नन्दन, काम करती अपनी इन भाभी के गले में बाँह डाल झूल जाता है। मुझे नन्दन से ईर्षा होती है। मैं भी ऐसा ही करना चाहता हूँ लेकिन यह भाभी मुझे देख जिस तरह मुसकुरा देती है वह मेरे लिए असहनीय हो जाता है। वे मेरे लिए वैष्णव मन्दिर की मूर्ति बनी रहती हैं जिन्हें छूने के लिए विशेषाधिकार चाहिए और वह 'ब्रह्म-संबंध' मेरा नहीं हुआ था। सिवैंयाँ झेलते हुए कल्पना करता हूँ कि क्या कभी मेरी ऐसी सगी भाभी नहीं होगी जिसके गले में नन्दन की तरह बाँह डाल कर झूल सकूँगा? जिसे मोतियों की तरह हँसना आता होगा तथा जिसके पाजेब वाले पैर चित्र की तरह लगेंगे... सिवैंयाँ टूट जाती हैं।
——इसे तो सिवैंयाँ झेलना तक नहीं आता।

मैं इस झिड़क का कारण जानता हूँ। मैं सिवैंयों को वहाँ से झेलने लगा था जहाँ से वे पट्टे के पास से अलग होती हैं ताकि... भाभी का चूड़ियों भरा गोरा हाथ छू सकूँ। इस प्रयास में उनका हाथ टकरा जाता है। चूड़ी पट्टे में लगकर तड़क जाती है। कलाई में खून निकल आता है। वही काकीमाँ की फटकार... लोगों की उपेक्षात्मक दृष्टि और मैं भाग कर घर आकर अपनी उसी खिड़की में पर्दा गिराकर अपने को समेट लेता हूँ कि अब मुझे किसी भाभी का हाथ-वाथ नहीं छूना। मैं दीवार टोकने लगता हूँ। अँगुलियों में सूख गये मैदे को अलग कर छुड़ाता होता हूँ तथा जितनी बुरी बातें मुझे याद आती हैं, काकीमाँ के लिए उन सब की कामना करता हूँ। ऐसे कोसते हुए जब बहुत देर हो जाती है तो खिड़की खोल मैं इसी निर्णय पर पहुँचता हूँ कि कुछ नहीं ये औरतें ऐसी ही होती हैं। अच्छा है हमारे घर में औरतें नहीं हैं।

मेरे लिए माँ या दीदी, मात्र माँ या दीदी भर है। मैं उन्हें कभी भी औरतें नहीं मान सकता, क्योंकि वे औरतें नहीं हैं।

दीदी नहा रही है। सिर धोने के लिए ढेर-सी काली मिट्टी गला दी गयी। पानी पड़ने पर काली मिट्टी के रेशे-रेशे, दाने-दाने फूल कर राख रंग के हो गये हैं। कितना स्वाद देती है—काली मिट्टी। अजीब सोंधी गंध तथा मीठे स्वाद वाली यह श्यामा माटी होती है।

दीदी जब भी सिर नहाती है मुझे दरवाजे के पास अपने सारे गहने पहनाकर बिठला देती है तथा आदेशित कर देती है कि कोई भी भीतर न आये। दीदी के बड़े झूमरों से कान दर्द करने लगते है। सोने की बजट्टी गले में चुभने लगती है। कंगनों को कभी हाथ में तो कभी पैरों में पहनता होता हूँ। दीवार की ओट में नहाती दीदी के सिर मलने की खसर-खसर आवाज आ रही होती है। नाली में मिट्टी का पानी बह रहा होता है। धूप, पड़ोस के दर्जी के मकान के कोट पर ढाक के पत्तों पर खरगोश की तरह गुमसुम बैठी गहनों का मेरा पहनना-उतारना देख रही है। पश्चिम के कोने मे गुफा वाले मन्दिर के बिल्ववृक्ष पर वह ऊँची-सी भगवाँ झण्डी लहरा रही है। वकील साहब का पिछवाड़े का दरवाजा बन्द है लेकिन उनके पिता का पार्थिव-पूजन करते हुए स्तोत्र-पाठ सुनायी दे रहा है।

किसी का तोता जोरों पर टें-टें कर रहा है। मैं दीदी की झाँझन सिर पर मुकुट की तरह पहन लेता हूँ ओर तभी वा किसी काम से उधर आते हैं।

—दीदी ने कहा है कि इधर कोई नहीं आये।

वे झल्ला जाते हैं।

—ये पाजेब सिर पर पहनते हैं ?

वे फटकारते हैं। मुझे उनके अज्ञान पर तरस आता है। मैं उन्हें अच्छी तरह दिखा देना चाहता हूँ कि मैं इस समय सिर से पैर तक गहनों से लदा हूँ।

—ये मुकुट है।

वे उसे मेरे सिर से उतार कर फेंक देते हैं। चले भी जाते हैं। मैं अपने को पराजित अनुभव करता हूँ बल्कि किसी सीमा तक अपमानित भी। मुझे फिर विवशता आ घेरती है। मैं सोचता हूँ ये सब मेरा क्यों अपमान करते हैं ? इसलिए कि मैं अभी छोटा हूँ ? मैं एक दिन, एक दिन क्या—आज ही, बल्कि अभी ही बड़ा बन जाना चाहता हूँ। चाहता नहीं बल्कि सकता हूँ।..तब मैं बड़ा क्यों नहीं बन जाता ?...माँ तो बता रही थी कि हनुमानजी को लंका में जब राक्षसी मिली तो वे एकदम छोटे बन जाते या बड़े बन जाते...भला मैं क्यों नहीं बड़ा बन जाता हूँ ? तब देखें कोई मेरे इस मुकुट को सिर से गिराये...मैं अपना मुकुट उठा लेता हूँ।...नन्दन आता है। ढेर सी गूलर कमीज के पल्लू में रखे है। गूलर में कीड़े हैं। वह मुझे गूलर तोड़कर उनमें के किलबिलाते कीड़े दिखाता है। जरूर ये गूलर फड़नवीस के बाड़े की हैं। माँ कहती है कि गूलर कभी नहीं खानी चाहिए। उस गूलर की जड़ में फड़नवीस अहाते का सारा गंदा पानी जमा होता है और गंदी थूथें लिये सूअर उसके आसपास घूमते रहते हैं।...नन्दन गंदा है जो ऐसी गूलर खाता है।

—फेंक दो नन्दन ! गूलर गंदी है।

—क्यों फेंक दूँ ?

—तुम गंदे हो।

—मैं गंदा हूँ ?

और देखते-देखते हम दोनों गुत्थमगुत्था हो जाते हैं। चीख-पुकार मच जाती है। वह मुझे जमीन पर नीचे पटक देता है और मेरे सीने पर सवार है। मैं टाँगें पटक रहा हूँ।

—और मुझे गंदा कहोगे ?

—गंदे, गंदे, हजार बार गंदे।

वह मेरे सीने पर कूदने लगता है।... माँ, काकीमाँ, दर्जिनमाँ, भाभियाँ सब आ जाती हैं। हमें अलग कर दिया जाता है। वह धमकी देता है कि फिर कभी उसे गंदा कहा तो वह मार घूसों के जान ही ले लेगा।... अब की बार नन्दन से भी छोटे होने का बोध मुझे पूरी तरह तोड़ देता है।... नहीं, नहीं, बड़े होने में ही श्रेयस है।

नन्दन अपने चबूतरे पर पैर लटकाये बैठा है। मैं अपने चबूतरे पर बैठा हूँ। हम दोनों एक दूसरे के लिए ही बैठे है लेकिन प्रदर्शित नहीं करना चाहते। वह कहता है,

—हमारे घर में लड्डू है।

मैं कहता हूँ,

—हमारे घर में पेड़ा है।

—पेड़ा भी कोई मिठाई है ?

—लड्डू.... ऊ.... ऊ.... छिः

—पेड़ा... आ.... आ... थूः

—यह तो हमारी नकल हुई।

मेरी इस बात से नन्दन हतप्रभ हो जाता है। इस बार आँखों में चमक लेकर बोलता है,

—हमारे घर में माँ है।

—हमारे घर में भी माँ है।

—हमारी माँ सुन्दर है... उदयन की माँ तो बुढ्ढी है... उदयन की माँ तो बुढ्ढी है...।

और मैं घर में भाग आता हूँ। अब मैं नन्दन से कभी बात नहीं करूँगा। मैं उससे 'कुट्टी' कर लूँगा। वह मेरी माँ को बुढ्ढी कहता है।....मैं कोने में मुँह छुपा खूब रोता हूँ। मेरी माँ बुढ्ढी क्यों हैं ? नन्दन की माँ जैसी सुन्दर क्यों नहीं हैं ? ...कल से तो वह मुझे चिढ़ाएगा कि उसके पास सुन्दर भाभियाँ हैं... तब मैं क्या कहूँगा ?

दीदी मुझे पूरे घर में खोज आती हैं। मैं सीढ़ियों के पीछे वाले कोने में सुबुक रहा होता हूँ। वह मेरा नाम लेकर भीतर-बाहर सब दूर खोज आती है। बाहर जब वह पुकारती हैं तब मैं अनुभव करता हूँ कि वह इतनी जोरों पर पुकारती हैं कि सेरी के आखीर तक सुनायी पड़ता होगा। वह माँ से कहती हैं। माँ और दीदी सीढ़ी के कोने के ठीक पास बातें करती होती हैं। चूँकि बीच में दरवाजे की आड़ है इसलिए वे मुझे नही देख पाती हैं। माँ कहती है,

—धरधरी बखत कहाँ जा सकता है ?

—अभी तो बाहर बैठा था।

—कहीं ऊपर तो नहीं है ?

और दोनों का ध्यान जीने के खुले दरवाजे की तरफ जाता है। दरवाजा धीरे से बन्द करने के ख्याल से मैं उसे धीमे-धीमे खसकाता हूँ। दरवाजा थोड़ा-थोड़ा चरमराता हुआ बन्द होने लगता है।... अब मैं दरवाजे की सेंध में से देख सकता हूँ कि वे दोनो दरवाजे की ओर ही देख रही हैं।... दीदी लपकती हैं और मुझे पकड़कर माँ के सामने खड़ा कर दिया जाता है।

—वहाँ क्या कर रहा था रे ?... इत्ती रात में कोई जन-जनावर काट खाये तो ?

—काट खाये तो अच्छा है।

और माँ मेरी बात सुनकर पहले तो हतप्रभ होती हैं उपरान्त बाँह से झकझोरती हुई कहती है,

—क्या कहा तूने ?

और मैं अब अधिक सहन नहीं कर सकता हूँ। माँ के घुटनों में मुँह रगड़ते हुए रो पड़ता हूँ। हिचकियाँ बँध जाती हैं।

—क्या बात है उदू ?... किसी ने हमारे उदू को कुछ कहा है क्या ? मैं वैसे ही मुँह रगड़ते हुए अपने सारे आँसू बहा लेना चाहता हूँ। ढेर-सा रोना फूटा आ रहा है। वैसे ही रोते हुए हिचकियों के साथ कहने की चेष्टा करता हूँ,

—नन्दन...कहता...है कि उसकी...माँ...सुन्दर है...और मेरी...माँ ..बुढ्ढी ... है।

और माँ, एक भूखी-प्यासी धरती जिस तरह हठात नदी को देख ले तो उसका कण-कण अपने में प्रतीक्षित अतृप्त में उसे रसा-बसा लेती है—वैसे ही माँ ने ललक कर, रोते हुए अपने मुँह से मेरा मुँह सटा लिया है। कस कर बाँहों में बाँध

लिया है । मैं समुद्र में शेष होती हुई नदी की भाँति हुमस रहा हूँ । खंभे पर जलती एकान्त ढिबरी के ठंढे मीठे आलोक में आँसुओं में डूबा माँ का मुख, काकीमाँ के मुख से कई गुना अधिक सुन्दर लग रहा है....लेकिन मेरी माँ बुढ्ढी हैं. . . .गाल मुँह में धँसने लगे है । दाँत गिरने लगे है । ठोढ़ी ऊपर की ओर निकल आयी है । . . .आज पहली बार मेरा ध्यान जाता है कि माँ के सिर पर बाल नही है. . .माँ हमेशा सादी-सफेद बिना किनारे की धोती पहनती है. . चाँदी की चूड़ियों हाथों में होती है. . .बस । . . लेकिन नन्दन की माँ तो. . .।

——माँ !

——क्या बेटा ?

——तुम गहने-कपड़े क्यों नही पहनती ? काकीमाँ की तरह क्यों नहीं रहतीं ? और इस बार माँ जोरों पर फूट पड़ती है । उस बड़े घर के बड़े से अँधेरे में भयभीत जलती ढिबरी कितना आलोक दे सकती थी ? घर में प्रकाश से अधिक अँधेरा था । . . .माँ मेरी बात पर रो क्यों रही है ?. . .उत्तर क्यों नही देतीं ?

दीदी तुलसी के दीप के लिए बत्ती बँटने लगती हैं ।

दोपहर है ।

नन्दन और मैं ताश खेल रहे हैं । ऊपर, पीछे के कमरे की बड़ी खिड़की में चोरी-चोरी हम लोगों की ताश चल रही है। खिड़की से सेठानीमाँ का नौकरों को डाटना तथा सेठ केसरीमल का कभी दरबान तो कभी कोचवान को शुद्ध-शुद्ध गरियाना सुनायी पड़ रहा है । यह कमरा रमण-दादा का है। जिनकी आल्मारी के शीशों पर मिस कज्जन और मिस गौहर के बड़े बड़े रंगीन चित्र चिपके हुए हैं । जिसके छोटे ताले की ताली वे दीवार-छत में लगे चित्रों-फोटुओं के पीछे छिपा कर रखते हैं । नन्दन और मैं वह ताली प्रायः खोज लेते है । वह आल्मारी हमारे दोनों के घरों में सबसे अधिक रहस्य की रही है । जिसमें इत्र-फुलेल, पाउडर, पान का मीठा-मसाला, जीनतान की सुगंधित मीठी गोलियाँ, गला ठंढा करने वाली पीपरमेंट, एक माउथ-आरगन तथा नंगी औरतों के चित्र हैं । नन्दन के मँझले दादा जानते थे कि उनके पीछे हम लोग उनकी अल्मारी खोलते हैं लेकिन सिवाय दो-एक बार कान उमेठने के वे अधिक कुछ नहीं कर सके । शायद वे कहीं डरते थे कि नन्दन उनकी अल्मारी का रहस्य

न खोल दे । हमारी इस समय की यह ताश भी रमण-दादा की ही है । यह ताश नन्दन को उन्होंने उस दिन प्रदान की जिस दिन नन्दन ने उन्हें छुपकर सिगरेट पीते देखा था । उस दिन शाम को नन्दन को उन्होंने खूब मिठाई भी खिलायी थी ।

नन्दन हाथ पर हाथ बनाये जा रहा है । मैं रो कर ताश फेंक देना चाहता हूँ कि तभी काकीमाँ के पैरों की आवाज सीढ़ियों पर सुनायी पड़ती है । उनके पैरों की पायल भारी चाँदी की आवाज करती है । हम धोतियों में ताश छुपा खिड़की से सेठ केसरीमल की हवेली, हवा में हिलती नीम तथा मोटर का टब उठाये उसमान ड्राइवर को देखने लग जाते हैं । काकीमाँ के पान-सुपारी खतम हो गये हैं और ये ले आने के लिए वे मुझे पैसे देती हैं ।

—जा उदू ! दौड़ जा तो ।

मेरा मन बुझ जाता है । मैं नन्दन की ओर निरीह दृष्टि से देखने लगता हूँ । नन्दन मेरे साथ जाने को तैयार होता है लेकिन इतनी धूप में उसे जाने से वह बरज देती हैं । मैं अपने पत्तों को धोती की फेंट में ही लिये हुए नीचे आता हूँ । बाँयें हाथ से मोटर स्टार्ट करने की नकल करते हुए स्टार्ट करता हूँ—खुर्रर्रर्र, और हैंडिल घुमाते हुए सेठ जी का अहाता, बड़ा दरवाजा, रँगरेज की भट्टी, शाही दरवाजा, गैस वाले की दूकान, थानक जी सब को पीछे छोड़ कर बढ़ रहा होता हूँ । पान वाले के सामने ब्रेक लगाता हूँ । इसी वैष्णव पान वाले की दूकान का ही पान खाया जाता है । गोवर्धन पान वाला हमेशा अपनी दूकान में तम्बाकू के पूरे पत्ते करीने से खड़े-खड़े जमाये रखता है जैसे तमाखू रंग के फन फैलाये साँप हों । प्रायः सोचता हूँ कि काकीमाँ मुझे ही क्यों दोपहरी में ऐसे दौड़ाती हैं? कभी मिट्टी के तेल के लिए दौड़ा देंगी तो कभी दियासलाई के लिए । या फिर, 'जा तो जरा मँडईवाली बुआ जी से कहना कल पापड़ बनेंगे, आ जाएँ' या 'बड़ी हवेली की मा-साब से कह आ कि कल ठाकुर जी का उद्यापन (उत्थापन) होगा ।'—और मैं मोटर दौड़ाता हुआ कभी मंडी, कभी बड़ी हवेली, कभी इस मौसी, कभी उस मामी के घर चक्कर काटता रहता हूँ ।...जब कभी वे नन्दन को मंदिर जी के भोग का ठौड़ या अन्य कोई मिठाई देती हैं तो नन्दन मुझे भी देने के लिए कहता है । पहले तो वे सुनती ही नहीं हैं लेकिन जब नन्दन अधिक जिद करता है तो वे बड़े बेमन से थोड़ा मुझे भी दे देती हैं । उसके बाद हम कहीं एकान्त में जाकर दोनों अपने हिस्से एक कर के खाते हैं ।

दुर्गाष्टमी है । नवरात्रि ।

कुलदेवी का पूजन हो रहा है । हमारे घर में सवेरे चार बजे उठ कर पुरुषों ने खाना बनाया । हमारे यहाँ देवी के भोग के लिए तवा या कढ़ाई नहीं चढ़ती इसलिए वाटियाँ, घुघरी आदि बनती है । बड़े सवेरे मुझे नहला कर बा और पिता के पास बैठाल दिया गया है । माँ और दीदी पूजन की ऊपरी व्यवस्था कर रही होती हैं । सूर्योदय के पूर्व ही पूजन तथा प्रसाद सब कुछ समाप्त हो जाता है । दीवार पर पाँच या सात घी की रेखाएँ बनाकर उन्हें सिन्दूर लगा दिया जाता है । उसके बाद बा पूजन करते हुए जाने क्या-क्या बोलते हुए हवन करते जाते हैं । दीपक से आरती की जाती है । उसके बाद सब खाना खा लेते हैं । अभी दूसरे घरों में लोग जागे भी नही होते हैं कि हम लोग चोरों की तरह चुपचाप पूजन-भोजन कर के नवरात्रि की नयी-नयी —ठंढाती धूप खाते चबूतरे पर होते हैं । नन्दन मुझे बुलाने आता है । उसके घर देवी का पूजन होने वाला है । उसके यहाँ देवी को बीसियों पक्वान्नोंका भोग लगता है । लेकिन पूजन एक कोठरी में ही होता है जहाँ नन्दन के पिता, भाई आदि सब सोले-मुकुटे में मंत्र बोलते हुए पूजन कर रहे होते हैं । मैं भी कोठरी

के द्वार पर जाकर खड़ा हो जाता हूँ। आरती के बाद सब आरती लेते हैं। जैसे ही मुझे खड़ा देखते हैं कि काकीमाँ चीख पड़ती हैं, —हमारी देवी का दीपक इस उद्दू ने देख लिया।
और वे झपट कर मुझे चाँटे रसीद कर देती हैं। शायद इस बात पर मेरी माँ और काकीमाँ में कहा-सुनी होती है। काकीमाँ का कहना है कि उनकी देवी का दीपक बाहरी व्यक्ति देख लेता है तो उसकी आँखें फूट जाती हैं।
मैंने वह दीप देखा जरूर लेकिन मेरी आँखें कभी नहीं फूटीं।

तीसरे प्रहर एक साधुनी रोटी माँगने आती है। प्रायः गौ-ग्रास या माँगनेवालों की रोटियाँ चौके के बाहर तवे के नीचे ढंकी रहती है। काकीमाँ, माँगने वालो के आने पर मुझे ही दौड़ा देती है कि लाकर रोटी दे दूँ। लेकिन कभी-कभी ऐसा नही हो पाता है। तब चौके के भीतर छीके मे से डिब्बा खोल कर देनी होती है। चौके के भीतर, बाहर वाले कपड़े पहन कर नही जाया जा सकता है इसलिए काकी माँ चौके के बाहर खड़े होकर साड़ी खोल निर्वसन हो डिब्बे में से रोटी निकाल कर मुझे दे देती हैं। बहुत दिनों तक काकीमाँ का निर्वसन होना मै नही समझ पाता हूँ लेकिन जब समझने लगता हूँ तब वे मेरे सामने निर्वसन होना बन्द कर देती हैं। लेकिन तब भी जाने क्यों मुझे काकीमाँ निर्वसन ही अच्छी लगती रही। आज जब सोचता हूँ तो ऐसा लगता है कि जिस समय वे अपनी साड़ी गिराकर पूरी तरह गोरी-गोरी निकल आती थी तो ऐसा लगता था जैसे—कमल का गौर तन्वंगी फूल अपने पत्ते नीचे रख कर ऊपर खिंच आया हो। . . .मुझे एक हाथ से रोटी देते समय वे अपना एक हाथ पेट और जाँघों के पास ढँके सा रखती। जाने क्यों उनकी पूरी देह में कहीं बाल नही थे लेकिन वहीं एकदम स्याह बाल थे जो उनकी गौर देह में, सूने आकाश की अकेली नील बदली से पृथक खिल उठते थे। वे भोर की तरह झुकी रोटी झिलाती होतीं और उनके दोनों सुडौल भरे स्तन देखकर उन्हें

मुँह में लेकर जोर से रो पड़ने को मन करता कि तुम मेरी भी माँ क्यों नहीं हो ?

और अनजाने काकीमाँ वैसे ही भोर सी झुकी, गोरी-गोरी सी मेरे भीतर कहीं किसी एकन्त मन में आकाश के किसी अकेले तारे सी सदा झुकी रहती हैं। उनके वे दोनों स्तन जिनके चारों ओर कत्थई गोल का मण्डल बना है, दो कत्थई चन्द्रमा से मेरी आँखों में, मेरे मुँह में जैसे भरे रहते हैं। . . .लेकिन कपड़ों में काकीमाँ. . .कहना चाहिए कपड़ों वाली काकीमाँ एक बिल्कुल भिन्न नारी हैं, और जिनसे डर लगता है ।

बहुत धुँधली सी स्मृति है। घर भर की दीवारों पर एक व्यक्ति दिन भर रंगों की कई कटोरियाँ भरे बाहर की दीवारों तथा कचहरी की दीवारों पर चित्र बना रहा है। बाहर दरवाजे के बाहर दो सुडौल नीले हाथी देखते-देखते बन जाते हैं। उनके ऊपर हौदे में छत्र-चँवर के साथ कुछ लोग भी दिखने लगते हैं। चोबदारों के हाथों में दण्ड हैं। दरवाजे की चौखट पर गोट की तरह एक बेल निखर उठती है। कचहरी की दीवारों पर गणपति, शंकर-पार्वती, रासलीला, सेठ-सेठानी आदि जाने क्या-क्या वह व्यक्ति बना जाता है। सूनी, उदास दीवारें झील, पेड़ और मूर्तियों में जैसे जीवित हो उठीं। . . .कमरों की छतों में तैल-पानी किया गया। एक-एक चीज झाड़ी पोंछी गयी। . ..आये दिन हम्माल दाल-चावल के बोरे कमर पर लाद कर लाने लगे। मैं और नन्दन उन बोरों के पहाड़ों पर चढ़ कर, छत छू कर खूब खुश होते। दो बोरों के बीच कभी दर्रे का अनुभव होता। एक-एक बोरा चढ़ते-हुए घर कितना नीचे दिखता। अपने को हठात छत के ठीक नीचे देख गर्व का अनुभव होता। . . .हफ्तों दाल-चावल साफ किये गये। बोरों का धीरे-धीरे गायब होना हमें बहुत बुरा लगा। हमें लगा कि हम जो

रातों-रात इतने ऊँचे हो गये थे, उसे कम करने के लिए ही काकीमाँ तथा दूसरी औरतों ने उनके दाल-चावल चाल-बीन कर कोठियों में भर दिये। . . .उसके बाद जाने क्यों बहुत से लोग आने लगे। जिन्हें मैं कभी नही जानता था जब वे गोदी में लेकर ठोढ़ी छूते या चूम लेते तो मैं गुस्से से तड़प उठता था। मन करता कि जब ये लोग सो जाएँ तो इनकी मोटी-मोटी तोदों पर चूहे छोड़ दिये जाएँ. . . खुर्राटे भरते समय इनकी झटके से हिलती मूँछें—कैसी अजीब लगती थीं। . . .और एक दिन शहनाई वाले आकर—चबूतरे पर दरी का फटा टुकड़ा बिछा कर दिन-दिन भर 'पें पें. . .पेंपेंपेंऽऽऽपेंऽऽपेंएंएंऽ पें' करने लगे। लड़के आपस में गले में हाथ डाले उन नफीरी वालों को घेर कर खड़े हो जाते और तब तक नहीं हटते जब तक कि उनके कान पकड़ कर उन्हें कोई लिवाने न आता। . . .इसके बाद लोगों ने क्रमशः अच्छे कपड़े दिन-दिन भर पहन कर घूमना शुरू किया। दीदी को नाइन आतूमाँ देर तक हलदी लगा कर बेसन की पिट्ठी-दही से नहलाने लगी। औरतों ने घर भर के फर्श और आँगनों में सफेदे की अल्पनाएँ बना डालीं। धरती से प्रकाश आने लगा। हम गीली अल्पनाओं को फलाँगते. . .जरूर खराब किया करते। नन्दन ने ही बताया कि दीदी का ब्याह हो रहा है। ब्याह? ब्याह क्या होता है?. . . नन्दन भी नहीं जानता था। घर में किसी को अवकाश ही नही था कि पूछा जाता। और एक रात, काफी देर जागने के बाद भी आधी रात में दीदी का ब्याह हो गया। . . . इसके बाद केवल यही याद है कि एक पालकी है। पालकी में एक व्यक्ति है, दीदी हैं। दीदी खूब सजी हुई हैं। वह व्यक्ति भी सजा हुआ है। मैं उसके पास बैठा हुआ हूँ। आगे-आगे पुरुष चल रहे हैं। पीछे औरतों के गाने की आवाज आ रही है। नन्दन बार-बार पालकी के पास आकर मुझे देख कर हँसने लगता है। . . उसके बाद पता नहीं क्या होता है। . . .जिस तरह से लोग आये थे वैसे ही चले गये। मैं इस बार जरूर सतर्क था कि किसी भी प्रकार वे लोग मुझे फिर अपनी गोदी में चढ़ा कर फिजूल के लिए न चूमें। . . .अब अधिकतर अकेली ढिबरी की तरह माँ ही घर में अधिक स्पष्ट हो उठी थी। लेकिन, लेकिन दीदी कहाँ है? दीदी का कस्बे में ही ब्याह हुआ था नीमबाड़ी में। . . . मुझे याद आता है कि ब्याह के बाद मै भी दीदी के साथ गया था लेकिन कुछ देर को ही। तो, वह दीदी की ससुराल है? दीदी अब वहीं रहेंगी?

दीदी की ससुराल के एक लम्बे से सुनसान सहन में एक तोता और एक अन्धी बुढ़िया सदा कुछ न कुछ बोलते रहते हैं। दीदी की ससुराल दुहरी बनी हुई है। घुसते ही दाहिने हाथ एक मंदिर है। जहाँ कोई दर्शन करने नहीं जाता लेकिन बेचारे रामचन्द्र अपना पूरा दरबार लगाये, पाँचों पोशाक पहने, सिंहासनासीन पट खोले रहते। बाँये हाथ एक कोठरीनुमा कमरा है। इन दोनों के बीच एक चौड़ा सा रास्ता तथा भीतर के बरसाती पानी निकलने के लिए कच्ची गटर भी है . . . इसके बाद काफी खुला सा मैदान है। जिसमें एक बड़ी सी नीम है। नीम के नीचे एक शिला दिन भर धूप में तपती है। उस पर दीदी के चाचा-ससुर बगलें बजाते नहाते हैं। उस शिला से थोड़ी दूर पर ही दो-तीन गाय-भैंसें बँधी रहती हैं। जिस सुनसान सहन में वह अन्धी बुढ़िया बैठती है उसमें बाँयें हाथ पर एक कोठरी है जिसमें दीदी की चाची-सास रहती हैं। पीछे की ओर दो बड़े-बड़े कमरे है जिनमें सामान से ज्यादा रीतापन है और जिनमे धूप की रस्सियाँ दिन भर इस दीवार से उस दीवार तक घूमा करती है। एक में रान्नीघर है। एक बड़े से मेहराबदार आले में परेंडी (पीने के पानी का स्थान) है जिसके पीतल के घड़े तथा मटके बड़े उदास लगा करते। दूसरे बड़े कमरे में बिस्तरे, एक मचिया पर रखे रहते। कोने में आटे-दाल की एक चकरी। शेष वही मनसायनहीनता। . . .दीदी के साथ मैं भी कई-कई दिन यहाँ रह जाता हूँ। वह बुढ़िया, जिसकी अंधी आँखों से मुझे बड़ा डर लगा करता था, खूब कहानियाँ सुनाती है। अपनी जलभरी निस्तेज, अबोलती आँखों से जब मुझे टटोल- टटोल कर छूते हुए बोलती है तब मैं काँप उठता हूँ। दीदी, घर की तरह यहाँ खुल कर न बोलती ही है, न हँसती है। चूँकि मैं दीदी के बिना नहीं रह सकता हूँ इसलिए यहाँ ससुराल में भी उनके साथ हूँ।

यहाँ सवेरा बहुत देर से होता है। बड़े सवेरे सिर्फ दीदी के चाचा-ससुर ही अपनी गाय-भैंसों को दुह कर बाल्टियों में दूध लेकर अपनी दूकान पर जाते है। मुझे भी साथ में ले जाते हैं। 'सोमवारा' बजार में उनकी मिठाई की दूकान है। सवेरे दूध-जलेबी बेचते हैं और रात को मिठाई। मैं रोज दूध-जलेबी खाता हूँ। उनके साथ ही फिर लौट आता हूँ। वे उसी तरह शिला पर नहाते हुए बगलें

बजाते दोपहर कर देते हैं । मन्दिर की पूजा होती है । उपरान्त खा-पीकर वे फिर दूकान चले जाते हैं । दीदी इस बीच घर का कामकाज करती रहती हैं । . . .जीजा एक सुन्दर व्यक्ति हैं, खूब ऊँचे गोरे से । उज्जैन कालेज में पढ़ते हैं । उनके पिता बम्बई में किसी मिल में सेल्स मैनेजर हैं । जीजाजी की माता मर चुकी हैं, पिता बम्बई में हैं, पारिवारिक घर यही है, वह अन्धी बुढ़िया दीदी की दादी-सास हैं, जीजाजी अभी पढ़ ही रहे हैं इसलिए दीदी को अपने इन चाचा-ससुर के साथ रहना पड़ता है । . . .मंदिर के सामने वाला वह कमरा दीदी-जीजा का कमरा है । कोने में एक छोटी सी टेबल पर जीजा का एक फोटो है जिसके पास चाँदी का एक कप है । कोने में क्रिकेट का पैड और बल्ला पड़ा है । एक पलंग है जिस पर एक गाव तकिये के सहारे जीजा बैठे रहते हैं ; दीदी जब कभी रान्नीघर या कहीं और होती हैं तो मुझे डाकिये का काम करना होता है । रोटी बनाती दीदी के कंधों पर झूलते हुए जब मैं पुर्जा थमाता हूँ तो वे हँसते हुए पढ़ती हैं और अपने कपड़ों में छिपा कर रखी हुई पेंसिल से कुछ लिखकर मुझे थमा देती हैं । मैं एक ईमानदार तथा अनुभवी डाकिये के रूप में पत्रोत्तर पहुँचा देता हूँ ।

दीदी, जीजाजी के कमरे में ही हैं । मैं टेबल के पास बिछी दरी पर चित्रों की कोई किताब देख रहा होता हूँ ।

——उद्दू ! अपनी दीदी से पूछो हमसे क्यों नाराज हैं ?

मैं वैसे ही किताब देखते हुए कहता हूँ ।

——बतादो दीदी ! क्यों नाराज हो ।

——उद्दू ! अपने जीजाजी से कहो कि क्या हमें भैंसें दुहाने के लिए लाये थे ?

——जीजा जी ! दीदी की बात का जवाब दे दीजिए ।

मेरी इस असम्पृक्तता पर दोनों हँस देते हैं । जीजा जी मुझे अपने पास बैठाल लेते हैं और दीदी को मेरे पास बैठाल लेते हैं । मैं मात्र माध्यम हूँ उन दोनों पति-पत्नी का । मेरी हिलती हुई जाँघों पर दोनों के हाथ मिलते हैं । मैं एक बार दीदी को देखता हूँ जो अँधेरे में धूप भरी छोटी खिड़की बनी होती हैं । जीजा जी दीदी को देखते हुए खुले आकाश में गुलमुहर बने होते हैं । मैं उन दोनों के मिले हाथों पर अनजाने में हँसते हुए अपने दोनों हाथ रख देता हूँ ।

एक हाथ में दीदी का हाथ होता है तथा दूसरे में जीजा जी का हाथ . . . दोनों मुझे बच्चे लगने लगते हैं ।

माँ अब बीमार रहने लगती हैं । बुढ़ापा, एक साथ ही आता है । माँ के साथ भी यही होता है लेकिन बाप एक अनुभवी व्यक्ति की तरह धीरे-धीरे ही बुढ़ा रहे थे। वे मंडी तक रोज जाते हैं। और शाक-भाजी खरीद लाते हैं। नदी में नहाते आते हैं तथा सोमनाथ महादेव पर बिल्वपत्र भी चढ़ाते आते हैं। वैसे माँ अब भी घर का काम-काज करती हैं लेकिन साँस फूल आती है । इसलिए दीदी को प्रायः हमारे घर भी खाना बनाना पड़ता है । होता यह है कि बड़े सवेरे यहाँ आ जाती हैं और आठ-नौ बजे अपनी ससुराल लौट जाती हैं। चूँकि उनकी ससुराल में रात को देर से ही खाया जाता है क्योंकि उनके चाचा-ससुर दूकान बढ़ाकर करीब ग्यारह बजे लौटते हैं इसलिए दीदी शाम को हमारे यहाँ पहले खाना बना जाती हैं उपरान्त देर रात तक अपने वहाँ चौका-बासन करती रहती हैं ।

सँझवाती हो गयी है। मैं सेरी में बच्चों के साथ खेल रहा था कि दीदी ने मुझे कई बार पुकारा तब कहीं झल्लाते हुए आया हूँ। मैं जानता हूँ कि दीदी को उनकी ससुराल छोड़ने जाना पड़ेगा। मैं ठुमकता हूँ। वह मुझे मिठाइयों का लालच देती हैं। खेल से बुला लिये जाने के कारण मैं झल्ला उठता हूँ। दीदी मुझे पैसों का लोभ दिखाती है। मैं तैयार हो जाता हूँ लेकिन नयी सड़क वाले हनुमानजी के मन्दिर तक छोड़ आने के लिए राजी हो जाता हूँ। अभी हम बातें ही कर रहे होते हैं कि सौदा पटने तक सेरी में अँधेरा-ही-अँधेरा घिर आता है। मैं दीदी को लेकर चलता हूँ।

दीदी अभी मुश्किल से दस कदम ही चली होती है कि मैं वकील साहब के घर के सामने होता हूँ। दीदी मुझे धीमे चलने के लिए कहती ह लेकिन मैं ऐसा नही कर सकता। धीमे चलने का अर्थ होता साथ चलना और मैं नन्दन, गम्पू, जुगल या शेखर किसी के द्वारा यह देखा जाना पसन्द नही कर सकता कि मै अपनी दीदी को ससुराल छोड़ने जाता हूँ।....मुझे दीदी पर गुस्सा आता है कि क्यों पैरों में इतने गहने पहनती है कि एक तो इतनी आवाज होती है दूसरे पैर भी जल्दी नही उठते।... और हनुमान जी के मन्दिर के चबूतरे वाले पत्थर को पकड़ अपनी शर्त पर अड़ जाता हूँ कि आगे नही जाऊंगा। दीदी को जाना हो तो जाएँ, न जाना हो तो....। दीदी पुचकारती है, दुलारती है। शर्त के दो पैसे बढ कर इकन्नी हो जाते है और मैं इस बार सिर्फ इतनी रियायत करता हूँ कि उनकी ससुराल की गली में जमीदार पंचमसिंह की जो खजूर है वहाँ तक चल सकता हूँ—बस!! और सौदा पट जाता है।....मैं घिरते अँधेरे में पंचमसिंह की खजूर स्पष्ट देख रहा होता हूँ।...बाँस के पीठे वाले की लालटेन दिखने लगती। वह रोज की तरह जोर-जोर से आल्हा पढ़ रहा होता है। श्रोताओं में वही मराठा रिटायर्ड दरोगा गणपतराव, काणा बुकसेलर कन्हैयालाल, पनचक्की वाला अमोलक चंद और कपास की जीन का मुनीम शौकत अली बैठे होते है। पीठे वाला नारायण राव पहलवान भी होता है जिसकी बैठक के तकिये के पास दिन भर मुग्दर की जोड़ी खड़ी रहती है।.... और खजूर, पहली रात के नील होते हुए आकाश में खूब गुच्छल-गुच्छल हवा में हिल रही होती है।....दीदी मुझे अपनी ससुराल के दरवाजे तक चलने का आग्रह करती है। मुझे चिढ़ हो आती है। मैं धमकी देता हूँ कि कल मैं किसी भी कीमत पर छोड़ने नहीं आऊँगा। दीदी मुझे इकन्नी देती है और मैं तुरन्त अपनी, मोटर स्टार्ट करता हूँ लेकिन दीदी मुझे तब तक न जाने के लिए कहती है जब तक कि वे अपनी ससुराल के दरवाजे के भीतर न चली जाएँ।...मैं दीदी का दरवाजा खोलना अन्दाज लेता हूँ और मोटर स्टार्ट कर देता हूँ।

मैं दीदी के साथ उनकी ससुराल में ही कई दिनों तक अनेक बार रहता हूँ। इस

तरह दीदी की ससुराल रहने के बाद जब घर पहुँचता हूँ तो नन्दन, काकीमाँ, भाभियाँ, रूमा सब मुझे चिढ़ाते है कि दीदी के साथ मेरा भी व्याह कर दिया गया है। मैं चिढ़ जाता हूँ। मैं माँ के पास जाकर रोने लगता हूँ। वे मुझे चिढ़ने से मना करती है। मैं प्रतिज्ञित होता हूँ कि अब दीदी की ससुराल कभी नही जाऊँगा लेकिन दो-तीन दिन बाद ही दीदी मुझे फिर अपने साथ ले जाती हैं।

रात है। मालवी चैत्र, अपनी गौर चाँदनी, नील स्वच्छ आकाश तथा स्नानित तारों में ठण्ढी हवा के साथ रात-रात भर हिम बना ठण्ढाता रहता। आँख की जल-भरी पुतली सी चाँदनी, रात के एकान्त में झर रही होती। बीच वाले बड़े से आँगन में सब सो रहे हैं। दीदी के चाचा-ससुर नीम के उधर खाट पर होते। दादी की सास भी उधर ही होतीं लेकिन उनकी खाट दीदी की खाट से थोड़ी दूर पर होती। दीदी और मैं एक ही खाट पर सोते। जीजा जी गर्मियों की छुट्टियों में आये होते। उनका एकमात्र पलंग आँगन के बिल्कुल दक्षिणी सिरे पर होता जिस पर मसहरी तनी होती। नींद आने तक जीजा जी के साथ उनके पलँग पर मसहरी में लेटा होता, वे मुझे अँग्रेजी सिखाते,

—ए

—ए

—बी

—बी

इस बीच या तो ए-बी-सी-डी बोलते हुए मैं ही सो गया होता या कोई कहानी सुनते हुए।

आधी रात है। मैं सपने में शायद अपने को किसी बड़े रेगिस्तान में बिल्कुल अकेला पाता हूँ। मैं इधर-उधर दौड़ने लगता हूँ लेकिन कहीं कुछ नहीं. केवल सुनसान रेत की अँधेरी दूरियाँ। मैं हड़बड़ा कर जाग जाता हूँ। बिस्तरे पर दीदी नही होती हैं। मैं घबरा जाता हूँ।....तभी दीदी मसहरी की तरफ से आती दिखती है।.... और जब कभी मैं इस तरह जागा हूँ दीदी मसहरी की तरफ से ही आती हैं।

—दीदी ! तुम वहाँ क्यों चली जाती हो ?

—तुम्हारे जीजा जी को प्यास लगी थी।

लेकिन क्या जीजा जी खुद पानी नहीं पी सकते ? लेकिन बात इतनी स्पष्ट नहीं होती है।

दोपहर है। तरबूज काटा जा रहा है। जीजा जी काट रहे हैं और सब उन्हें घेर कर बैठे हैं। मैं हठात पूछ बैठता हूँ,

[—जीजा जी ! आप अपने हाथ से पानी नहीं पी सकते ?

—क्यों ? क्यों नहीं पी सकते ?

—दीदी रोज रात को आपको पानी पिलाने जाती हैं।

अपनी सास की आड़ में बैठी दीदी लाज से गड़ जाती हैं। वे घूंघट की आड़ से मुझे घूरती हैं। बाकी सब हँस रहे होते हैं।]

वार-त्यौहार के दिन जब हमारे घर जीजा जी आते हैं तो कचहरी में बड़ी आव-भगत की जाती है। उन्हें एक कालीन पर बैठाया जाता है। अच्छा भोजन बनता है। उनका पूजन किया जाता है और चलती बेला उन्हें तिलक किया जाता है। बा, नारियल को कुंकुम लगा कर पान पर रख कर ग्यारह रुपयों के साथ उन्हें भेंट करते हैं। मैं उस समय जीजा जी की जाँघों पर कुहनी टिकाये रेशमी कपड़ों तथा सलमे-सितारे की टोपी में टुकुर-टुकुर ताक रहा होता हूँ।...लेकिन मुझे सदा इस बात का दुःख बना रहता है कि मेरा कभी कोई पूजन नहीं करता।....एक बार मैं अपनी बुआ के बड़े लड़के 'भाई साहब' के साथ उनकी ससुराल गया था तो भाई साहब को तो उन्होंने रुपया-नारियल दिया था लेकिन मुझे सिर्फ एक दुअन्नी दी थी। घर आने पर जब कुल्फी-मलाई वाले को वह दी तो उसने उसे खोटी बताया था। इस पर मैं कितना रोया था। भाई साहब ने तब जाते समय मुझे एक रुपया दिया था...लेकिन वह पूजन थोड़े ही था।.....मैं तय करता हूँ कि अगर मैं भी जीजाजी के साथ ही इस तरह अपने घर जाऊँ तो बा-माँ जरूर मेरा भी पूजन करेंगे।...योजना के अनुसार मैं भी मेहमान बना अपने घर जीजाजी के साथ जाता हूँ। कालीन पर जाकर गंभीर होकर बैठ जाता हूँ। भोजन करने के लिए भी जीजा जी के साथ ही जाता हूँ और बिल्कुल अपरिचित बना रहता हूँ। जब पूजन-दक्षिणा का समय आता है तब अपनी उपेक्षा देख मुझे रोना आ जाता है।...मैं माँ और बा को कैसे समझाऊँ कि मैं क्या चाहता हूँ ? जबकि बात कितनी मोटी, साफ

है...। लेकिन लगता है वे लोग समझना ही नहीं चाहते हैं। मैं उदास हो जाता हूँ। उदास ही नहीं बल्कि निर्मम हो जाता हूँ। मैं भी जीजा जी के साथ ही जूते पहन कर चल देता हूँ। माँ पूछती भी हैं कि अब मैं वापस फिर क्यों जा रहा हूँ? लेकिन मैं जितना मर्माहत हुआ हूँ उस में बोलना या उत्तर देना संभव ही नहीं था.... बा और माँ हँस देते हैं। मैं पीठ पीछे से आती इस हँसी का मर्म खूब समझता हूँ। इस तरह की हँसी हँस कर बा या माँ मेरे दर्द को कम नहीं कर सकते। मैं जानता हूँ कि अगर मैं एक बार चीख कर रो पड़ूँ तो बहुत कुछ हल्का हो सकता हूँ लेकिन अब मैं भी अपने को बड़ा समझ ही सकता हूँ। और ऐसा न समझने का कोई कारण भी नहीं है।

दीदी की वही अंधी दादी सास मुझसे अपना लकड़ी का बक्सा मँगवाती हैं। वे अपने गले में से दाँत कुरेदनी के साथ बँधी एक चाभी देती हैं। मैं ताला खोलता हूँ। उसमें ढेर से पैसे, इकन्नी, दुअन्नी आदि भरे है। मेरा काम यह है कि मैं एक-एक तरह के सिक्के इकट्ठे कर दूँ और उनके सामने रख दूँ। वे अपनी काँपती अँगुलियों वाले झुर्रियों भरे हाथ से टटोल कर उठाती है और गहरी लकीरों वाले पोपले मुँह से हवा की सीत्कारी छोड़ते हुए गिनती है—एक...दो...आठ... दस...बीस...तीस....। मैं भी उन्हें दादीमाँ ही कहता हूँ।

—दादीमाँ !

—क्या है ?

—इतने पैसे तुम्हें कहाँ मिले ?

—दक्षिणा-पूजन के हैं।

वापस गड्डी बनाकर रखते हुए मैं अनुभव कर रहा हूँ कि बुढ़िया के पास तो ये इतने सारे पैसे हैं कि ढेर सारा मलाई का बरफ आ सकता है। मैं दो-एक चुराना चाहता हूँ कि उनका खुरदरा काँपता हाथ मेरी पीठ को सहलाने लगता है।

—देखो उदू ! यह बक्सा ठीक से बन्द कर वहीं रख आओ तो मैं तुम्हें एक चीज दूँगी।

मैं चीज के लोभ में पैसे चुराना ही भ ' हूँ। बक्सा रखकर लौटने पर वे मुझे एक अठन्नी देती हैं।

—लो, जब अपने घर जाओ तब इसकी कोई चीज खरीद कर खा लेना।

मैं मुट्ठियों में दबी अठन्नी को जोर से कस लेता हूँ। मैं सोचता हूँ—पूरे आठ आने ??...एक पैसे का एक मीठा ठण्ढा बरफ का शरबतिया लड्डू...तो इस अठन्नी में तो ढेर से रंग-विरंगे ठण्ढे बरफ के शरबतिया लड्डू आ सकते हैं। मेरी प्रसन्नता वारापार हो जाती है। मुझे अपनी माँ याद आ जाती हैं और मुँह कड़आ जाता है—एक पैसा भी दाँत से नहीं छूटता उनसे। और एक यह दीदी की दादी सास हैं जिन्होंने एकबारगी अठन्नी दे दी कि जाओ, जो मर्जी हो खा लेना।...मुझे याद आया कि ये लोग वैष्णव नहीं हैं इसलिए इनके यहाँ छुआछूत शायद इतनी नहीं थी तभी तो कह दिया कि बाजार से कुछ भी ले लेना।

अभी, अभी, डाकिया पार्सल दे गया है। पार्सल दीदी के ससुर ने बम्बई से भेजी थी। सारा घर पार्सल का खोलना देख रहा है।...ढेर सारी साड़ियाँ, मर्दाने कपड़े, सूखे मेवे आदि हैं। सब कपड़ों पर सब के नाम की अलग-अलग चिटें लगी हुई हैं। दीदी के लिए सब से अधिक कपड़े आये हैं।...एक छोटी पार्सल पर मेरा नाम लिखा है, "—श्री उदयन बाबू के लिए, उनके बाबूजी की ओर से।"

और जीजा जी हँसते हुए वह पार्सल मुझे दे देते हैं। मैं किंचित हतप्रभ प्रसन्न आँखों से वह पार्सल दोनों हाथों में थामे खड़ा रहता हूँ। मैं कुछ भी समझ नहीं पाता कि 'बाबू जी' ने मेरे लिए क्या भेजा है।...जीजा जी उसे भी खोलने लगते हैं और उसमें जूते, खरगोश, गोलियों का डिब्बा, कपड़े तथा बाजा मेरे चारों ओर फैल जाते हैं। मैं अपनी तेज-तेज बाँहें चला कर अपने में सबको समेट लेना चाहता हूँ। इत्ती सारी चीजें? सब मेरी अपनी हैं? मैं जल्द से जल्द गैलिस बाँधकर सूट पहनना चाहता हूँ और नन्दन, गम्पू, जुगल तथा शेखर को दिखाना चाहता हूँ कि तुम ही जब अपनी ननिहाल जाते हो तो चीजें नहीं लाते, हमारे जीजा जी के बाबू जी हैं जो कितनी अच्छी चीजें भेजते हैं। ऐसे सूट, कपड़े के जूते, रंगीन फुटबाल

किसी के पास हैं ?...और मैं दिन भर पिता जी के आने की प्रतीक्षा करता रहा कि वे आ जाएँ तो सारी चीजें ले चलें।...और पिता जी काफी रात में आते हैं।

और उस दिन कृपाशंकर फोटोग्राफर अपने कैमरे के पीछे काला कपड़ा ओढ़ कर लम्बी तिपाई पर रखे कैमरे में से हम सबको देखने लगा। बीच में दादी जी, उनके एक तरफ दीदी के चाचा ससुर, दूसरी तरफ जीजा जी बैठे। पीछे दीदी की सास तथा दीदी खड़ी हो गयीं और मैं दादी जी के सामने दरी पर बैठाया गया। हम सब के पीछे खाटें खड़ी कर बड़ी सी-जाजम लटका कर बैक ग्राउण्ड तैयार किया गया। और जब कृपाशंकर फोटोग्राफर अपने कैमरे के सामने खड़ा किसी को ऊपर, किसी को नीचे, किसी को मुसकुराने किसी को कुछ कह-सुन कर 'एक-दो-तीन', कहकर लैंस की टोपी खोल वापस लगा रहा था कि जाने कैसे बछिया इस बीच खुल कर आयी और बैक ग्राउण्ड वाली जाजम खीचकर भागी। खासा तहलका मचा। एक बार फिर से वही हुआ और इस बार फोटो ले लिया गया। पता नहीं क्यों, शायद इसलिए कि हमारे फोटो अच्छे आयें कृपाशंकर को चाय पिलवायी गयी और वह सबसे कहता रहा कि कोई हिला नहीं बल्कि सब मुसकुरा रहे थे। जब कि मैं उसके बिल्कुल पास खड़ा था उसने मेरे बारे में कोई बात ही नहीं की। मैंने इस बीच उसके कपड़ों में कांटे वाले दो कौवे चिपका दिये। जब वह जा रहा था तो उसके चलने से वे कौए ऊपर चढ़ रहे थे। थोड़ी ही देर में वे कौए उसके गले पर पहुँच जब चुभेंगे तब बच्चू को पता चलेगा कि फोटो किसका अच्छा आएगा।

उदासी मठ में सवेरे स्कूल लगता है तथा शाम को संगीत की शिक्षा दी जाती है। कहने को वैसे सरकारी प्राइमरी स्कूल भी है लेकिन अधिकतर बच्चे उदासी मठ में ही पढ़ने जाते हैं। नदी किनारे का यह उदासी मठ एक प्रकार से गढ़ी ही है। सामने का मैदानी हिस्सा बिल्कुल जहाज की तरह नदी की ओर उठा हुआ है। किले के कँगूरों जैसी दीवार से सटे हुए चबूतरे का एक लम्बा सिलसिला पूरे घेरे में यहाँ से वहाँ तक चला गया है। नदी की तरफ के चबूतरे पर मठ के किसी गुरू की समाधी बनी है जहाँ अनार के बहुत से पेड़ हैं और दिन भर तोते या तो कुतरते रहते हैं या मँडराते रहते हैं। अहाते के बड़े फाटक के पास भीतर एक ओर बड़ी सी इमली है जिससे सटा हुआ छायादार बरामदा है जिसमें छोटे गुरू जी दर्जा अ और ब की क्लास लिया करते हैं। तथा दूसरी ओर बड़ी चौड़ी सी सीढ़ियाँ ऊपर चली गयी हैं जो एक बहुत बड़े लम्बे दालान में जाती हैं जिसकी लकड़ी की मेहराबें मैदान की ओर पड़ती हैं। इस दालान में दर्जा एक से लेकर चार तक की पढ़ाई बड़े गुरू जी कराते हैं। अपनी चौकी पर बैठे हुए वे पूरे दालान ही नहीं बल्कि नदी तथा उस पार का मुहल्ला लालपुरा तक ठीक से देख सकते हैं। उनकी चौकी

पर सितार, माला, तकली तथा कुछ किताबें पड़ी रहती हैं। वे प्रसिद्ध सितारिये तो थे ही साथ ही उन्होंने सोलह तार का पैर से चलने वाला चरखा भी बनाया था जो कि दालान में पीछे की तरफ खड़ा रहता। उस चरखे को देखने दूर-दूर से लोग आया करते थे। वे सिर से पैर तक खद्दर की धोती, लम्बा कुरता, तहाया दुपट्टा धारे रहते। चन्दन का सफेद तिलक उनके गौरवर्ण पर खिल उठता था। पढ़ाते समय उनके एक हाथ में पतली सी बेंत रहती जो उनके मुँह से अधिक चला करती थी। छोटे गुरू जी अपेक्षाकृत कम सुन्दर तथा बड़े दाँतों के व्यक्ति थे तथा उनके मुँह से तम्बाकू की गंध आती रहती। अपने दाहिने हाथ के अँगूठे के बड़े से नाखून से किताब की लाइनों की ओर लड़कों का ध्यान दिलाते हुए जोर-जोर से पढ़ाते। क्लास का मानीटर जिस समय छुट्टी के पूर्व पहाड़े बुलवाता होता वे लड़कों की कतार में बेंत लिये घूमते होते। जरा सी भी किसी की आवाज गिनती दुहराते में तेज हुई तो सड़ाक से बेंत पीठ पर होती।

गम्पू पढ़ने नहीं जाता है तो उसे गुरू जी लड़के भेज कर 'टाँगाटोली' करके पकड़ बुलवाते हैं। उसकी तब सबके सामने पिटायी होती है। उसकी तलाशी होती है। उसकी जेब में से नमकीन सेव के टुकड़े, या कभी एकाध बीड़ी, सिगरेट के टुकड़े मिल जाते हैं। उसे टाँगों से बाँध कर मैदान में पटक दिया जाता है। किसी को उसके पास जाने की आज्ञा नहीं होती इसलिए पानी पीने की छुट्टी में भी लड़के इमली की कोटरें पत्थर से गिरा कर खाते रहते लेकिन गम्पू के पास जाने का साहस किसी को नहीं होता।

बरसात में पानी की बौछार से लड़कों के बैठने की टाट पट्टियाँ भीग जाती हैं। हमारी पीठ भीगती रहती हैं या खपरैल चूने लगती है लेकिन क्या मजाल जो कोई लड़का कुछ कह सके। भीगती पीठ लिये पढ़ रहे हैं। गुरू जी मेरा नाम पुकारते हैं। मैं खड़ा हो जाता हूँ। पाठ पढ़ने का आदेश होता है। सारे लड़कों के पाठ पढ़ने से जो गुँगुआहट हो रही थी वह रुक जाती है। मैं जोर जोर से पढ़ता हूं,

—राम और शाम दो मित्र थे।
—क्या पढ़ा ? शाम ?—इधर आओ।
और पीछे से धोती की काछ सम्हालता एक हाथ में किताब थामे गुरू जी के पास पहुँचता हूँ। गुरू जी अपने पैरों के पास रखा कंकड़ मेरे कान पर रख मलने लगते हैं। मैं असह्य पीड़ा से चीख उठता हूँ। वे गरजते हैं,
—शाम ? या श्याम !!
मैं रोते हुए फिर पढ़ता हूँ,
—राम और श्याम दो मित्र थे। उन दोनों के पिता गोरधन तथा सिधनाथ थे।
और गुरू जी इस बार इतने जोरों पर गरजते हैं कि मैं काँप उठता हूँ।
—क्या पढ़ा ? गोरधन ? सिधनाथ ?
और एक लड़के से पेंसिल माँगकर मेरी अँगुलियों में फँसाकर दाबी जाती है। जब 'गोरधन' को 'गोवर्धन' और 'सिधनाथ को 'सिद्धनाथ' पढ़ता हूँ तब जाकर पेंसिल मेरी अँगुलियों से अलग होती है लेकिन गुरू जी की कुर्सी के पास ही मुर्गा बनना पड़ता है।
और मुर्गा बने जब मैं अचेत होकर गिर पड़ता हूँ तभी मुझे बैठने को मिलता है।

नदी में बाढ़ आती है। स्कूल के सारे लड़के दीवार के पास खड़े हुए पूर देखते होते हैं। खूब गँदला पानी जिसमें बड़े-बड़े भँवर दीवार के पास छल्ले बनाते तैर रहे होते हैं। ठण्ढी हवा के साथ नीम की गंध तथा बूंदों से अजीब लगता रहता। सब अपने तैरने की डीगें हाँकने लगते हैं। पानी पीने की छुट्टी में हम सब दीवार के पास खड़े हुए बाढ़ को साश्चर्य देखते हुए कल्पना करते हैं कि ऐसे में अगर कोई नदी में गिर जाए तो सीधे किले-घाट पर जाकर रुके। एक सेठ का लड़का अपने नौकर के हाथ से खाने की चीज लेते हुए खा रहा था, बोला,
—अगर कोई इस पूर में तैर कर बता दे तो मैं जानूं।
—क्या जानोगे ?

यह गम्पू था। वह फिर बोला,

—क्या दोगे ?

—एक आना।

—धत् !!

—दो आने।

—दो आने में कौन जान दे ?

—अच्छा चार आने।

—रही ?

—रही।

—मुकरना मत फिर।

और देखते-देखते गम्पू ने कपड़े फेंके तथा नदी में कूद पड़ा। उसे कूदा देख कुछ डरपोक लड़के भाग कर दालान में जा बैठे। कुछ शोर करने लगे। किसी ने जाकर गुरू जी को बता दिया। जिस समय गुरू जी बेंत लिये पहुँचे गम्पू दीवार का पूरा चक्कर लगा बड़े दरवाजे के पास पहुँच रहा था।...उसके बाद गम्पू को खूब पीटा गया। सेठ के लड़के के भी कान उमेठे गये लेकिन स्कूल से लौटते हुए गम्पू ने रास्ते में ही सेठ के लड़के को घर दबोचा कि वह चवन्नी दे। सेठ का लड़का कान उमेठे जाने के बाद से हीले-हवाले करने लगा था लेकिन जब गम्पू ने अपना बस्ता मुझे दिया और लड़कों की दो पार्टियाँ सड़क पर खड़ी हो गयीं तथा गम्पू ताल ठोक कर सेठ के लड़के को चुनौतने लगा तो यही ठीक समझा गया कि गम्पू को पैसे मिलने ही चाहिए। और आखिरकार गम्पू को चार आने पैसे मिल गये।

सामने के मकान में एक मास्टर साहब किराये पर रहने आये हैं । गर्मी की छुट्टियाँ हैं । एक दिन मुझे बुलाकर बा ने कहा कि कल से दोपहर में सामने वाले मास्टर साहब के यहाँ पढ़ने जाना । अपने बा के बारे में सारी बुरी बातों की कल्पना करने लगता हूँ जो न तो मेरा खेलना देख सकते हैं, न जोर से हँसना-बोलना । दोपहर है । यह आज की दोपहर है कल की नहीं । कल से तो पढ़ने जाना होगा । गम्पू के पिछवाड़े के आँगन में बेर के पेड़ की झिरझिरी छाया में बैठे हुए मैं, नन्दन, गम्पू, जुगल और शेखर परामर्श कर रहे हैं कि कैसे मुझे इससे छुट्टी मिले । कुछ संकेत बना लिये जाते हैं कि सीटी का अर्थ होगा कि मैं पेशाब की छुट्टी माँगकर आ जाऊँ । महज चिल्लाने का अर्थ होगा कि टट्टी की छुट्टी ले आऊँ । ताली का मतलब पानी पीने से है आदि आदि ।

बगल में टाट का टुकड़ा, हाथ में स्लेट-पेंसिल लिये जब माँ मुझे मास्टर साहब के

यहाँ छोड़ गयीं तो पहली बार उन मास्टर साहब को गौर से देखा जो अब गुरूजी हो गये थे। मास्टर साहब वैसे तो प्रायः सब के घरों में हँसने-बोलने पहुँच जाते थे लेकिन सिवाय इसके कि वे अत्यन्त चीमड़ किसम के दुबले-पतले, बड़ी-बड़ी मूँछों के, जनेऊ में तालियाँ बाँधे, कमर में हमेशा धोती कसते तथा दाँतों को कुरेदनी से साफ करने के विशेष कुछ नहीं थे। रोज सवेरे नीम की दतौन तथा एक बाल्टी पानी लेकर वे अपने चबूतरे पर बैठ कर घण्टे भर तक गला खखारते हुए दतौन किया करते। इस के बाद जितनी बार मुँह धोते उतनी ही बार लोटा भी साफ किया जाता। लेकिन उनकी पत्नी को मुहल्ले में किसी ने नहीं देखा था। न वे कहीं जाती थी और न कोई और उनके यहाँ ही जाता था।

जिस समय माँ मुझे लेकर उनके घर पहुँचीं मास्टर साहब बीच के कमरे में टाट का एक टुकड़ा बिछाये, सामने लकड़ी के एक बक्से पर कागजपत्र फैलाये बर्रू की कलम से कुछ लिख रहे थे। देखते ही बोले,

——अरे माँ जी ! आपने क्यों कष्ट किया ?

माँ ने कमरे के बीचो बीच लगे एक खम्भे के पास मेरा टाट बिछा दिया।

——उदू ! खूब मन लगा कर पढ़ना, समझे ?

और मैंने गर्दन को पेट तक हिलाते हुए आश्वस्त होने के लिए माँ को स्वीकृति दे दी।

मास्टर साहब ने चारों तरफ के दरवाजे बन्द कर रखे थे लेकिन दरवाजे कृपण नहीं थे। वे आपस में इतने उदार थे कि बाहर की धूप, दृश्य सब काफी मोटे थक्कों में दिखता, अनुभवता था। इसलिए बन्द दरवाजों के बाद भी कमरे मे प्रकाश ही अधिक था। छत में मकड़ी के जाले काफी थे लेकिन जब कोई ऊपर चलता था तो खूब मिट्टी गिरती थी। ऊपर से चलने, बर्तनों के और कभी कोई शब्द मैंने नहीं सुना। हाँ, शाम के समय जब लड़के सेरी में हो-हल्ला करते होते तब मास्टर साहब के चीखने-चिल्लाने या फिर कभी किसी नारी-कंठ के हल्के आर्तनाद का स्वर सुनायी पड़ता लेकिन मास्टर साहब ने अपने घर का सम्बन्ध किसी भी घर से नहीं रखा था इसलिए नारी-कंठ का वह आर्तनाद भी अज्ञेय ही बना रहा। मास्टर साहब पढ़ा रहे होते तो जीने की साँकल बज उठती। वे उठकर जीने के पास पहुँच जाते और मैं मात्र खुसपुस ही सुन पाता।... वे मुझे कोई सवाल दे देते हैं और उसके बाद या तो अपना काम किया करते या फिर उसी टाट के टुकड़े पर पीठ टिका टाँग पर टाँग धरे दाँत कुरेदा करते। उसी प्रकार लेटे हुए उन्हें झपकी आ जाती तो टाँगें हिलते हुए धड़ाम से गिर पड़तीं। वे चौंक जाते।

थोड़ी ही देर हुई रहती कि दरवाजों की संधि में से नन्दन, गम्पू, जुगल तथा शेखर झाँकने लगते। किसी की नाक, किसी का मुँह, किसी की एक आँख उन संधियों में से झाँकती बड़ी हास्यास्पद लगती और मैं हँसने लगता। मुझे हँसता देख मास्टर साहब जो अभी अर्धनिद्रित से होते चौंक कर पूछते कि क्या बात है ? और तब तक नन्दन, गम्पू वगैरा दरवाजे के पार जोरों पर हँसते-भागते होते। दण्ड मुझे भुगतना पड़ता। दरवाजे से पीठ सटा बैठना पड़ता। और मास्टर साहब वैसे ही फिर लेट जाते। नन्दन वगैरा इस बार मेरी पीठ में, पेट में पीछे से चिकोटियाँ काटते या गुदगुदी चलाते। यह देख-सुन कर मास्टर साहब जोरों पर दरवाजा खोल कर धोती कसते हुए लड़कों को तर्जनी हिलाते हुए 'मार-मार कर भुस भर देने' की धमकी देते होते।

मैं पढ़ रहा हूँ। मास्टर साहब हिलती टाँगों के बावजूद भी खुर्राटें ले रहे हैं। बड़ी देर से सीटी बज रही है। लेकिन छुट्टी माँगने का साहस नहीं हो रहा है। अभी थोड़ी देर पूर्व पानी पीने जा चुका हूँ। बड़ी मुश्किल से छुट्टी दी थी। रोज शाम को बा से शिकायत की जाती है कि मैं पढ़ता कम हूँ और छुट्टी ज्यादा लेता हूँ।...

सीटी बज रही है।...मैं कहता हूँ,

——मास्टर साहब !

मास्टर साहब वस्तुतः सो रहे हैं।

——मास्टर साहब !

——क्या है ?

चौंक कर वह दाँत कुरेदने लगते हैं। और मैं छोटी अँगुली उठाकर पेशाब की छुट्टी का संकेत करता हूँ।

——मैं उन लोगों की सीटी सुन रहा हूँ जो तुम्हें बुला रहे हैं——बैठो, कहीं नहीं जाना।

मैं सवाल करने लगता हूँ। मास्टर साहब चश्मा चढ़ा पेंसिल की नोक बनाने लगते हैं। वह मुझे सवाल दिखाने के लिए कहते हैं। मैं स्लेट आगे बढ़ा देता हूँ। वह पूरी स्लेट काट देते हैं।

——यह सवाल किया है तुमने ? आठों आठी चौवन होता है ? मार-मार कर भुस

भर दूंगा, समझे ? यह मत समझना कि मैं किसी से डर जाऊँगा।—आठों आठी चौवन !! गधा कहीं का। बोलो आठ का पहाड़ा।

और मैं सिटपिटाया सा, आठ एकम आठ, आठ दूना सोलह बोलते हुए जैसे-जैसे आठों आठी के निकट पहुँचता जाता हूँ कि चौसठ के बजाय जाने कैसे चौवन ही कह बैठता हूँ और मास्टर साहब की जैसे लकड़ी की हथेली मेरे कान के पास, खुले पल्ले सी हठात जोर की हवा से आवाज करती हुई भिड़ जाए वैसे ही ठक कर उठती है और वे गरज उठते हैं,

—अब बताओ, आठो आठी...?

—चौ...ौ...ौ सठ !!

और वे वितृष्णा में स्लेट फेंकते हुए मुझे देते हैं और मैं विवशता में रोते हुए ले लेता हूँ।

मुझे मार खाते देख नन्दन वगैरा बिना शोर किये दरवाजे में से झाँक कर चुप-चाप खिसक जाते हैं।...सीटी फिर बजने लगती है। मास्टर साहब पगथली सहलाते हुए सो गये हैं। मैं इस बार सचमुच पेशाब की छुट्टी चाहता हूँ। काफी देर हो जाती है। मैं हौले से पुकारता भी हूँ लेकिन मास्टर साहब लम्बे खुर्राटे भरते हुए सो रहे हैं।...मैं सचमुच छुट्टी चाहता हूँ।...मैं अपने को भरसक रोकता हूँ।...मैं फिर उन्हें पुकारता हूँ। वह जाग जाते हैं। लेकिन 'बैठो, कहीं नहीं जाना' कहकर लेटे ही लेटे पेंसिल को घुमाते हुए देखने लगते हैं कि वह ठीक गोल कटी है कि नहीं।...मेरे लिए अब सचमुच अपने को रोकना कठिन हो रहा है।

—मास्टर साहब !

और वही अँगुली ऊँची किये छुट्टी माँग रहा होता हूँ। वह मुझे इस बार जोरों पर डाट देते हैं।...मैं सवाल में ध्यान लगाना चाहता हूँ लेकिन...।

—मास्टर साहब ! बहुत जोर से आ रही है।

—चुप !! कभी हगना, कभी मूतना...पढ़ने आये हो कि...

और अब रोकना मेरे लिए संभव नहीं है। मैं...मैं...अनुभव कर रहा हूँ कि..। मैं रो देता हूँ। मास्टर साहब मुझे मुर्गा बनने के लिए कहते हैं। मैं रोते हुए खड़ा होता हूँ।...और गीले टाट तथा गीला फर्श देख वह आगबगूला हो जाते हैं। दो चाँटे रसीद करते हैं। और घर से किसी को बुला लाने का आदेश मिलता है। मैं गीली धोती पैरों में झुलाये घर पहुँचता हूँ।

बेचारी माँ मास्टर साहब का गीला फर्श खुरचती हैं तथा ताजे गोबर से लीपती हैं। लेकिन जब मास्टर साहब मेरी शिकायत करते हैं कि मैं पढ़ता नहीं हूँ बल्कि सिर्फ उनको परेशान करता हूँ तो माँ की वे आग बरसाती हुई आँखें मुझे अभी भी याद हैं कि उसके आगे मास्टर साहब और कुछ नहीं कह सके थे।

और नन्दन, गम्पू, जुगल, शेखर तथा मैं बेर के नीचे बैठे हुए पतंग के लिए मंजा तैयार करते हुए प्रसन्न होते हैं कि अब किसी मास्टर साहब का कोई डर नहीं।

पतंग।

इस शब्द मात्र से आकाश में विभिन्न रंग-वर्ण खिलखिला कर तैरने लगते हैं। जिस आकाश को छूने को मन आकुल रहता है उसे ही पतंग कैसे सहज छू आती है। लेकिन मुझे पतंग उड़ाना नहीं आता। पतंग को ऊपर उड़ाने का काम मैं ही किया करता हूँ। दोनों हाथों में पतंग थाम गम्पू के इशारे के लिए तैयार रहता हूँ कि वह कहे तो फौरन उचक कर पतंग को हवा में खूब ऊपर उछाल दूँ। और जब पतंग, अभी भी जो हाथों में थी, देखते-देखते सिर के ऊपर से होते हुए पनचक्की की आवाज करती पतली चिमनी के ऊपर एक कोण बनाकर यती महाराज के पीपल के ऊपर आखिरी धूप को भी अपने साथ आकाश में लिये जा रही होती है तब मन जाने कहाँ जाने को करता है।...और उसके बाद पतंग छोटी, छोटी, बहुत छोटी होती जाती है। मैं चकरी घुमाता जाता हूँ और गम्पू पतंग को ढील पर ढील दिये जाता है और पतंग, आकाश हो जाती है। केवल डोर बड़ा सा झोल खाकर ऊपर आकाश में उठी हुई होती है लेकिन उसके बाद डोर, भी जैसे पतंगको खोजते आकाश

में विलीन हुई रहती है।...पतंग को गम्पू अपने सहन के खंभे में ले जाकर बाँध देता है। मैं आश्चर्य से देखता रहता हूँ कि क्या पतंग रात भर आकाश में ही उड़ती रहेगी ?...गर्मियों की, धुली आँख सी प्रसन्नमना रात्रि। एक-एक नक्षत्र सीप सा उजला। बिस्तरे पर पड़ा-पड़ा प्रयास करता हूँ कि किसी चमकदार नक्षत्र के आलोक में पतंग दिख ही जाए।...मैं आकाश से रात भर निर्मल बने रहने की मन ही मन अस्पष्ट प्रार्थना करता होता हूँ।...नींद में लगता है जैसे किसी चमगादड़ का पंख पतंग से उलझ गया है और पतंग घायल कबूतर सी लथड़ाती हुई नीचे टूट कर गिर रही होती है...लेकिन सवेरे का आकाश भी कितना उदार होता है कि अपनी सारी नीलिमा खोल देता है।...और पतंग, एक अनडूबे रंगीन नक्षत्र सी बड़ी शांति से ऊपर उड़ती हुई एक बिंदी बन कर चमक रही होती है।...और मैं हल्के छलके नेत्रों से आकाश के प्रति आभार में भर उठता हूँ।

दोपहर।

गुब्बारे की तरह खूब फूली सी और बड़ी सी होती है। जलती दोपहरी में किसी गहरी नीम छाया में वैसे भी गरमी नहीं लगती लेकिन सेठ केसरीमल की वह नीम तथा उनका वह पुराना हौज हम लोगों के लिए आगरे के किले से अधिक ठण्ढा था। सेठ जी का लड़का पप्पू बताता था कि इस हौज में कभी हाथी नहलाये जाते थे।

हौज में ईंटों की दीवारें खड़ी कर उन पर रंगीन कागज चिपका कर तीन भागों में विभक्त कर लिया गया है। पीली निमौलियों से रक्षा के लिए कच्ची-पक्की फूस भी चढ़ा दी गयी है। यही हम लोगों की सामूहिक शैतानियों का केन्द्र है। हम में शेखर सबसे बड़ा था लेकिन वह मूर्ख अधिक था तथा साथ ही गर्मियों में प्रायः अपनी ननिहाल चला जाया करता था। जुगल, शेखर से कुछ ही छोटा था लेकिन इतना दुबला-पतला था कि निरीह अधिक लगता था। मुझे उससे प्रायः चिढ़ होती थी क्योंकि वह थूक के झाग बनाया करता था। नन्दन, मुझसे और गम्पू दोनों से बड़ा था लेकिन नन्दन की माँ ने अपने इस इकलौते लड़के को स्वस्थ

से अधिक नाजुक बना रखा था इसलिए साहसी नहीं था बल्कि चालाक था। गम्पू, जो कि मुझसे बड़ा था, गोल नाक-नक्शे का, नाटा सा अत्यन्त दुःसाहसी था। उसकी माँ अत्यन्त चिड़चिड़े स्वभाव की बड़ी क्रूर महिला थीं। वे नन्दन की मामी थीं। आये दिन गम्पू को वे चूल्हे की जलती लकड़ी या कपड़े धोने के डण्डे से मारती रहती थीं लेकिन गम्पू को किसी का डर नहीं था। प्रायः हाथ-पैर में कहीं न कहीं पट्टी बँधी रहती थी। निश्चय ही गम्पू, अपनी छोटी अवस्था के बावजूद भी हमारा एकमात्र नेता था। एक प्रकार से यह हौज, गम्पू का ही अभेद्य दुर्ग था। मैं इस सारी मण्डली का सबसे कमजोर सदस्य था--आयु एवम स्वास्थ्य दोनों ही दृष्टि से। लेकिन मुझे नन्दन की कृपा एवम गम्पू की अनुकम्पा दोनों ही एक साथ प्राप्त थे। चूंकि गम्पू का यह दुर्ग, सेठजी के मैदान में था इसलिए पप्पू भी कभी-कभी आ जाता था। पप्पू, बड़ा ही सुन्दर था। वह हम लोगों की इस मण्डली में शामिल होने के लिए सब कुछ करने को तैयार रहता था। जिसका प्रमाण यह था कि हमारे इस दुर्ग के लिए पुरानी बग्घी की चमड़े की सीटें वह यहाँ उठवा लाया था। हमारे इस केन्द्र का सारा खर्च भी उसे ही उठाना पड़ता था जैसे--गोलियाँ, पान, कभी-कभी मिठाइयाँ तक वह लाता था। जब गम्पू ने इस दुर्ग के सदस्यों के बीच बीड़ी-सिगरेट का प्रवेश करवाना चाहा तो पप्पू उसके लिए भी तैयार हो गया था, यद्यपि यह बहुत बाद की घटना है, फिर भी बेचारे पप्पू को सदस्यता की प्राथमिकता से अधिक अंतरगता नही प्राप्त हो सकी इसका कारण मैं नहीं जानता कि ऐसा क्यों उसके साथ हुआ क्योंकि इस मामले में गम्पू ही अंतिम निर्णायक था।

लेकिन जिस दिन, और प्रायः ऐसा होता था, गम्पू को उसकी माँ उसकी खासी मरम्मत कर जब ऊपर के कमरे में बन्द कर देती तथा ताला डाल देती थीं तो हम लोग निराश्रित दो-दो के झुण्ड में बिखर जाते थे।

ऐसा ही एक दिन है। नन्दन और मैं खेल रहे हैं। अभी-अभी हम दोनों गम्पू के घर से आये हैं। गम्पू की माँ ने आज नन्दन की भी खूब खबर ली। मैं तो बाहरी दरवाजे के पास खड़ा था इसलिए नन्दन को ही मामी की सारी फटकार सुननी पड़ी थी। असल में पिछले दिनों से स्कूल जाते-आते नन्दन ने गम्पू से कहा कि अगर वह मेरा और नन्दन का बस्ता भी उठा कर लाये-ले जाए तो दो पैसे

माहवार दिये जाएँगे। गम्पू जाने क्यों इस बात से सहमत हो गया था और वह लाता-ले जाता रहा था। एक दिन जब जुगल ने भी उसे अपना बस्ता उठाने के लिए कहा तो गम्पू बिगड़ उठा। जुगल बोला,

—तुम इन दोनों के बस्ते क्यों उठाते हो ?

—हमारी मर्जी।

—बड़ा मर्जी वाला आया है। तू इन दोनों का नौकर है।

—मैं नौकर हूँ ?

—हाँ, हाँ, नौकर है।

और गम्पू ने सारे बस्ते उठाकर फेंक दिये। सड़क से एक पत्थर उठाया और कसकर जुगल को मार कर गम्पू भाग निकला। जुगल लहूलुहान हो उठा। दिन भर गम्पू को खोजा गया। कहीं पता न चला। पूरी रात बीत गयी और गम्पू कहीं नहीं मिला। दूसरे दिन सवेरे से रमण दादा उसे ढूँढने निकले। और बड़ी मुश्किल से वह उन्हें जीन वाली बावड़ी में सोया हुआ मिला। उसके बाद न केवल उसकी माँ ने बल्कि उसके पिता ने भी उसे घर की बीच वाली चौखण्डी में बने दीपाधार से बाँध कर इस तरह मारा जैसे किसी पशु को मारा जाता है लेकिन गम्पू निर्लिप्त भाव से मार खाता रहा। जिस समय नन्दन पहुँचा, गम्पू के पिता ने, जो कि नन्दन के मामा होते थे इतना फटकारा कि नन्दन भाग खड़ा हुआ। उसके बाद गम्पू की माँ सड़क की तरफ की एक खिड़की के पास आकर जोर-जोर से रोने बैठ गयी कि हाय, हाय कैसा जमाना आ गया है कि उसके लड़के को नौकर की तरह ये लोग व्यवहार में लाते हैं। —केवल उदास दुपहरी, खूब गरम, तेज चिलचिलाहट और पकी आँच सा मुहल्ला जिसे सुई की तरह छेदता हुआ गम्पू की माँ का थका रोदन-स्वर।

नन्दन और मैं बड़ी देर तक मौन बने रहकर आँखों ही आँखों में परिस्थिति का विश्लेषण करते रहे। खिड़की की आड़ में बैठे हुए एकदम मौन इसलिए थे कि जैसे मामी की वह अकेली दुखती रग सी रिरियाती आवाज हमें ही खोज रही हो। हम सोचते बैठे रहे कि गम्पू अभी भी दीपाधार से ही बँधा होगा। ये मामी ही उसे अपराह्न होने पर एक बार फिर खूब कसकर मारेंगी और तब खोलेंगी।

नन्दन के पिता इन्दौरी पगड़ी पहनते हैं जिसके साथ धोती पर पारसी लम्बा कोट तथा उस सारंगपुर का जरी का दुपट्टा। बाँये कान में ऊपर एक हरा नग लपकता हुआ। खिजाबदार घनी मूँछें। जब वे सड़क चलते हैं तो किसी नगर-सेठ से कम नहीं लगते। इतना मधुर व्यक्तित्व लेकिन कहीं कुछ उनके बोलने,

देखने में ऐसा भी था कि सब सहम कर छिटक जाते थे। पंडित लोकनाथ रावल, ब्राह्मण से अधिक बनिये मालूम होते थे। वे जिस दूकान पर दस वर्ष की अवस्था में बहीखाता लिखने बैठे थे आज वे उसी दूकान के सबसे बड़े मुनीम थे। उनका आचार-व्यवहार ऐसा था कि लोग उन्हें ही सेठ साहब समझते थे। स्वयं नये सेठ उन्हें पिता की तरह मानते थे। वैसा ही आदर एवम सम्मान भी करते थे। सवेरे नौ बजे दूकान जाते तथा दोपहर में आ जाते। खाना तथा विश्राम कर अपराह्न में फिर कुछ देर को दूकान चले जाते और वहीं से सीधे मन्दिरजी। मन्दिरजी से लौट कर खाना खाकर एक बार फिर यों ही घूम आने के ख्याल से दूकान हो आते। मलमल की गुम्बदी कनात में जलती समई के प्रकाश में गाव तकिये से बैठे हुए पंडित लोकनाथ रावल सफलता एवं परितोष की मूर्ति थे। जीवन उनके लिए गरवट (गाड़ी का रास्ता) था जिस पर वे अनुभवी बैल की तरह बिना किसी विद्रोह या व्यतिपात के जुए को जुए की तरह मानकर सम्मानपूर्वक चलते चले जा रहे थे। वे उन भाग्यशाली बैलों में से थे जो भारवाहक होते हुए भी किसी राजमार्ग पर ही चलते होते हैं। ऐसे बैलों के गले में पीतल की सिकड़ी, गलघंटी आदि सब कुछ अलंकार भी पहना दिये जाते हैं। जो जानते हैं कि जब जुए से कोई निष्कृति नहीं है तब क्यों नहीं उसे ढोया ही जाए ? गत चालीस वर्षों से उनके नियम में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। धोती वे जिस तरह अपने पिता के सामने पछारते रहे होंगे वैसे ही आज वे अपन तीन-तीन पुत्रों के सामने पछारते हैं। जो गायत्री-मंत्र यज्ञोपवीत के अवसर पर गुरु ने सिखा दिया था उसे वे बिना समझे-बूझे आज भी निष्ठा के साथ पाठ करते हैं। पुष्टीमार्गी वैष्णव होने पर भी रोज रात को भ्रष्ट अवधी उच्चारण में रामायण का पाठ वे अनिवार्यतः करते हैं। कभी भी लकीर से हटकर कोई काम करने में उनका विश्वास ही नहीं था। प्रति वर्ष गर्मियाँ आने के पूर्व वे सेठ की या किसी की अमराई में चवन्नी हिस्सा खरीद लेते और फलस्वरूप नन्दन के घर पूरी गर्मियों में आम की पालें गमकती रहतीं। जमींदार न होने पर भी कई गाँवों में इकन्नी-दुअन्नी का हिस्सा लेकर क्रमशः उन्होंने सामाजिकता प्राप्त की थी। फलतः जैसे-जैसे वे सफल होते गये घर की अनेक आल्मारियाँ एक-एक करके उनके तालों से भूषित होने लगीं, जिनकी तालियाँ नन्दन की माँ के गले में पड़े काले धागे में बँधी रहतीं। वे एक आदर्श पिता थे जो किसी भी मूल्य पर अपने पुत्रों को भटकने देने में विश्वास नहीं करते थे। रात को दूकान से लौटकर बँगवई पर जब वे बैठे होते तब घर के सारे वयस्क सदस्यों का उपस्थित रहना आवश्यक होता था तथा इसी

बैठक में सदस्यों की व्यक्तिगत आलोचना, पारिवारिक संबंध-व्यवहार का विश्लेषण, सफलता-असफलता का लेखाजोखा आदि लिया जाता। बहुओं का प्रतिनिधित्व 'सासमाँ' देहरी में बैठ हुए करतीं। बहुएँ उनकी पीठ की आड़ में बैठ हुए सुनती रहतीं। उसके बाद ताँबे की कलशी से वैष्णवी ढंग से पानी गटकते हुए वे उठ जाते। बैठक उठ जाती।

नन्दन, ऐसे सफल पिता का समझदार पुत्र था। अपने नाम से वह कोई काम नहीं करता। पंडित लोकनाथ रावल के लिए सेठ जी निमित्त थे। नन्दन के लिए मैं निमित्त था। लेकिन यह बात तो मैं आज कह रहा हूँ या कह पा रहा हूँ जब हम इतनी दूर पहुँच कर तटस्थ होकर विश्लेषण कर सकने की स्थिति में हैं। तब ऐसा नहीं था। कोई भी बच्चा समझ-बूझकर चतुराई या मूर्खता नहीं करता। नन्दन भी यदि चतुर था तो उसके पीछ विचार-जनित सोद्देश्यता मानना नन्दन के प्रति ज्यादती होगी। वास्तव में हम अपने बड़ों की अनुकृति करते हैं। नन्दन के व्यवहार में सदा भरापन होता था जब कि मेरे व्यवहार में एक रीतापन। उसमें अधिकार का भाव होता था जब कि मुझ में निर्भरता या कहना चाहिए दयनीयता। काकीमाँ ने कह-कहकर मुझे सचेत किया था कि मेरी असली माँ मर चुकी हैं। मेरी माँ नहीं है, इस अनुभव न मुझे जीवन भर के लिए कहीं का न रखा। प्रत्यक नारी, दीदी को छोड़कर, मुझे एक अप्राप्य लालसा सी लगने लगी। मेरे और नन्दन दोनों के लिए नारी एक दूध भरा थन थी लेकिन वह साधिकारी बछड़े की भाँति पेट में सिर मारते हुए उसे पी लेता था जब कि मैं ग्वाले पर निर्भर करन वाला सब से छोटा अनियमित बंदीवाला था जिसका कोई अर्थ या महत्व नहीं होता। मैं दिनोंदिन हीन-भावना से ग्रस्त रहता। जो माँ थीं, वे अभिभाविका ही थीं। बा के प्रति मैं स्पष्ट बहुत बाद में हुआ। पिता भी कोई संबंध होता है इसे समझने के लिए मुझे पिता की मृत्यु तक रुकना पड़ा। दीदी, मेहताब के पटाखे सी मोटी-मोटी सी छूटकर तेजी से जलती जा रही थीं। मैं तब क्या जानता था कि यह मेहताब इतनी तेजी से जल कर, बुझ कर मुझे इतना एकाकी कर जाएगी कि मैं मात्र दयाजीवी हो जाऊँगा।

इस प्रकार नन्दन और मैं अपन वैषम्य को लेकर भाई से अधिक मैत्री के निकट थे। इसीलिए उसके मन में मेरे लिए अतिरिक्त भाव था जब कि मेरे मन में उसके लिए सिवाय समर्पित हो जाने के और क्या हो सकता था ? उसका भाव वस्तुओं में व्यक्त होकर मुझे जीत लेता था जब कि मैं अपने उदास नत्रों से अपनी अनभिव्यक्त भावना दिखाता और यह भी उतना ही जितना एक बच्चा जो कुछ

व्यक्त कर सकता था। अवश्य ही उन दिनों मैं व्यक्त करता रहा हूँगा तभी तो नन्दन अपनी सारी सर्वस्वता के बीच भी मेरे बिना अधरा हो उठता था।

नन्दन के पिता की पुरानी पगड़ी जो अब रँगरेज के यहाँ जाने वाली है, मैं उसे पहन लेता हूँ। गले में सारंगपुरी जरी का दुपट्टा डाल लेता हूँ और नन्दन मुझे घर के बाहर चुपचाप निकाल देता है। मुझे पंडित लोकनाथ रावल अर्थात काका जी की नकल उतारनी है। वे जिस तरह से दरवाजे की कल खोलते हैं, खाँसकर 'नन्दऽऽन' कहकर आवाज देते घुसते हैं उपरान्त खूंटी पर पगड़ी टाँग गले के दुपट्टे से हवा करते हुए बँगवई पर बैठते हुए प्रायः एक ही प्रश्न करते हैं,
—रोटला हुइ गिया ?
और तब नन्दन की माँ उन्हें पंखा देते हुए उत्तर देती हैं।

कमरे में सब लोग सो रहे हैं। नन्दन धीरे से दरवाजा खोलकर मुझे बाहर कर खुद माँ और भाभियों के बीच जाकर सोने का नाटक किये लेट गया। मैं वैसे ही कल खोलता हूँ। 'नन्दऽऽन' आवाज देता हूँ। भाभियाँ ससुरजी की आवाज सुन कर घवरा कर घूंघट निकाल भीतर की ओर भागती होती हैं। नन्दन की माँ असमय पति को आया देख तथा नींद में व्याधा के कारण किंचित खिसायी सी जब देखती हैं कि यह तो पति नहीं बल्कि मैं हूँ तो नन्दन सोये हुए से सहसा जागकर ठहाका मार खड़ा हो जाता है।

अन्धे फकीर की नकल उतारी जाती है।
—देऽऽऐऽमाऽऽल कीऽऽ रह
माई तेऽऽरा बऽऽच्चा जिये
देऽऽऐऽमाऽऽल कीऽऽ रह।

इसके बाद वह तिलकधारी साधू आता है जो, 'सुऽऽई . . . ता . . . . राम' कहता है। या फिर रोज शाम को आने वाले 'अलख निरंजन' वाले साधू की तरह वैसी ही भभूत लगाये बछिया के गले से घुंघरू खोलकर कमरे में बाँध घुटनों से बजाते हुए कंकड़ी के चिरौंजी दाने कंधे पर लटके थैले में भरे दिन भर 'अऽऽलख निरंजन' कहते हुए लोगों की नीद खराब किये रहते है लेकिन काकीमाँ मुझे ही इस सब के लिए दोषी ठहराती हैं।

सेठ केसरीमल का लड़का पप्पू आँख बाँध कर सब को पकड़ रहा है। बाकी हम सब उसके पास पहुँच कर उसे अपनी ओर आने को बुलाते हैं। वह बेचारा दयनीय बना, टटोलता हुआ पकड़ने की व्यर्थ चेष्टा में घूम रहा था। नन्दन के घर के ठीक सामने गम्पू का घर है। गम्पू के घर का गंदा हौज ऐन सड़क पर है जिसमें गर्मियों में कुत्ते तथा कभी-कभी सूअर आकर नहा जाते हैं। उस हौज को लेकर बड़े लोगों में अनेक बार तनातनी हुई है लेकिन वह हौज किसी-किसी दिन पूरे मुहल्ले में दुर्गन्ध ही दुर्गन्ध भर देता था।

जाड़े की शाम। हम लोग आँख-मिचौनी का यह खेल खेल रहे हैं। जाने कैसे नन्दन के मन में यह बात उठी और उसने मुझे कहा कि वह हौज के ऊपर गम्पू के चबूतरे पर जाकर खड़ा होगा और मुझे पप्पू को छेड़ते हुए उधर ही लाना है। मैं कुछ समझे बिना, पुकारते हुए पप्पू को हौज की तरफ ले गया। पप्पू अभी हौज के किनारे पहुँच कर सम्हले कि नन्दन जोरों पर चीख दिया। फलतः पप्पू आँख पर पट्टी लिये उस गंदे हौज में डुबकियाँ मारने लगा। हौज की गहराई से हम परिचित नहीं थे लेकिन दो-एक बड़े लोग न दौड़ते तो उस दिन पप्पू संभवतः डूब ही जाता। नतीजा यह हुआ कि उस रात नन्दन के बड़े भाई ने मुझे काफी मारा। जीवन में पहली बार मार खायी। मैं कहता ही रहा कि मैंने नहीं किया लेकिन मार खानी ही पड़ी। . . . शायद उसके बाद ही उस हौज पर एक मजबूत ढक्कन लगा दिया गया। . . . मैंने उसके बाद कई दिनों तक नन्दन से बात नहीं की। प्रायः यह हुआ कि स्कूल जाते समय भी आगे-पीछे हो लेते। शाम को अपने-अपने चबूतरे पर बैठे हुए दोनों बोलने के लिए लालायित रहते लेकिन बोलते नहीं। इस न बोलने ने हमें एक दूसरे के और अधिक निकट ला दिया। तो, क्या न बोलने पर व्यक्ति निकट आ जाते हैं ?

गम्पू के उस दुर्ग में बहुमत से चोरी करने का प्रस्ताव स्वीकृत होता है। प्रयोजन केवल यह था कि हमें बाजार की मिठाई-नमकीन आदि नहीं खाने दिया जाता है जब कि वे कितने स्वादिष्ट होते हैं इसका पता हमें अभी नहीं है। प्रस्ताव का विरोध भी हो सकता है यह मैं नहीं जानता था लेकिन शेखर ने न केवल विरोध किया लेकिन स्वीकृत हो जाने पर 'वाक आउट' तक किया। योजना थी कि सब दो-दो आने चुरा कर लाएँगे। मुझ में इस चोरी के प्रति केवल उत्साह था। जिसका कारण यह था कि किसी के घर की दूध की चीजें तक न खा सकने वाले संस्कार के लिए बाजार की पानी की खूब मिर्चों वाली चीजें बहुत महत्व रखतीं थीं, बल्कि कहना चाहिए आकर्षण रखती थीं। उस दिन की घटना मैं कभी नहीं भूल पाया हूँ जब सेठ केसरीमल जी के यहाँ एक उत्सव में बाजार की मिठाई-नमकीन खा ली थी। कितनी स्वादिष्ट थीं। लेकिन घर आने पर जब पूछा गया कि क्या-क्या खाया तो बता दिया। तब तक मिठाई में क्या अपरस या 'अनअपरस होता है यह नहीं मालूम था।...और उसके बाद दिन भर उपवास रखवाया गया था। हिमाद्री करवायी गयी थी। गोमूत्र पीना पड़ा था। उत्सव का सारा मजा किर-

किरा हो गया था। ...और आज हम सब ने साहस के साथ एक प्रस्ताव पास किया। संभवतः पहली बार लगा कि हम अपने तई भी कुछ निर्णय कर सकते हैं।

माँ, आटे-दाल की मटकियों की उतरेल या बन्दनवार में पैसे छुपाकर रखती हैं। जिनमें पूजा या सार्वजनिक भोज में मिली सुपारियाँ, इलायचियाँ, दक्षिणा आदि होती हैं। नन्दन और मैं ने एक दूसरे की झुकी कमर पर चढ़ कर पैसे चुराने में मदद की और इस प्रकार हम दोनों ने सम्मिलित चार आने चुराये।

तालाब जाने के लिए चौक में जो शाही फाटक पड़ता है वहीं नन्दन और मैं छुप जाते हैं। तय यही हुआ है कि जुगल मिठाई खरीदेगा और गम्पू नमकीन। नन्दन के पिता ऐन चौक में ही बैठते हैं इसलिए उसे खरीदने का काम नहीं दिया गया और चूंकि मैं छोटा हूँ इसलिए प्रश्न ही नहीं उठता। दिया-बत्ती की बेला हो रही थी फिर भी हम लोग उस पुराने बड़े शाही फाटक के पीछे साँस रोके प्रतीक्षा कर रहे थे। हमें डर यह था कि यदि किसी ने भी हमें इस तरह यहाँ देख लिया तो पकड़े जाने का भय था। दरवाजे की खिड़की की एक चीर से हम पूरा चौक देख सकते थे। नन्दन के पिता दूकान पर बैठे हुए अपनी लाल पगड़ी तथा दुपट्टे में, बातें करते हुए साफ दिखलायी दे रहे थे। दरवाजे के ऊपर, बहुत ऊपर मधुमक्खी का एक बड़ा सा छत्ता लटक रहा था। मै बार-बार उसे देखते डर रहा था कि अगर यह टूट पड़े तो क्या हो ? और गम्पू तथा जुगल आते दिखे।

यह पहले ही सोच लिया गया था कि अधिक से अधिक दो ही साथ-साथ जाएँगे इसलिए हमें वही फाटक के पीछे छोड़ कर वे दोनों आगे बढ़ गये। जब वे सत्य-नारायण के मन्दिर के आगे निकल गये तब हम दोनों तेजी से निकले और बिना किसी तरफ देखे बढ़े।

बस्ती समाप्त होने पर जो खुला मैदान के है वहाँ एक मीठे पानी का कुआ है जहाँ औरतें अभी भी पानी भर रही थीं। हमने देखा कि मैदान के सिरे पर तालाब का जो ऊँचा बाँध है उस पर जुगल और गम्पू तेजी से चढ़ रहे हैं। दोनों कितने छोटे लग रहे थे। अँधेरा काफी होता जा रहा था। पश्चिम में पारदर्शी धुली नीलाहट थी। वहीं साँझ-तारा चमेली के एक एकान्त फूल सा फूट आया था।

तालाब का बाँध खूब चौड़ा था जिसके सिरे पर इमली, बेल आदि के पेड़ खड़े हुए थे। दाहिने हाथ बाँध पर से रास्ता गिरिवर के हनुमान जी के लिए चला जाता है। उसी रास्ते पर कोई गाड़ी धूल उड़ा रही थी। बाँये हाथ सिरे पर महालक्ष्मी का मंदिर तथा बगीचा है जहाँ श्रावण में औरतें सार्वजनिक झूला डाल कर उत्सव मनाती हैं। लेकिन इस समय केवल तालाब के जल के हिलने के शेष सब निर्जन मौन था। सामने तालाब के पार बोहरा सेठ की जीन की अकेली चिमनी पश्चिम आकाश मे काफी देर तक दिखती रही। एकान्त विस्तार फैल कर भयावह हो गया था। घाट के पत्थरों से पानी टकरा कर छपछप करता साक्षी दे रहा था कि नही मुझ में अभी तक शब्द हैं, मैं एकान्त नहीं हो पाया हूँ। गप्पू नहाने का प्रस्ताव रखना चाहता था लेकिन बहुमत ने विरोध किया इसलिए खूब जोरों पर हाथ-मुँह धोया गया।... मैंने अनुभव किया कि जितना कुछ भी प्रकाश सीढ़ियों पर हम लोगों के बीच बच गया था वह धीरे-धीरे जैसे सीढ़ियाँ उतरते हुए तालाब में डुबकी लगा गया। और जब खा-पीकर हम उठे तब जैसे दोनों में मिठाई का आभास मात्र भी नही रह गया था वैसे ही कहीं प्रकाश अनुभव करने के लिए भी नहीं रह गया था। अँधियारी रात थी। हवा उस घिरते अंधकार को शब्द दे रही थी। सहसा मुझे लगा कि अब क्या होगा? और पैर काँपने लगे। घर के लिए महालक्ष्मी वाला रास्ता पास था लेकिन सुनसान अधिक था।

जिस समय घर पहुँचे सेरी में कुत्ते भौक रहे थे। अनायास ही जैसे-जैसे घर पास आता जा रहा था ठण्ढा पसीना छूट रहा था। अवचेतन में लगा कि यह उचित नहीं था। और जैसे ही नन्दन के घर के कोने पर जलती म्युनीसीपाल्टी की लालटेन दिखी पैर मन-मन भर के भारी हो उठे।

नन्दन के चबूतरे पर बहुत से लोगों की आवाज आ रही थी। कहीं हम सब को लग गया कि ये बातें करने वाले कौन लोग हैं। कम से कम मैं, संभव होता, तो अपने को वहीं, उस अँधेरी सेरी में वैसे ही छोड़ कर दूर कहीं भाग जाता जैसे हम पुरानी धोती उतार देते हैं। बात इतनी स्पष्ट मेरे दिमाग में तब नहीं थी लेकिन कुछ आभास ऐसा ही था। मैं पिता की, काका जी की, गप्पू के पिता की, जुगल के पिता की, नन्दन के दोनों बड़े भाइयों की आवाज ठीक से सुन पा रहा

था । वे हमारी ही चर्चा कर रहे थे । . . . और गली के सिरे पर खुलने वाली अपनी खिड़की से सेठ केसरीमल जी ने पूछा,

—क्यों रावल जी ! लड़कों का पता चला ?

—अभी तो पता नहीं चला । सब दूर खोज लिया । नदी पर भी गये थे । रुद्रेश्वरी भी हो आये । परेड और पुल तक हो आये ।

—ये गली में कौन है ?

और सेठ केसरीमल ने म्युनीसीपाल्टी की मंद लालटेन मे हम लोगों को देखने की चेष्टा की । कोई निष्कृति नहीं थी । एक लालटेन ने इतने बड़े अँधेरे के रहस्य को झुठला दिया था । और हमें आगे बढ़ना पड़ा । चबूतरे पर जल रही तीन चार लालटेनें एक साथ ही ऊपर उठीं और विस्मय, क्रोध तथा अनाश्वस्तता का एक क्षण जैसे सदा को खिचा और हमेशा के लिए हमें इतनी दूरी दे गया कि जैसे हम स्वर्ग हों और सौर-मण्डल हम तक पहुँचने के लिए तारा-ग्रहों की लालटेनें लिए हमारी ओर अग्रसर हो । और हम अप्राप्य से बने कही हैं, जिसे कोई छू नहीं सकता । क्षण कैसा शाश्वत लगा । न हमें उस क्षण भय, चिन्ता . . . कुछ तो नहीं हुआ । एक सम्बन्धहीन निरपेक्षिता में बँधे हम खड़े रहे । . . . लेकिन इस स्थिति को भेदने वाली पहली दृष्टि, जिसने हमें लौ की भाँति कँपा दिया, वह थी नन्दन के पिता की दृष्टि । वह दृष्टि, पहला प्रकाश थी जो एक क्षण की अभेद्य दूरी लाँघ कर हम तक पहुँची थी । वह दृष्टि, अगत्या बोली,

—इत्ती रात में कहाँ से आ रहे हैं आप लोग ?

—कही नहीं . . . यही थे ।

नन्दन सिटपिटाते बोला ।

—कहाँ ? मण्डी वाली या नीमवाड़ी वाली बुआजी के यहाँ ? कहाँ से आ रहे हो ?

—नहीं . . . यहीं तक गथे थे ?

—कहाँ थे ? ठीक-ठीक बताओ ।

—गोशाला वाले मैदान में खेल रहे थे ।

—और वो मिठाई किसने खायी ?

और हम सब ने देखा कि शेखर अपने बकील पिता के साथ कोने में दुबका बैठा है । तो, अब उत्तर देना व्यर्थ था । . . . और गम्पू के पिता हाथ की छड़ी उठाकर कर लपके । गम्पू की पीठ पर सड़ाक से मारते हुए चीखे,

—साला ! बजार की चीज खाये ?

और. . .और इसके बाद जुगल-गम्पू अपने-अपने घर पिटते हुए ले जाये गये। आज पहली बार हमें खंभों से बाँधा गया। नन्दन और मैं अलग-अलग खँभों से बँधे पीटे जाने लगे। जब इन लोगों को मालूम हुआ कि हमने इसके लिए पैसे भी चुराये थे तब तो बड़े दादा और रमण दादा ने खूब मारना शुरू किया। मेरे पिता और काकाजी दोनों खड़े-खड़े देखते रहे। जब काफी हो गया तो काकी माँ ने किसी प्रकार रो-धोकर हमें छुड़वाया।. . .उसके बाद दूसरे दिन सार्वजनिक रूप से हमारी शुद्धि के आयोजन के लिए गामोठ महाराज बुलवाये गये।

हाथी-दाँत के बूरे सी कार्तिकी चाँदनी रात है। दशहरे से दिवाली के बीच की ये रातें मलमल-सी होती हैं और इन्हीं में लड़के घर-घर 'छल्ला बोलो' गाते हुए चन्दा इकट्ठा करते-फिरते हैं। लड़कियाँ मुहल्ले में ही कच्चे घड़ों में दीये रख गाती फिरती हैं। प्रायः लड़के, लड़कियों के इन घड़ों को फोड़ दिया करते हैं। शोर होता है। लड़के भाग निकलते हैं। लड़कियाँ झल्लाती हैं और आँधार-चाँदनी में तिरस्करणी बनी सेरी खिलखिला उठती है। सेरी के मुहाने पर बड़ी सड़क तथा बड़ी सड़क के पार खूब खुला सा मैदान जिसमें चाँदनी ही चाँदनी होती है। ऐसा लगता है जैसे हमारी सेरी बाँस की नली है और चाँदनी की मलमल उसमें में से होती हुई इस मैदान में आकर फैला दी गयी हो। और लड़के गाते होते हैं,

—छला बोला की बोल की रे
भैंस को बोलो सींग
जीमे बैठ्यो नाथू दरजी, तो
टोपी सीवे तीन...

छल्लो बोलो छल्लो रे !!

और हमें पैसे देकर आगे जाने को कहकर घर बन्द कर लिया जाता है। पूरी सड़क, पूरा मैदान, मैदान के सिरे वाली पीर की दरगाह, जहाँ से कतल की रात को सफेद घोड़ों पर पीर साहब की सवारी निकलती है, सब एक अलभ्य गोरी शांति में डूबे होते हैं। एक उत्साह हममें होता है कि दिवाली के बाद इन पैसों से हम सामूहिक गोठ मनाएँगे। और वह भी डूँगरी पर।

डूँगरी।

इधर के पठारी प्रदेश का सबसे ऊँचा शिखर। जहाँ सबसे पहले बादल-दल उतरते है। डूँगरी अपनी मीलों लम्बी बाँहें फैला कर पश्चिम में खड़ी है। दूर से वह गर्वीले गरुड़ सी लगती है जैसे मीलों लम्बे अपने डैने फैलाये गरुड़ आकाश में अपनी चोंच ऊपर उठाये है। उस एकान्त शिखर पर का विशाल वटवृक्ष पारिछत्र सा लगता है। वहाँ जाना साहसिकता है क्योंकि चार मील की पैदल यात्रा तथा दो हजार फुट की चढ़ाई। गिरिवर वाला रास्ता ही डूँगरी की ओर चला जाता है। छोटी-छोटी पहाड़ियों के बीच बरसाती नाले जिनके किनारे-किनारे हम जा रहे होते हैं। नाला सूखा पड़ा है लेकिन उसके गतिपथ पर अभी भी कुछ बहने की झाँई आती है। यह झाँई जल की नही वरन कल जो वह गया उस जल की स्मृति की होती हैं। नन्दन के पिता की दूकान के नौकरों के सिरों पर गोठ का सारा सामान लदा हुआ है। मेरे पिता के अलावा और सब के पिता साथ में हैं। नन्दन के बड़े भाई अपना हारमोनियम तथा बाँसुरी लाना नहीं भूले। और सब सम्पूर्ण थे केवल मैं नहीं। बा वृद्ध थे इसलिए आये नहीं। पिता दिन भर कचहरी जाते हैं इसलिए वे आ ही नहीं सकते थे। कहीं मैं उपेक्षित अनुभव कर रहा हूँ इसलिए सूखे नाले से ढेर सी सीपियाँ बटोरता होता हूँ। ...और ज्यों-ज्यों हम डूँगरी की खास ऊँचाई पर चढ़ रहे होते हैं धरती, पेड़ आदि फैल कर खुलते जा रहे हैं। पेड़ों पर टिका आकाश अब सुदूर एक विशाल गोलाई में नीला क्षितिज बन कर विराट हो गया था। कस्बे के पेड़, बड़े-बड़े

मकान, मन्दिरों के शिखर, इस सम्पूर्ण के परिपार्श्व में अमहत्व पूर्ण लग रहे थे। प्रत्येक ऊँचाई विस्तार देती है। लेकिन उक्त ऊँचाई पर जाने में, पहुँचने में एक व्यथा है जो पैरों से आरंभ हो कर मन में समाहित हो जाती है। ऐसी किसी ऊँचाई पर मन निरापद नहीं होता। अपने ही सामने जब सम्बन्धहीन 'स्व' खड़ा हो जाता है तो हम उसका सामना नही कर पाते। कारण कि जीवन भर हम दूसरों को देखने के आदी होते हैं। दूसरों के हम अभ्यस्त होते हैं लेकिन नितान्त अपने को देख कर भय लगने लगता है। . . . ऐसी ऊँचाई विश्वास भी देती है कि क्या हम ही थे जो सामने वाले विस्तृत क्षितिज से चले थे और यहाँ पहुँचे; जहाँ हमारे चारों ओर परिक्रमा देता विस्तृत क्षितिज करधनी सा फैला हुआ है ? और हमें कितनी तृप्ति होती है कि इस क्षण हम ही हैं जो इस देवप्रियी आकाश के सबसे अधिक निकट हैं। हमें ही अभी-अभी छूकर अंतिम किरण गयी है और एक महान समाप्ति सा सूर्यास्त हुआ है। . . . लगता है हमारे ही चरणों से क्षितिज पर्यन्त यह धरती, खेत, दृश्य, हवा निसृत हो रहे हैं। और आकाश से यह धरती, खेत, दृश्य, हवा, प्रकाश सब हम में, हम पर अदृश्य वृष्टित हो रहे हैं। हम सृष्टि के इस महान कार्य के अकेले कारण बने हुए होते हैं। . . . नितान्त असंगी एकाकीपन कितने विराट सृष्टि भाव से संयुक्त कर देता है। असंगता, सबसे बड़ी सामाजिकता है लेकिन यह एक व्यथा है ; एकाकी की व्यथा समूह के लिए।

डूँगरी तक पहुँचते-पहुँचते पैर चूर-चूर हो जाते हैं। दम फूल आता है। जिस समय हम पहुँचते हैं उस विशाल वटवृक्ष को हवा झकझोर डाल रही होती है। डूँगरी के उस शिखर पर वह अकेला भैरव का मंदिर, वटवृक्ष, मंदिर की ढेरसी सीढ़ियाँ साक्षी हैं कि हवा अत्यधिक निर्मम थी। . . .अधिक नहीं अपरान्ह ही हुआ था। पश्चिम की ओर एक नदी चमकती तलवार सी खिंची थी। चारों ओर का दृश्य भूरे से हरा तथा हरे से नीला होता हुआ स्पष्ट से अस्पष्ट बन कर क्षितिजित हो रहा था। चारों ओर छोटे-छोटे गाँवों, कस्बों के चिह्न, अमराइयों के झुन्ड तथा भूरे साँप सी बम्बई-आगरा रोड पठारों में लुकती-छिपती टूटी-फूटी दिख रही थी। हमारा कस्बा गहरी साँस की तरह एक गड्ढे के कटोरे में बसा लग रहा था।

शिखर से कुछ नीचे एक बड़ा सा कुँआ है जहाँ रसोई आदि का प्रबन्ध है।

चूंकि यह गोठ प्रमुखतः हमारी है इसलिए खाना बनाना भी हमारा ही काम है ...और काम बाँट लिया जाता है—सफाई, पानी, तरकारी, आटा...। नन्दन और मैं ईंधन बीनने निकल जाते हैं। अभी तीसरा प्रहर ही है लेकिन जाड़े की शाम होने में देरी कितनी लगती है।..,जब आटा गूँधकर बाटियाँ बनायीं तब सारे बच्चों से कह दिया गया कि अब जाकर आराम करें। ऊपर वटवृक्ष के नीचे बिछात बिछी थी जहाँ बड़े-दादा के हारमोनियम की गत के साथ शेखर के एक चाचा मनोहर गुरु तबले पर संगत कर रहे थे। मनोहर गुरु खुद बहुत अच्छे गवैये थे।...आज बच्चों को हर बात की स्वतंत्रता थी इसलिए गम्पू ने अपने कुरते की जेब से ताश निकाली और बीच बिछात पर बैठते हुए फेंटना शुरू किया।...प्रकाश, पानी की तरह उतरता जा रहा था। थोड़ी ही देर में केवल आभास के, प्रकाश नहीं रह गया था। हम लोग ताश न खेलने के लिए विवश हो गये थे। साथ में आया हुआ पेट्रोमेक्स नीचे था और वह खाने के साथ ही ऊपर आने वाला था। तब तक के लिए हम अँधेरा देखते रहने के लिए बाध्य थे। आस पास कोई पेड़ नहीं था। लावा का सपाट मैदान डूँगरी के दोनों ओर मीलों चला गया था। फिर भी काफी गहरी खाइयाँ थीं और तय हुआ कि हम लोग चल कर उन खाइयों तक हो आएँ। आज आकाश में इतने अधिक तारे थे कि आकाश काली नदी सा उनके बीच बल खाता बह रहा था।

दूर से सपाट दिखने वाली डूँगरी की भुजाओं में लावा की नुकीली चट्टानें भरी पड़ी थीं जो ठण्डी होती हुई इस रात में सर्द हुई जा रही थी। दिवाली के बाद की चतुर्थी का चन्द्रमा उदय हुआ बड़ा विनम्र सा, आकाश के एक कोने में समाहित मौन था। केवल हवा का गूँजता हुआ स्वर, गोफन के पत्थर की आवाज की भाँति, के अतिरिक्त एक प्रशस्त शांति थी। हमें आया देख गिरगिट जरूर चौंके और पत्थरों की सेंध से निकल सिर ऊँचा कर कमर तक हिलते हुए हम में शत्रु या मित्र का अनुमान लगाने लगे। खेलने के लिए विशेष कुछ नहीं था। ज्यादा से ज्यादा नुकीले पत्थरों को पकड़कर हम लटक सकते थे और पैर हवा में झुलाते हुए किसी भी प्रकार की कल्पना करने के लिए स्वतन्त्र थे। गम्पू दो नुकीले पत्थरों पर पैर चौड़े कर खड़ा हो गया और एक वीर नायक की भाँति कमर पर हाथ धर कर हमारी ओर ऐसे देखने लगा कि अब तक हमने उसके इस महान कार्य में प्रसन्नता एवं तालियाँ क्यों नहीं बजायीं ? लेकिन हम सब भी अपनी वीरता के प्रदर्शन के लिए उपयुक्त नुकीली पथरीली चोटियाँ

खोज रहे थे इसलिए हमारी ओर से उसे आक्षेपात्मक उपेक्षा ही मिली। और वह वैसे ही खड़े-खड़े पैर फैलाये नीचे, नीचे उतरता जा रहा था। यह सचमुच ही हम सब के लिए असाध्य था इसलिए हम, दो चोटियों के बीच बन्दरों की तरह बैठे हुए या आगे निकली चट्टान के घोड़े पर पैर झुलाना छोड़ उसे देखने को बाध्य थे। तभी वह बोला,

—जानते हो ईदगाह से सफेद घोड़ों की जो सवारी कतल की रात निकलती है वह यहीं डूँगरी पर आती है लेकिन इन नुकीले पत्थरों के कारण ऊपर नहीं चढ़ पाती।

—क्यों ?

जुगल ने नीचे समतल पर बड़ी हास्यास्पद शैली में गम्पू के फैले पैरों की नकल कर रखी थी, जिज्ञासा से पूछा।

—क्यों क्या ? डूँगरी के भैरवजी के पास एक शेर है और बस, वह एक बार दहाड़ता है तो भुनगों की तरह पीर साहब के घोड़े भाग निकलते हैं।

जैसे ही उसने भागते घोड़ों की तरह एक टाँग ऊपर उठायी और वह नीचे समतल पर लद्द से ढह पड़ा।

—ये साला गम्पू भी नम्बरी गप्पी है।

शेखर बड़ी देर से आकाश में पत्थर फेंक रहा था संभवतः एकाध तारा तोड़ लाने के लिए। और गम्पू के इस प्रकार गिरने का फायदा उठाने के लिए उसे "गप्पी" कह कर वह हमेशा के लिए गम्पू को लद्द से हमारी दृष्टि में भी गिराने की चेष्टा करते हुए बोला।

—क्या मैं झूठ बोलता हूँ ?

—और नहीं तो क्या ? ईदगाह की सवारी किले की तरफ जाती है या इधर डूँगरी की ओर आती है ?

और गम्पू इस बात पर जिस तरह हँस रहा था उस तरह कोई अनुभवी मनीषी ही हँस सकता था क्योंकि हम सचमुच ही बहुत बौने लग रहे थे। नन्दन ने गम्पू से पूछा,

—क्यों गम्पू ! शेखर की बावड़ी में चुड़ैल रहती है न ?

शेखर का एक पैतृक बगीचा है जो कस्बे की आग्नेय दिशा में कोई चार मील दूर पड़ता है। उसके बगीचे के कलमी आम बहुत अच्छे हैं लेकिन उसके वकील पिता आम की गुठली तक सड़क पर नहीं फेंकते ताकि कोई देख न ले।

—शेखर के घर के पीछे जो गुफावाला मन्दिर है न उसमें रोज आधी रात को

भूत-चुड़ैल, शंकर जी की पूजा-आरती करते हैं। एक दिन शेखर के बड़े पिता ने देख लिया था तो पागल हो गये थे तभी तो बेचारे...'गों गों गों' किया करते थे।

और गम्पू ने शेखर के बड़े पिता के पागलपन की नकल "गों गों गों" कर के इस तरह की हम सब हँस पड़े। गम्पू और शेखर चचेरे भाई होते थे लेकिन दोनों परिवारों में बनती न थी क्योंकि शेखर के पिता वकील से ज्यादा वैद्य थे। वैद्य से ज्यादा जमींदार थे। जमींदार से ज्यादा पुराने मकान खरीद कर, उनमें धन खोजते फिरने वाले अधिक थे। और धन की इस अदम्य भूख ने ही अपने परिवार वालों को ही खा जाने के लिए बाध्य किया था। जब कि गप्पू के पिता एक सेठ के खजांची थे। पैसा जोड़ना तो दूर रहा, पिता जो मकान अधूरा छोड़ गये थे वह हर साल बरसात में छोटा होता जाता लेकिन खजांची साहब बिना किसी चिन्ता के सवेरे से कान पर जनेऊ चढ़ाये इसके चबूतरे बैठ, उसके फटे में पाँव दे, किया करते और जब तक उनकी छोटी लड़की बीस बार हाथ-मुँह धोने की याद न करा जाती तब तक क्या मजाल जो खजांची साहब घर जाएँ। उन्हें गप्प मारने का साधारण मर्ज नहीं बल्कि सन्निपात था।

और शेखर, गम्पू के द्वारा अपने बड़े पिता की नकल, जो कि अपमानजनक थी, सहन नहीं कर सका। अभी गम्पू सम्हले इसके पूर्व ही शेखर गम्पू के सीने पर चढ़ बैठा और गुँथ गया। लेकिन देखते-देखते गम्पू ने शेखर के गले में टाँग डाल कर उसे दूर फेंक दिया तथा अब गम्पू उसके सीने पर सवार था। गम्पू आहत था इसलिए आक्रोश से भरा था। दोनों लावा के नुकीले ढूहों पर लड़ रहे थे। दोनों ही काफी छिल गये थे लेकिन अलग होने को तैयार नहीं थे।

...और तब तक ऊपर से बड़े-दादा के बुलाने की आवाज हवा में तैर गयी। हम लोग पत्थरों पर चढ़ते हुए ऊपर चढ़ने लगे जब कि गम्पू और शेखर अभी भी जूझ रहे थे। सबसे पहले ऊपर पहुँच पर नन्दन चिल्लाया,

—दादा ! गम्पू और शेखर लड़ रहे हैं।

और जब सारे लोग डूंगरी से नीचे उतर रहे थे, पेट्रोमैक्स कभी का बुझ चुका था। एक जलती लकड़ी पकड़े नौकर आगे-आगे चल रहा था। गम्पू और शेखर को उनके पिताओं ने दो-दो चपत अतिरिक्त मारी तथा नन्दन आदि हम लोगों को इतना फटकारा गया कि गोठ, निमौली हो गयी थी।

ताशे और ढोल इतनी जोरों पर बज रहे हैं कि कान में अँगुली डालनी पड़ रही है। कतल की रात को ही सरकारी बड़ा घोड़ा उठता है। सार्वजनिक लाइब्रेरी की सीढ़ियों के पास एक बड़े से नेरे (गैरेज) में झँझरीदार दरवाजों के पीछे वह विशाल सफेद घोड़ा सड़क की तरफ लम्बी सी पूँछ गिराये खड़ा रहता है। मुहर्रम के दिनों में लोबान की गंध से सारा कस्बा गमक उठता है। उस बड़े घोड़े की सफाई होती है। उसे चूने से फिर नया किया जाता है। उसके गले में बड़ी-बड़ी मालाएँ झूलने लगती हैं। और करीब दो सौ मुसलमान 'या अली', 'या अली' करते हुए उसे कन्धे पर उठा लेते हैं। उस दिन चौक में तिल धरने की जगह नहीं रहती। हिन्दू-मुसलमान औरतें अपनी मनौती के लिए बच्चों को लेकर तेजी से उसके नीचे से निकलती हैं। काजी या मुल्ला उस बच्चे के लिए हरी 'फकीरी' दे देते हैं तथा भभूत उसके माथे पर लगा देते हैं। ताशे किड़किड़ाते होते हैं। लेझिमें झनझनाती होती हैं और सीना पीटते हुए लोग,

—हा हुसैन हम न हुए।

—रेवड़ी खिलाऊंगा या हुसैन।
—बोलो मुसलमाँ या हुसैन।
—याऽऽ अली !!
और काँटेदार जंजीर अपनी पीठ पर मारता हुआ व्यक्ति और जोरों से पीटने लगता है। सामूहिक छातियाँ पीटने के धमाके से दोनों ओर की दूकानों पर बैठे हुए दर्शकों के सीने में एक गूँज भर जाती है। नंगी तलवारें हवा में लपलपा उठती हैं। तलवारबाज लट्टू की तरह नाच-नाच कर कमाल दिखा रहे होते हैं। दोनों तरफ से जलती बनेटियाँ लिये अखाड़े के उस गोल घेरे में दो आदमी नाचने लगते हैं। बनेटियाँ की आग के तेजी से घूमते हुए दो गोल दायरे लक-लक करते घूमने लगते हैं। . . आग के दायरे. . . और मन में एक गहरी दहशत भी वैसी ही आग के दायरे बनाती भीतर, खूब भीतर गहरे उतरती चली जाती है। . . .लट्ठबाजों की लड़ाई से दिल थर-थर काँपने लगता है। बीच में एक आदमी गोल-गोल घूमते हुए चार लट्ठबाजों की मार को अपने लट्ठ पर झेल रहा होता है। मारने वाले खूब तेज-तेज लट्ठ चला रहे हैं और बीच वाला भी घूमते हुए वार बचाने में लगा है। भय, केवल भय ; यहाँ से वहाँ तक किड़किड़ाता, नारोंवाला, आग के दायरे वाला, हा-हुसैन वाला—एक सम्मिलित नाद, आकाश को पीट रहा होता है। बंद दूकानों के दरवाजों पर दुहराता होता है। बच्चों की आँखों में गर्म राख सा फँका तिरने लगता है—एक प्रचण्ड नारा 'या अली' दिशाओं से दिशाओं तक लपकता है और झपट्टा मारती चील की तरह पंजों में दबाये शून्य में तिर उठता है, लोगों को झुला देता है निरवलम्ब !!. . . और कान बजते हुए सुलगने लगते हैं। . . . याऽऽअली !!

गले में हाथ डाल हम 'कटा सिर' देखने जाते हैं। हरी बुर्राक के सफेद पंखों के मोती गैस की रोशनी में तारों की तरह चमक रहे होते हैं। बुर्राक की बुलाक लटकते हुए उसके मुमकुराते ओठों को एक रहस्य देती होती है। बुर्राक का बाकी का घोड़े का धड़ कैसा खिचा-खिचा अरबी घोड़े सा साँचे में ढला लग रहा है।

. . . और उस बुर्राक के सामने धरती पर खून से भरी थाली में एक कटा हुआ आदमी का सिर पड़ा हूआ है । . . .फुरहरी छूटती है । लोग घेरे खड़े हैं ।. . . आदमी का कटा सिर !! और पीठ पीछे के अँधेरे में जैसे अनेकों कटे सिर झूल उठते हैं---सिर, सिर, कटे सिर. . .और ऊपर आकाश तक कटे सिरों की एक शृंखला जिनसे खून रिसता हुआ. . .मितली आने लगती है. . .और हम उस सिर को पहचान लेते हैं रहमान रंगरेज के लड़के लतीफ का सिर है । . .हाँ, हरा रेशमी रूमाल अभी भी उसके गले में बँधा हुआ है. . .बेचारा लतीफ !! . . .शाम को ही तो उसे एक साफे को सुखाते देखा था। शाही दरवाजे की एक कील में झूलती लकड़ी में साफे का एक पल्लू बाँध तथा दूसरा अपने हाथ में पकड़ वह दिन भर इसी तरह कपड़े सुखाता है । रहमान ताँबे की देगची में रंग घोल कपड़े रँगा करता है जबकि लतीफ की माँ लाल चूड़ीदार पमामा, लाल कमीज तथा उस पर बासकट पहने कानों में बड़ी-बड़ी ढेर सारी बालियाँ पहने, पान चबाते हुए दरवाजे के पास भट्टी पर चढ़े देगचे में कपड़ों को लकड़ी के एक कुंदे से ऊँचा-नीचा किया करती है । रँगरेज की बकरियाँ तक रँगी-चँगी रहती हैं. . और वही बेचारा लतीफ. . .कतल की रात. . .मुझे गश आने लगता है । मुझे डरा देख गम्पू बताता है कि लतीफ के सिर ने रात में भी काला चश्मा क्यों पहन रखा है , जानते हो ? . . .मैं केवल गम्पू की आवाज सुन रहा होता हूँ क्योंकि मैं अपने में कहीं बहुत भीतर वितृष्णा तथा भय से पीड़ित हूँ । . . .और गम्पू ही बताता है कि, मूर्ख ! लतीफ का सिर काटा थोड़े ही गया है । . . .अरे जमीन में गड्ढा खोदा गया है और उसमें लतीफ को बैठाल दिया गया है । सिर के नीचे की मिट्टी पाट दी गयी है । सिर में एक कटी थाली फँसा दी गयी है जिसमें लाल रंग छिटक दिया गया है । . . .तभी तो लतीफ को काला चश्मा पहना दिया गया है ताकि उसकी आँखें न दिखें । . . .औरतें अपने बच्चों को बुर्राक के नीचे से निकालती हैं और 'कटे सिर' के सामने फैले कपड़े पर पैसे चढ़ाती हैं । . . .मुहर्रम की रात । कतल की रात । रात के अँधेरे में ताशे, ढोल का शोर ही शोर । पूरा कस्बा ताजियों को देखने यहाँ-वहाँ घूम रहा है । पान की पीकें, मुसलमानों की काली बारीक कमीजें, बुरकों के पीछे से घूमती हुई आँखें. . .एक त्यौहार, उत्सव. . .लेकिन भय. . .याssअली!! शरबत पीते हुए बच्चे, रोटियाँ बाँटते हुए दरियादिल, सड़क पर पानी छींटते भिश्ती और म्यूनीसीपाल्टी की गाड़ी के पीछे झिरझिराते पानी में पैर भिगोते बच्चों का झुण्ड. . .भाप उठती है और पैरों तक नमी अनुभव होती है । . . .

खेल-खिलौने...कमान का बड़े लम्बे सिर वाला ऊँट कमर में बाँधे वह फकीर... ऊँट की गर्दन कैसी आकाश में हिलती हुई सबका ध्यान अपनी ओर खींचती है।...बरफ के ठण्ढे रंगीन लड्डू बच्चों के सीने तक तर कर देते होंगे लेकिन हम ताजिये की रेवड़ियाँ जेब में लिये न खा सकने की विवशता के साथ केवल भयप्रद नारा सुनते होते हैं—याऽऽअली !!

दक्षिणी, अर्थात महाराष्ट्रीयों का राष्ट्रीय पर्व गणेशोत्सव। घर घर 'गणपति बप्पा मोरिया' की मूर्ति बनायी जा रही है। बाबूराव केलकर रात को गैस की रोशनी में पचासों बड़े-छोटे गणपति बना रहे हैं। सुनहले मुकुट, रंगबिरंगे उनके दुपट्टे जिन पर सारंगपुरी जरी के किनारे का काम, मुसकुराती आँखें और पेट पर वक्राकार सूँड। बच्चे-बूढ़े 'गणपति बप्पा' लिये 'प्रतिष्ठा' के लिए चले जा रहे हैं। सरकारी गणपति अपनी समस्त राजसी शोभा के साथ अगरुगंधमय आसित हैं। . . .रोज रात को कीर्तन-भजन। मराठी-नाटक, कथा-वार्ता. . .सोलह हाथ की साड़ी और खण-पातल पहने नथ वाली मराठी महिलाएँ 'हल्दी कुंकू' के लिए सड़क पर शोभा बनी जा रही होती हैं। प्रत्येक घर के सामने आटे और हल्दी की राँगाली। बाहर तखत पर लाल 'पेवशी' (कपड़े का पानदान) तथा अड़कित्ते (सरोते) से सुपारी काटते हुए साहेब, भाऊ, काका, चिमणा जी—चोटी के यहाँ गोल घेरा बनवाये हुए घुटे सिर में, भव्य त्रिपुण्ड में बैठे हैं। बहुत हुआ तो कंधे पर एक दुपट्टा तथा सिर पर 'पुणेशाही' पगड़ी पहन ली।. . . उत्सव, उत्सव, और उत्सव !!

....

....

गणपति विसर्जन । बैण्ड-बाजे । भजन-कीर्तन की मंडलियाँ । कंधे पर बड़े गणपति की सुन्दर विशाल मूर्ती उठाये पण्डितवर्ग । मंजीर,करताल और गान के स्वर,

—देवा लम्बोदर गिरिजा नन्दना !!
देवा पूर्ण करो मम कामना ।

—बोल गणपति महाराज की जय !! ..

लड़के टिपरी (लड़की के डंडे) बजाते हुए गा रहे हैं ,

—गणपति बप्पा मोरिया
चार लाडू चोरिया ... ।

—एक टिपरी धे
दूसरी मार धे
तिसरी घेउन
चौथी बदल ।

और टिपरियाँ बजती हैं—
टिक टिक टिक टिक
टिक टिक टिक टिक
टिक टिक टिक टिक
टिक टिक टिक
टिकक टिकक टिक टिक टिक टिक ।

और रंगीन टिपरियाँ एक लय-ताल में सम पर आती हैं । खेलनेवाले घूमते हैं, गोल-गोल आगे बढ़ते हैं । . . .सारे हिन्दू, महिलाएँ "गणपति बप्पा" की पग-पग पर आरती करते हैं । पुजारी पूजन, आरती, फल-फूल करता जाता है । जयकार होती है । सरकारी अफसर इस शोभा यात्रा में आगे-आगे चल रहे हैं जिनके आगे मुजरा करती हुई वेश्याएँ चल रही हैं । एक सारंगी वाला तथा एक तबलची कमर में कसे फेंटे में अपने वाद्य लिये चल रहे हैं । थोड़ी-थोड़ी दूर यात्रा रुक जाती है । गोल घेरा बन जाता है। सारंगी वाला आलाप लेता है । तबलची दो अँगुली से साध रहा होता है और बाई जी अन्दाज से खड़े होकर कान पर हाथ धर कर पान खायी आवाज में शुरू करती हैं,

—होऽऽओ तेरे नैना रसीले कटार. . .बलमवा !!

सारंगी चल निकलती है। तबले ठनक उठते हैं। और बाईजी के घुँघरू, कमर तथा आँखें उस गोल घेरे में घूमने लगते हैं। . . .गान समाप्त होता है। फिर "गणपति बप्पा मोरिया" की जयकार होती है। चारों ओर गुलाब जल छिड़का जा रहा होता है। स्त्रियाँ शंख बजाते चल रही होती हैं। लोगों के अपने-अपने "देवा" कंधों पर साथ चल रहे होते हैं।

. . . . .

. . . . .

और किले-घाट के प्रशस्त किनारे पर लोग ही लोग। गणपति ही गणपति। शोर ही शोर। गंध ही गंध। पसीना ही पसीना। पंडित मंत्रोच्चारण कर रहे हैं। बड़े गणपति नदी में ले जाये जा रहे हैं। लोगों के अपने-अपने गणपति भी नदी में प्रविष्ट हो रहे हैं। शंख-घड़ियाल किनारे तथा नदी में बज रहे हैं। बन्दूकें दागी जा रही हैं। अनार छोड़े जा रहे हैं। लोग धक्कम-मुक्का कर रहे हैं। . . .और प्रशस्त किनारे पर खड़े हजरों नर-नारी बड़े गणपति का विसर्जन देख रहे हैं। "देवा" जल में विर्सजित हो रहे हैं।

—बोल गणपति महाराज की जय !!

और किले-घाट से पुल के बाँध तक जयकार तीर की तरह किनारे की गोलाई के साथ गोल होती हुई सामने के आकाश में ऊपर चली जाती है। शंख-घड़ियाल झनझना रहे होते हैं। मंत्र पीछे छूट जाते हैं और 'गणपति बप्पा' नदी की सतह में तिरोहित होते हैं। उनका वह कामदार दुपट्टा, सुनहरी मुकुट देखते-देखते नदी में आहूत हो जाता है। . . .एक पवित्र शांति जल में फिर लौट आती है। तट पर का प्रार्थनात्मक कोलाहल क्रमशः कस्बे में एक-एक, दो-दो, चार-चार के रूप में लौटने लगा है। केवल हमारे हाथों में रंगीन गुब्बारे, कुछ मिठाई तथा गले में गमकती मालाएँ रह जाती हैं।

क्यों ऐसा होता है कि उत्सवों की सीमा होती है जबकि इन रोज-रोज की कोई सीमा नहीं ?

रोज क्यों नहीं गुलाब जल छिड़का जाता ? क्यों नहीं म्युनीसीपाल्टी की गाड़ी ऐसे ही पानी छिड़कती ? क्यों नहीं इतनी गमकती मालाएँ, मिठाइयाँ, रंगीन गुब्बारे मिल पाते ? रोज तो अजब एक अनिर्वचनीय जड़ता, एकरसता रहती

है । . . . रंगीन अल्पनाएँ, राँगोलियाँ घूमने लगती हैं । नग वाली नथ पहने मराठी मुख कितने सजीव लगते हैं जैसे आकाश में नथ पहने मुख ही मुख हैं । ... मैं सोने की चेष्ट करता हूँ । पिता का बिस्तरा रोज की ही तरह खाली पड़ा है । बा और माँ सो चुके हैं । मुझे नींद नहीं आती है । . . . "गणपति बप्पा" का विसर्जन होने लगता है । कैसे उनकी मूर्ति टेढी होती हुई डूबने लगी थी । उनका सुनहला मुकुट काफी देर तक दिखता रहा था । . . .शेखर के पिता वकील साहब का कमरा याद आता है । उनके कमरे के वे धार्मिक चित्र. . .घुटनों तथा एक हाथ पर टिके बाल-कृष्ण लड्डू की थाली में से एक लड्डू एक हाथ में उठाये दिखने लगते हैं . . . बिल्कुल नौटंकी में सजे-बजे की तरह खूब कामदार बड़ा-सा मुकुट पहने श्रीकृष्ण नाक, कान सभी में अलंकार पहने हैं तथा वंशी बजाते हैं . . . सिर्फ सिर है । . . . .महाराज नन्द को पक्के आँगन में एक चौकी पर बैठाल कर चार-पाँच औरतें नहला रही हैं तथा यशोदा रानी ऊपर गवाक्ष के पास बैठी हुई देख रही हैं। नन्द जी ने चौड़े लाल किनारे की धोती पहनी है तथा औरतें सब मराठी खण-पातल पहने हैं. . . एक अत्यन्त सुन्दर रंगों का चित्र है नौका-विहार का । राधा जी, श्रीकृष्ण की जाँघ पर सिर रखे चाँदनी रात निहार रही हैं। श्रीकृष्ण वंशी बजा रहे हैं । कुछ सखियाँ नौका में हैं तथा कुछ यमुना में नहा रही हैं । एक सखी नौका को ठेल रही है । . . . मैं सोचता हूँ किसी दिन मैं भी यह सब क्या देख सकूँगा ? तभी मुझे आतू माँ के घर में दीवार पर गोंद से चिपका 'चीर-हरण' चित्र याद आता है । कदम्ब पर वस्त्र लटके हैं । श्रीकृष्ण वंशी बजा रहे हैं । कुछ नग्न स्त्रियाँ यमुना में नहा रही हैं । कुछ अपने पेट के नीचे हाथ वैसे ही रखे हुए हैं जैसे काकीमाँ रोटी निकालते समय रखती हैं । . . .सहसा मुझे काकीमाँ का तिरस्कार याद आ जाता है । मैं भी नन्दन की तरह, शेखर की तरह, जुगल की तरह किसी से जिद करना चाहता हूँ । किसी के गले में हाथ डाल कर झूल जाना चाहता हूँ । कोई चूड़ी भरा हाथ मेरी देह को सहलाये लेकिन. . . बेचारी माँ. . .ये मेरी असली माँ नही हैं न ? लेकिन . . .क्यों नहीं है ?. . .मर गयीं । लेकिन . . .क्यों मर गयीं ? जब औरों की माँएँ नहीं मरीं तो मेरी माँ को मरने की क्या जरूरत थी ?. . . तो क्या मरने के बाद नहीं आ सकतीं ? . . .मैं कस कर आँखें बन्द कर लेता हूँ ...मंदिरजी के पट खुलते हैं । टिकोरा बजता है । कीर्तनिया जी हारमोनियम पर 'जसोदा हरि पालने झुलावै' गाना ही चाहते हैं. . .लेकिन मैं अब ओर नहीं सोचना चाहता हूँ. . . ।

मैं प्रायः बीमार रहता हूँ। माँ मन्दिर जी में अन्नकूट के लिए दस रुपये के लिए बोल आती हैं। कई दिनों से एकाँतरा चल रहा है। मेरी बीमारी को ले कर बा-माँ काफी परेशान रहते हैं। बुखार की तेजी में कभी-कभी प्रलाप भी करने लगता हूँ। बा, झाड़-फूँक करते हैं। शेखर के पिता चूरन चटा जाते हैं लेकिन बा चबूतरे पर बैठे हुए अपने एक मित्र धूलजी भाई से चिन्ता प्रकट किया करते हैं। लोगों ने बा को संभवतः डरा दिया है कि कोई आत्मा डील में आती है। जब कि काकीमाँ का प्रचार है कि वह मेरी माँ ही है जो पागल हो गयी थी। माँ इस सारे अपवाद को एकान्त में भोगती हैं। सवेरे मुझे हाथ-मुँह धुला वे नहा-धोकर सात बजे के पहले ही 'मंगलारती' के लिए मंदिर जी पहुँच जाती हैं। 'मंगलारती' के दर्शनों का नियम आज करीब चालीस बरस से उनका अक्षुण्ण है। वैसे वे 'शयन' के समय भी चली ही जाती हैं लेकिन वह सुविधा पर निर्भर करता है। विशेष उत्सवों पर 'नहाती' भी हैं। उन्होंने अपनी निजी जायदाद भगवान को अर्पित कर रखी थी इसलिए मंदिर में उनकी प्रतिष्ठा थी। इसीलिए मेरी बीमारी में रोज मंदिर जी से 'प्रसाद' जलघड़िया या भीतरिया जी दे

जाते हैं। और माँ सारे पथ्य-परहेज के बीच भी उसे देना कभी नहीं भूलतीं। दीदी की चचेरी सास ने अनुशासन की कठोरता बरतनी शुरू कर दी थी इसलिए वह अब रोज माँ का हाथ बँटाने नहीं आ सकती थीं। इसके अलावा कुछ महिने हुए गर्भपात हो गया था इसलिए वह बहुत कमजोर हो गयी थी। तीन-तीन शादियों के बाद कुल एक लड़की और एक लड़का—दूसरी शादी की लड़की और तीसरी का लड़का। लड़की ब्याह के बाद ससुराल चली गयी और लड़का आये दिन बीमार—बा-माँ की चिन्ता स्वाभाविक ही थी।

लोग समझाते हैं कि क्यों नहीं झोंकर वाले ओझा से झाड़-फूंक करवाते ? उनके यहाँ शमन तथा हवन भी करवा लें तो ठीक रहेगा।

फाल्गुन। अभी शुक्र नहीं डूबा है। एक बैलगाड़ी चली जा रही है। दीदी ने साथ चलने का आग्रह किया अन्यथा वह स्वयं बहुत कमजोर। पिता घोड़े पर सवार हैं। गाँव से रात ही गाड़ी मँगवा ली गयी थी। अभी आधी रात ही रही होगी कि माँ-दीदी ने रास्ते के लिए खाना-पीना बना लिया और चार बजे के लगभग बा ने गाड़ी जोत दी। गाड़ीवान था लेकिन बा, मूलतः किसान व्यक्ति थे इसलिए गाड़ी बैल देख कर उन्हें उत्साह हो आता है। . . .काफी दूर तक मैं सोता हुआ ही जाता हूँ। बम्बई-आगरा रोड छोड़कर कब बेरछा के लिए गाड़ी मुड़ी मैं नहीं जानता। वासुदेव वकील की वावड़ी तथा बगीचा भी पीछे छूट गया तब कहीं मैं जागा। . . .सवेरे का फाल्गुनी मालवी वायरा चल रहा था। पीपल, आम, बरगद के पेड ताजी हवा में खिले पड़ रहे थे। रास्ते के नालों में निर्मल पानी, यद्यपि कम हो चला था किन्तु उनकी स्वच्छता एवं मिठास यथावत थे। बैलों को काँच की तरह स्वच्छ पानी पीते देख मेरा मन भी करता है लेकिन माँ नहीं पीने देती हैं। पिताजी अपना घोड़ा नाले में छोड़ देते हैं और वह कितने प्रसन्न होकर पानी कुचलते हुए बढ़ता है। पानी की नीली फुहारें उसके खुरों के चारों ओर झाग बन बिछल पड़ती हैं। . .पानी एकान्त बहता हुआ जामुन की गहरी छाया में मोड़ लेता हुआ तथा ऊँची कगार बनाता मुड़ते हुए जैसे पीछे देखते

हुए बढ़ता है कि ––हाय, उसे अभी कितनी दूर और जाना है। नाले का सूखा भाग भूरी-नीली कंकड़ियों तथा पत्थरों में खुला पड़ा था।

––उदू ! तू ने रेल नहीं देखी न ?

और मुझे दीदी से बराबर होने वाली ईर्षा इस समय अधिक हो आती है। दीदी, चाचा जी के पास कई बार रेल में बैठकर हो आयी है। लेकिन मुझे सन्तोष यही था कि थोड़ी देर बाद हम वहाँ पहुँच जाएँगे जहाँ रेल है। पिता जी ने बताया कि रेल करीब आठ बजे आती है। हम वहाँ पहुँच भी सकते हैं। या यह भी हो सकता है कि हमारे बाद रेल आये।...जब मुझे लगा कि ये लोग रेल देखने के लिए नहीं रुकेंगे तो मैंने जिद की। मुझे आश्वस्त कर दिया जाता है कि मैं आज रेल जरूर देख सकूँगा।....मुझे झपकी आ जाती है।

––अरे सो रहा है ?

––क्या रेल आ गयी दीदी ?

और मैं आँख मलते हुए हड़बड़ाकर रेल खोजने लगता हूँ। सब हँस पड़ते हैं। धूप निकल आयी थी। माँ ने सामने पठार वाले क्षितिज की ओर संकेत करते हुए बताया कि वहाँ रेल है। और मैं बिना पलक झपकाये धुपैले पठारी क्षितिज में रल खोजता बैठा रहा।...संभवतः बरेछा की बस्ती के आसार दिखने लगे थे।... गाड़ी खेंचते बैलों के हिलते सिर, गले के घुँघरू और बैलों के पैरों के नीचे से भागती सड़क जिसे कुचलने के लिए पीछे से आते गाड़ी के पहिये...कई बार लगता कि बैल अगर अपने पिछले पैर जल्दी नहीं उठाएँगे तो पहिये कुचल देंगे।

––दीदी ! देखो, देखो...

––क्या है ?

––सड़क कैसी भाग रही है।

–– मूर्ख ! सड़क भी कहीं भागती है ?

––मैं झूठ कह रहा हूँ? माँ! जरा देखो तो बैल के पैर के नीचे सड़क भाग रही है। और दीदी मुझे चिढ़ा देती हैं,

––माँ ! देखो तो दोनों कानों के बीच उदू का सिर भाग रहा है।

मैं रुआँसा हो जाता हूँ। मैं जब झूठ नहीं कह रहा हूँ तब दीदी क्यों चिढ़ाती हैं?... क्या सड़क नहीं भाग रही है ?...कोई देख ले...बैलों के पैरों के नीचे सड़क भाग नहीं रही है ?

और उस छोटे से कस्बे की यह अकेली सड़क सीधी स्टेशन तक जाती थी। दीदी ने सामने की ओर दिखाते हुए कहा,

—ले देख, स्टेशन आ गया ।
मैं स्टेशन देखने लगा । स्टेशन कहाँ है ? सामने तो एक डाकबँगला है ।
—स्टेशन कहाँ है दीदी ?
—अरे बुद्दू ! वो क्या है सामने ?
—वोऽऽ...वो तो डाकबँगला है ।
—डाकबँगला नहीं, स्टेशन है ।
—क्यों माँ ! डाकबँगला स्टेशन होता है !
पता नहीं बड़ों में यह जाने क्या आदत होती है कि जब उनके पास बच्चों की बातों का जवाब नहीं होता तो अपनी अक्षमता स्वीकारने के बजाय चुप्पी साध जाते हैं ।...तो डाकबँगला ही स्टेशन था । पिताजी घोड़ा दौड़ा कर पहले ही पहुँच गये थे और मुझे कितनी प्रसन्नता हुई यह जानकर कि रेल अभी नहीं आयी है ।

स्टेशन के सामने दो-चार ताँगे, दो-एक गाड़ियाँ खड़ी थीं । सामने के मैदान में एक कुएँ पर पानी भरा जा रहा था तथा नहाया जा रहा था ।
दीदी मुझे लेकर स्टेशन की ओर बढ़ीं । टिन की ऊँची छत तथा पत्थर के फर्श पर देहाती लोग गठरी-मुठरी के साथ बैठे हुए थे । कोने में एक तरफ खिड़की थी जहाँ लोगों की भीड़ खड़ी थी । सामने छड़ों का एक घेरा बना था जिसके दरवाजे से लोग आ-जा रहे थे । उस दरवाजे के पास ही लकड़ी के एक बड़े से बक्से के पास कई लालटेनें रखी हुई थीं । दरवाजे की दूसरी तरफ लोहे की कोई मशीन थी । दीदी ने इसे सामान तौलने वाली मशीन बताया । इस समय उस मशीन पर नीली वर्दी में कोई लाइन-मेन बैठा हुआ बीड़ी पी रहा था । दालान के खंभों से लता झूल रही थी । जाने कहाँ से बराबर घंटी के टुनटुनाने की आवाज आ रही थी । बालू बिछे प्लेटफार्म के सिरे पर पत्थरों का एक चबूतरा बना था जहाँ नीली वर्दी का कोई दूसरा आदमी लोहे के डंडों को ऊँचा-नीचा कर उनमें ताले लगा-खोल रहा था । दीदी ने बताया कि इनसे ही सिगनल ऊँचे-नीचे किये जाते हैं।...और वह मुझे दूरी पर खड़ा हुआ सिगनल दिखाने लगीं, जहाँ एक चौखटे में तार की जाली जड़ी हुई थी ।
—प्लेटफार्म इतना लम्बा क्यों होता है दीदी ?
—क्योंकि रेल लम्बी होती है, साँप की तरह ।

--साँप की तरह ?
और फुरहरी दौड़ गयी ।
--और ये पटरियाँ क्यों हैं ?
--रेल इसी पर चलती है ।
तो क्या साँप की तरह इन लोहे की पटरियों पर रेंगती है ? कैसे रेंगती है ?... बात कुछ समझ में नहीं आयी । और दालान के एक खंभे से लटकता लोहे का टुकड़ा वही नीली वर्दी वाला बजाने लगा जो कि सिगनल ऊँचा-नीचा कर रहा था।
--ये घंटी क्यों बजा रहा है ?
--रेल आनेवाली है न ।
--इसको कैसे मालुम ?
--तुम तो सिर खाये जा रहे हो । देख लेना कि रेल आ रही है कि नहीं ।
दीदी के चिढ़ से मुझे खुशी हुई । ये मुझे हमेशा चिढ़ा देती हैं तब कुछ नहीं । और अब खुद चिढ़ रही है--टिलि लि लि लि !!
और दीदी ने पश्चिम की ओर उठते धुएँ की ओर संकेत किया कि वह रेल आ रही है । मैं आकाश में देखने लगा । धुँआ दक्षिण की ओर जा रहा था । मैं उधर ही देखने लगा ।
--दीदी रेल तो उधर जा रही है ।
और धुएँ की ओर संकेत देख कर दीदी एकदम ही झुँझला पड़ी । वह सिगनल वाले चबूतरे पर बैठे बा और माँ के पास चली गयी । तब तक पिताजी ने एक बड़े से काले धब्बे को दिखाते हुए बताया कि वह रेल आ रही है । रेल में पहले इंजिन होता है उसके बाद डिब्बे होते है ।...और वह धब्बा तेजी से मोटा तथा फैलने लगता है ।...उसके बाद उस धब्बे की एक पूँछ घिसटती सी लगती है । तो दीदी ने सच कहा था कि रेल, साँप की तरह होती है ।...धब्बे में से मोटे रस्से की तरह छल्ले में धुँआ पीछे उड़ता जा रहा था तथा आवाज, शोर होती जा रही थी ।... और देखते-देखते शोर घड़घड़ाहट बन जाता है । अब धब्बे की शक्ल नजर आने लगी थी । मैं कुछ नहीं समझ पाता हूँ केवल मेरे कानों में भयानक शोर भरने लगता है । मैं कान बन्द कर लेता हूँ लेकिन वह धब्बा अब बिल्कुल सिर पर आ जाता है...कित्ता ऊँचा, बाप रे बाप !!...दीदी बढ़कर मेरी आँखें बन्द कर देती हैं और रेल का शोर दाहिने से बाँये धड़धड़ाता जाता लगता है ।...लेकिन किचकिच की आवाज के साथ शोर क्रमशः थम जाता है । लोहे की एक चीख जो दाहिने से बाँये गुजरी थी अब वह थम गयी थी । लेकिन दीदी का हाथ हट जाने

पर भी मैं आँखें बन्द किये रहता हूँ।
—अरे अब आँखें खोलो भी।
और लोहे के पहियों के ऊपर कमरे ही कमरे खड़े दिखते हैं।
—दीदी ! बापू कह रहे थे कि रेल में पहले इंजिन होता है और फिर डिब्बे।
—ठीक तो है। वह इंजिन है और ये डिब्बे हैं।
इस बार मैं बड़ों की मूर्खता पर अवश्य हँसना चाहता हूँ। हँसता भी हूँ। ये लोग डाक बँगले को स्टेशन कहते हैं। कमरे को डिब्बा कहते हैं। क्या डिब्बे में खिड़कियाँ, दरवाजे होते हैं !
—ये कमरे हैं कि डिब्बे ?
—तुम तो हर बात में टाँग अड़ाते हो।
मैं समझ गया कि बहस बेकार है। लोग डिब्बे में चढ़-उतर रहे थे। खुले दरवाजे से अन्दर की सीटें, सफेद छत सब दिख रहे थे—कित्ती अच्छी साफ होती है न रेल ?
—बापू !
—क्या ?
—कभी रेल में नही बैठेंगे क्या ?
पिता शायद मेरी बात का उत्तर देते कि तभी इंजिन ने जोरों पर सीटी दी।
—वो ऽऽ देखो उदू ! इंजिन भाप छोड़ रहा है।
मैंने देखा कि पहियों के पास जोरों की आवाज करते हुए भाप छोड़ी जा रही थी।...
और रेल सूँ-सूँ करती बढ़ने लगी। पहिये ची-ची करते घूमने लगे।
—दीदी ! तुम तो कह रही थीं कि रेल, साँप की तरह होती है।
—और नही तो क्या !
—क्या साँप के पहिये होंते हैं ?
और डिब्बे तेजी से खसकते हुए एक बारगी समाप्त हो गये। इस एकबारगी समाप्ति से ऐसा लगने लगा कि ट्रेन पूँछ कटी है...और ट्रेन देखते-देखते फिर बड़ा धब्बा, उसके बाद छोटा धब्बा बनने के लिए दौड़ी जा रही थी।
—दीदी ! वो आदमी हरी झण्डी किसे दिखा रहा था ?
—ट्रेन को।
—ट्रेन के आँखें हैं क्या ?
—ट्रेन के नहीं है पर तेरे तो हैं।
मुझे अत्यधिक प्रसन्नता थी कि कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनके उत्तर दीदी के पास भी

नहीं हैं।...वही नीली वर्दी वाला सिगनल ऊँचे-नीचे करने में लगा था। घण्टी का कहीं से टुनटुना वैसा ही आ रहा था। एक आदमी सामान की मशीन के पास दरवाजे पर खड़ा आने-जाने वालों से कुछ माँग रहा था।

––वह क्या माँग रहा है दीदी ?

––टिकिट।

––टिकिट क्या !

––यह टिकिट होता है।

और दीदी ने एक चपत जड़ दी।

गाड़ीवान पेड़ से बँधे बैल खोल कर जोतने लगा।

पूर्व से पश्चिम तक बिछी चली गयी पटरियाँ। जिन पर धूप की चमक चाँदी हो रही थी...कैसी सीधी सपाट क्षितिज में समा जाती हैं, एकदम कसी-कसी सी। ...मैं बार -बार इन पटरियों से अपना मन हटाना चाहता हूँ। सिर घुमा लेता हूँ। पटरियाँ भी घूम जाती हैं और फिर सीधी सपाट हो कर कसी-कसी सी, चाँदी की तरह चमकती हुई दूर-दूर के भूरे क्षितिज में समाकर जाने कहाँ चली जाती हैं। गाड़ी के बाहर सिर निकाल कर देखने लगता हूँ––धूल भरी गरवट है। गरवट के बीच में साथ-साथ कूबड़ भी है। गाड़ी के पहियों के नीचे से रास्ता कितनी तेजी से पीछे की ओर भागता होता है लेकिन कुछ ही पीछे भाग कर जैसे बैठ जाता है, फिर क्यों नहीं भागता ? ऊँट की गर्दन जैसी गरवट की कूबड़ कितनी ऊँची है कि पैर तक टिकाये जा सकते हैं।...भागते रास्ते को देखकर मुझे पनचक्की के पहियों का पट्टा याद आ जाता है। उस पट्टे को तो मशीन चलाती है लेकिन इस रास्ते के पट्टे को कौन सी मशीन चलाती है ?...पहियों से धूल ही धूल उड़ रही है। उड़ी हुई धूल, धूप में कैसी मुँह की भाप सी तरल, पारदर्शी लगती है...लेकिन धूल नाक में, गले में कस रही है। मैं खाँसता हूँ।

––दीदी ! रेल की वे पटरियाँ कहाँ जाती हैं ?

––उज्जैन से आती हैं और भोपाल जाती हैं।

—कैसे आती हैं ये दीदी ?

—अरे मूर्ख ! पटरियाँ नहीं आती-जातीं । वे तो बिछायी गयी हैं ।

—तो फिर अभी तुमने क्यों कहा था कि ये उज्जैन से आती हैं और भोपाल जाती हैं ?

दीदी फिर चिढ़ गयीं । माँ से बोली,

—माँ ! ये उद्दू तो झोंकर तक मेरा दिमाग ही चाट जाएगा ।

इस पर बा बोले,

—बच्चों को ठीक-ठीक जवाब दिया जाना चाहिए ।

मैं बा को प्रशंसा की दृष्टि से देखने लगता हूँ ।

—क्यों बा ! ये गाड़ी के नीचे से पीछे की ओर भागता हुआ रास्ता थोड़ी दूर जाकर क्यों रुक जाता है ?

बा मेरे प्रश्न पर चौकन्ने होते हैं । मेरी बात का जवाब माँ देती हैं,

—पहियों के नीचे आ जाने से बेचारा रास्ता कुचल जाता है न इसलिए ज्यादा नहीं भाग पाता ।

मुझे माँ सब से समझदार लगीं । यदि आज मुझे उस बात को फिर से कोई कहे तो मैं उस व्यक्ति को सृष्टीय संवेदनशील मानूंगा । लेकिन उन दिनों समझदार मानने से ही मेरा काम चल गया।. . .मैं बहुत देर तक पीछे छूटते हुए बैठ जाने वाले रास्ते की ओर अत्यन्त दुःखी आस्था के साथ देखता बैठा रहा ।. . . अचार की छोटी-छोटी झाड़ियाँ अपनी छायाएँ ऐसे ही समेटे बैठी थीं जैसे हाट में आने वाली देहातिनें अपना घाघरा घेर बनाकर समेट कर बैठती हैं । फुदकती चिड़ियाँ झाड़ियों में कीड़े खोजती फिर रही थी । ढाक की झाड़ियाँ निर्द्वन्द्व अपने पंखे हिलाती प्रशस्त थीं ।

—क्यों दीदी ! ये झाड़ियाँ और कुछ नहीं करतीं ?

—क्या मतलब ?

—बस धूप में ऐसी ही बैठी रहती हैं ?

—पेड़, झाड़ियाँ उगते हैं कि बैठे रहते हैं ?

—पेड़ उगते हैं ?

—और नहीं तो क्या ।

—कौन उगाता है ?

—धरती माता ।

—आदमी उग सकता है ?

दीदी इस बार सचमुच ही बिफर पड़ती हैं ।

—तेरे मुंह में तो कुत्ते की हड्डी है। जब देखो भूंकता रहता है।
मैं दीदी की यह बात, बल्कि कहना चाहिए यह आक्षेपात्मक प्रशंसा कई बार पहले भी सुन चुका हूँ। जब मैंने दीदी से जीजाजी के बारे में पूछा था कि तुम इनको रोज रात में पानी पिलाने क्यों जाती हो ? बापू या बा को तो नहीं पिलाती थीं।... तुम सब के सामने जीजा जी से क्यों नहीं बात करतीं ?...और जीजा का क्या अर्थ होता है ?..जब बा, माँ, बापू सब हम दोनों एक हैं तो मेरे जीजा तुम्हारे जीजा क्यों नहीं हुए ?...और दीदी बस इतना ही कह पाती रही हैं कि भाई, कान न खाओ या पता नहीं कौन से कुत्ते की हड्डी भरी है [...मैं सचमुच ही परेशान करने के लिए नही लेकिन जानने के लिए पूछता रहा हूँ। नारायण नाई से मेरी तरह दीदी भी क्यों नहीं बाल बनवा लेती हैं ! झींकेंगीं कि इन्हें धोना पड़ता है, तैल लगाने में झंझट होती है...लेकिन किससे पूछा जाए ? क्योंकि बड़ों के पास आपकी बातों के लिए दो ही उत्तर होंगे—क्या बकबक लगा रखी है?...या, अभी बच्चे हो, जाओ खेलो।...गोया बच्चे होना पाप है।....और मैं हमेशा सोचता हूँ कि वह दिन कब आएगा कि जब ये लोग बच्चे होंगे और तब मैं बड़ा होकर इन्हें भी ऐसे ही झिड़क दूंगा।...आराम कुर्सी पर चाचा जी की तरह गर्दन के नीचे हाथ रख, टाँग पर टाँग धर कर कहूँगा—क्या दिमाग चाट रहे हो, यह भी नही जानते कि पानी बादलों से गिरता है न कि आकाश से। —और अगर मेरी तरह फिर पूछें कि बादल तो आते-जाते हैं, आकाश क्यों नहीं आता-जाता है ?.. तो मैं भी कान पकड़कर ऐसा झिड़कूंगा कि बस !]

गाड़ी में बेहद हिचकोले लग रहे हैं फिर भी बा और माँ आँखें बन्द किये हिलते हुए सो रहे हैं। दीदी नाराज होकर कोई किताब पढ़ने लग गयी हैं।..पिता जी अपने घोड़े पर बहुत आगे चले जा रहे हैं। गाड़ीवान बैलों की पूंछ इतनी जोरों से मरोड़ता है कि दूसरा कोई हो तो गाड़ी फेंक-फाँक कर अलग जा खड़ा हो कि, जाओ, नहीं चलाते तुम्हारी गाड़ी, लेकिन बेचारे बैल !!
हिचकोलों में हिलते पेट से जैसे-जैसे नींद घिरती है और मैं अनुभव करता हूँ कि पेट से धीरे-धीरे नींद ऊपर चढ़ती है, चढ़ती है.....।

गाड़ी किसी नदी के सूखे थाले में घुस रही थी क्योंकि पत्थरों पर पहिये इतनी जोरों पर चढ़-उतर रहे थे तथा किचिर-किचिर हो रही थी कि सब जाग गये। माँ ने पूछा,

—डूंगरसिंह ! झोंकर आ गया ?

—हाँ माँ जी ! यह झोंकर की ही नदी है।

और मैंने गाड़ीवान तथा गाड़ी की छप्पर के बीच से देखा कि उस पार जामुनों की एक सघन कतार नदी को साथ-साथ लेती हुई तथा पानी पर छाया डालती हुई चली गयी थी। नदी गहरी नहीं थी लेकिन जलवती थी। औरतें-बच्चे मुँह से पिचकारी छोड़ते हुए नहा रहे थे। जामुनों के ऊपर तोतों का एक झुण्ड सपाटे मारता चला जा रहा था।

—नागर जी का बगीचा यहाँ कहाँ है ?

बा ने गाड़ीवान से पूछा।

—वो तो गाँव के पास ही है महाराज !...वहीं ले चलूँ ?

—हाँ।

—बा ! हम नदी में नहाएँ ?

मेरे इस प्रश्न पर माँ ने झिड़क दिया कि बड़ा आया है नदी नहाने वाला। कल तक बुखार था और चला है आज नदी नहाने।

बगीचा क्या था—बीच में एक कुँआ था। नीबू और पपीते के पेड़ थे। दो-चार अनार के भी पेड़ थे। यहाँ-वहाँ अधूरी क्यारियों में गुलदावली फूली हुई थी। निष्प्रयास उग आने वाली पीली कनेर के फल चमक रहे थे। हवा में जो गंध थी उससे लगता था कि धनिया खूब फूली हुई है। रखवाले की झोपड़ी बन्द थी। उसकी खपरैल पर सूप में सूखती हुई लाल मिर्चें ताजी लग रही थीं। दीवार के पास गाड़ी का एक पुराना पहिया खड़ा था जिसके पास एक टूटी कड़ाही में कंडी धुँधुआ रही थी। कुँए का पानी जगत के मोखे से होता हुआ एक विनम्र नाली में बहते हुए पपीतों के पीछे मोड़ लेकर धनिये-मिर्चे की क्यारियों की ओर चला जा रहा था।

गाँव हल्की ऊँचाई पर कच्चा-पक्का बसा दिख रहा था।

नहा-धोकर साथ की दशमी-अचार तथा ताजी धनिया-मिर्च की चटनी बना कर खाना खाया गया। उपरान्त गाड़ीवान को वहीं छोड़ नागनाथ वाले ओझा की फिराक में निकले। स्त्रियाँ फाल्गुनी दोपहर में चरखों पर सूत कात रही थीं। किसान चरखियाँ घुमाते रस्सियाँ बँट रहे थे जबकि मंदिर का पता पूछे जाने पर लड़कों का झुण्ड नागनाथ के ओझा के मंदिर तक छोड़ने के लिए आगे-आगे चल रहा था। गाँव में अजनबियों को देख किसान चिलम-तमाखू पीना छोड़ देखने लगते। कोई भैंस के थन में चिपके कीड़े निकालने में लगा था। कंडे थपी दीवारों तथा गंदी नालियों के तीन-चार मोड़ों के बाद लड़कों ने एक बड़े से फाटक के सामने ले जाकर खड़ा कर दिया। उस बड़े फाटक के दोनों ओर चित्रित रंगीन चोबदार फीके पड़ गये थे। दरवाजे की मेहराब की एक तरफ की ऊँची ड्यौढ़ी-चौकी पर एक बूढ़ा व्यक्ति खाँसते हुए बैठा था। लड़कों ने देहाती भाषा में ऊँचा बोलते हुए बताया कि ये लोग 'महाराज' से मिलन आये है। बूढ़े ने पूर्ण विरक्ति के साथ ड्यौढ़ी के भीतर संकेत कर दिया तथा खाँसने का अधूरा छोड़ा हुआ महत्त्वपूर्ण कार्य पूरा करने लगा। दरवाजे में से ही सीढ़ियाँ शुरू हो गयी थीं। और वे सीढ़ियाँ ऊपर जाकर एक प्रशस्त आँगन में परिवर्तित हो गयी थीं। ठीक सामने मंदिर था। बाँये हाथ खाट और चटाई पर मिर्चें तथा अनाज सूख रहे थे। वहीं एक कोठरी थी जिसकी दीवार के एक खम्भे से बड़ी सी मथानी ऊपर नीचे रस्सियों से बँधी खड़ी थी। पास ही एक ओखली में कोई देहातिन मूसल से धान कूट रही थी। जैसे ही बाहरी लोगों का आया देखा उसने बड़ा सा घूँघट काढ़ा और घाघरा हिलाती कोठरी में घुस गयी। दाहिने हाथ की दीवार में खूँटी पर मृदंग लटकी हुई थी तथा एक ताक में लाल कपड़े में कोई पोथी बँधी हुई रखी थी। वहीं जमीन पर बैलों को चलाने के लिए एक आर तथा गलघंटियों का एक जोड़ा पड़ा हुआ था। मंदिर के सामने बड़ा सा खंभोंदार एक सहन था। मंदिर के कपाट के दोनों ओर दीवार में दो बड़े-बड़े विशाल सर्प छवित थे। कपाट की चौखट पर विभिन्न वर्णी कपड़े की एक बन्दनवार स्पष्ट थी। कपाट बन्द थे। खंभोंदार सहन में कपाट के ठीक सामने एक हवन-कुण्ड था जिसमें से अभी भी गंधित धुँआ उठ रहा था। एक तरफ कोने में शंख-घड़ियाल उपेक्षित पड़े थे। सम्पूर्ण शांति थी केवल कहीं पर बच्चे का रोना आ रहा था।

फाल्गुन की खिली दोपहर थी। धूप से अधिक छाया के प्रति-आकर्षण हो सकता

से सँपेरा लगने वाले 'महाराज' आते दिखे। सिर से पैर तक गेरुआ लेकिन उसमें भव्यता कदापि नहीं बल्कि फूहड़ता अधिक। गले में तंग किसम की मोटे मनकों की माला। राख का त्रिपुण्ड तथा गँजेड़ियों की सी लाल-लाल आँखें। उसकी उपस्थिति विशिष्ट अवश्य थी किन्तु अच्छे अर्थ में कदापि नहीं। वह 'महाराज' बिल्कुल नहीं लग रहा था बल्कि रास्ते में अनायास दिख जाने पर बच्चे भगाने वाला ही समझा जा सकता था। इस बीच गाँव के कुछ लोग जमा हो गये थे।....बा-माँ उस 'महाराज' से एक तरफ कुछ बातें करते हैं। उपरान्त वह व्यक्ति जिधर से आया था उधर ही लौट जाता है। इस बीच एक गंदी सी लड़की चटाई बिछा जाती है और हम सब उस पर बैठ जाते हैं।...

कपाट खुलते हैं। वह 'महाराज' हवन-कुंड के पास कुछ पीढ़े तथा कुछ हवन सामग्री लाकर रख देता है और बा मुझे ले जा कर एक पीढ़े पर मंदिर के सामने बिठा देते हैं। कपाट के भीतर एक बड़े से नाग-देवता की मूर्ति दिख रही थी। भीतर जिस तरह का अँधेरा था उससे वह मंदिर से अधिक गुफा लग रहा था।...धीरे-धीरे मेरे मन पर साँपों के चित्र और मूर्ति देखकर प्रभाव होने लगता है। पास बैठे बा से वह 'महाराज' कुल-गोत्र पूछता है और मंत्र बोलते हुए बीच-बीच में मुझे मूर्ति की ओर ध्यान से देखने का आदेश देता जाता है। हवन कुंड की ठण्ढी पड़ती अग्नि में नयी समिधा एवं हव्य से पुनः चेतना लौट आती है।...मुझे घबराहट होने लगती है। मैं बराबर ध्यान से एकटक मूर्ति को देखने के लिए बाध्य हूँ। आँखें थकने लगती हैं। मुझे नाग-मूर्ति हिलने का आभास देने लगती है। मेरा रोम-रोम काँप उठता है। मैं एकदम ठण्ढे पसीने से लथपथ हो जाता हूँ। उस ओझा की वे लाल-लाल गँजेड़ियों की सी आँखें, उनकी ओर न देखने पर भी मैं बराबर अनुभव करता हूँ कि वे मेरी ओर देखते हुए मेरे पूरे शरीर पर रेंगती हैं जैसे किसी पीले मेंढक की फूली हुई लाल आँखें आपकी देह पर रेंग रही हों। मेरी हड्डियों तक मैं घिन भर उठती है। मैं चीख पड़ना चाहता हूँ।...देखते-देखते मेरी आँखें क्रमशः अंधी होने लगती हैं। कनपटियों की नसों की आवाज तक मैं सुन रहा होता हूँ और मैं अपने को खोल की तरह उलट लेता हूँ--कहीं भीतर। कँप-कँपी मुझे पीपल के पत्ते सी हिला देती है....मैं केवल उस सँपेरे की बीड़ी जली कर्कशी आवाज सुन रहा होता हूँ जैसे रह-रह कोई फटा बाँस कान के पास ठोक रहा हो।...ओझा हाथ में एक डण्डी ले लेता है और उसे मेरे सिर से छुला देह पर से घुमाते हुए धरती पर चटाक से बजा देता है। और वह चटाक, गरम छड़ सी मेरी चेतना पर दग उठती है।....मैं बेहोश होने लगता हूँ लेकिन होने नहीं दिया जाताहूँ।

वह मेरे मुँह पर पानी के छींटे मारता होता है. . . .और मैं, जैसे मुँह में पानी भर गया हो और अथाह जल में डूब रहा होता हूँ। केवल पानी की पारदर्शी अभेद्य दीवार के पार ओझा का पगलाया हुआ घूमता हुआ सिर, खुली हुई जटा, गोल-गोल चक्कर खाती हुई आवाज सुनने लगता हूँ और मुझे गम्पू के घर लगा नरक का चित्र याद आ जाता है. . . यमदूतों ने बाँध रखा है और सिर पर आरी चल रही है. . . . खौलती कढ़ाई में उबलने के लिए फेंक दिया गया हूँ. . . कीड़ों-जानवरों से भरे एक कुण्ड में एक निस्सहाय व्यक्ति मांस नोचे जाने पर चीख रहा है. . . तो क्या मैं मर कर नरक में हूँ ? . . . साँप मुझे घेरे हुए हैं. . . और मैं एक चीख के साथ मुट्ठियाँ कसे अचेत हो जाता हूँ।

मेरा संस्कार किया जा रहा है। मैं द्विज बनाया जा रहा हूँ। केशहीन, कोपीन-धारी बटुक। अकेले पुत्र का यज्ञोपवीत। बा, माँ और पिताजी के लिए इसका विशेष महत्व है। मुझे मलमल के विचित्र वर्णी, रंगीन कुर्ते पहनने को मिलते है।... बाहर चबूतरे पर खंभे गाड़ कर छप्पर का मण्डप तैयार किया जाता है। सफेद चाँदनी तानी जाती है जिसमें रंग-बिरंगे कागज के फूल गोंद से चिपकाये जाते हैं। खंभों पर रंगीन कपड़े लपेटे जाते हैं। खंभों के बीच कपड़ों की झूलती महराबें बनायी जाती है। खूब सारे चित्र टाँगे जाते हैं। लाल-हरे काँच के हण्डों में रात को मोमबत्तियाँ जलायी जाती हैं। फर्श-गद्दे और गाव तकियों पर बच्चे दिन भर लुढ़कते हुए शैतानी किया करते हैं। घर मेहमानों से क्रमशः भरता हुआ उफनाने की स्थिति तक पहुँच गया है।....पीछे आँगन में भट्टियाँ खोदी गयीं जिन पर दिन भर मिठाइयाँ बन कर ताँबे की बड़ी-बड़ी परातों में रखी जा रही थीं। औरतें गूँधे हुए मनों आटे की लोइयाँ बनाती जा रही हैं, बेली जा रही हैं। कोने में एक ऊँची भट्ठी पर हलवाई बेली हुई पूड़ियाँ छान रहा है... शोर, शोर... काम, काम।... औरतें, बच्चे... रंगीन-वस्त्र... गहने... रेशमी कपड़ों

की सरसराहट...कोई किसी की नहीं सुनता है सब दौड़-धूप रहे हैं...एक ऐसी व्यस्तता जो सब के पैरों में, हाथों में आ बैठी है। घर में जैसे अनेक पानी के रंगीन छल्ले घूम रहे हैं जो एक दूसरे के व्यास को काटते हैं, स्वयं अधूरे हो जाते हैं, मिलकर बड़े व्यास के छल्ले बन जाते हैं...और कई बड़े छल्ले एक होकर उत्सव का रूप ले लेते हैं।

दीदी मेरे लिए सदा एक नाम रही है। एक प्रतीक है। गुलमुहर की तरह सुलग उठने वाला आरक्त वर्ण स्नात प्रतीक। एकान्त वनफूल सी दीदी मेरे लिए ठाकुर जी के शंख सी पवित्र हैं। मैं उस ठाकुर-शंख को प्रत्यूष सा बजाता हूँ और सूर्योदय होता है, साँझ अस्ताने लगती है। देहरीदीपा दीदी एक उपेक्षित वनझाड़ी से बढ़कर अब वह कदम्ब हो गयी थीं।...लेकिन यह सब तो मैं आज सोच पा रहा हूँ। उन दिनों वह उतनी ही निकट थीं जैसे दूध पीते बच्चे के सम्पूर्ण मुख पर दूध भरा कोई स्तन हो।...गहने पहनी काकीमाँ, भाभियों तथा अन्य औरतों के बीच दीदी हलदी की गाँठ सी दीठिप्रिया हो गयी थीं। उनके पाजेब ताजे गोबर लिपे फर्श तथा खड़िया के माँडने पर आते-जाते दृश्य लगते। सज कर दीदी कैसी भरी नदी हो गयी थीं। मेरी आँखों में दीदी ही दीदी हो जाती हैं...मैं आँखें मसलने लगता हूँ। वे आदेश देते हुए कभी इलायची, कभी केशर, कभी बाजेवालों के लिए पैसे, कभी पापड़ लिये बस घूमती होती हैं।...क्या कोई सोच सकता है कि कुछ दिन पहले तक जो दीदी, काकीमाँ, भाभियों के सामने उपेक्षित कोने सी थी अब उनकी वाणी में अधिकार, शासन आ गया था।

--शांती ! मोतीचूर के लड्डू कितने बनेंगे भाई ?

काकीमाँ दीदी से पूछती होती हैं। उस दीदी से जिसे वह बचपन में 'डाक्कन' से भूषित करती रही हैं। कितनी जल्दी अपने झीतरे बाल झार, पैरों की धूल पत्थर से रगड़, कलाइयों को गीले कपड़े से कसकर पोंछ, मुँह को बेसन से धोकर लड़की, नारी बन जाती है। भार, शोभा हो जाता है। वह मात्र जिज्ञासा करती है कि शहनाई वाले चुप क्यों हैं ? और बाहर पहुँचते-पहुँचते तक वह जिज्ञासा, रानी माँ,बहूरानी, दीदीमोनी की आज्ञा बन जाती है और तब बाहर बैठे सारे पुरुषों को लगता है कि अरे सच,हम इतने यहाँ बैठे हैं और हमारी आँखों के सामने ही ये शहनाई वाले कामचोरी कर रहे थे--लेकिन भीतर वाली व्यस्त नारी ने कैसे सब जान लिया ?...

--धरमशाला में दो रसोई तो देनी ही होगी।

--क्यों ? दो क्यों ? क्या कोई ब्याह है ?जब घर पर एक रसोई दी जा रही

है तब धरमशाला में दो देने की क्या जरूरत है ?

——लेकिन दो नहीं देंगे तो नाक नहीं कट जाएगी ?

——चार मिठाइयाँ होंगी ।

——चार ?

——क्यों ? कौन दस-पाँच मेरे भाई हैं । एक ही एक उदू है । मैं तो जनेऊ में ब्याह की खाँत (कामना) पूरी कर लूँगी । किसने देखा है तब तक——मैं रहूँ या न रहूँ ।

——तेरा तो शांती ! कुछ समझ ही नहीं आता । कभी कहती है यह न करो, वह न करो, फिजूलखर्ची से क्या फायदा और कहाँ कहती है कि चार-चार मिठाइयाँ होंगी । धरमशाला में दो-दो रसोई दी जाएगी ।

——मैं तो चाहती हूँ कि उदयन की जनेऊ में लोग इतनी मिठाइयाँ खा जाएँ कि दुबारा उसके ब्याह में ही आकर खाएँ ।

और दीदी का आदेश होता है कि पाँच मन शक्कर गलेगी । दस डिब्बे घी तो मिठाइयों के लिए ही चाहिए । भाई को जनेऊ के बाद वह 'कुटुम्ब-पेरावनी' (कुटुम्ब के सारे लोगों के लिए कपड़े) देगी इसलिए बड़े दादा को इन्दौर भेजा गया है । दीदी ने अपने ससुर को लिखवा भिजवाया कि उन्हें क्या-क्या लाना ही होगा . . . दीदी, दीदी, दीदी । . . . लोग विरोध ही करते रहे कि ब्याह-शादियों में रण्डी नचवायी जाती है लेकिन जनेऊ में . . . ?? और दीदी 'रामजनी आएगी ही आएगी' और रोज के हिसाब से सात दिन का पैसा थमा देती हैं जिसका अर्थ विरोध करन वाले के लिए मात्र यही होता है कि तुम्हारा विरोध मुझे नही सुनना . . . जाओ मेरे उदू की जनेऊ में रामजनी जरूर नाचेगी । उज्जैन वाले मामाजी को कड़ी ताकीद के साथ कहलवा दिया गया कि चार वेदपाठी कर्मकाण्डी ब्राह्मणों को सात दिन के पूजन-पाठ, कथा-भागवत, हवन-संस्कार के लिए साथ में लेकर आएँ——यह नहीं कि अपने ज्योतिष के चक्कर में कहीं देवास महाराज या और कहीं निकल जाएँ । दोनों घरों के बीच जो नेरा है वहाँ हवन-संस्कार के लिए पक्की वेदी बनायी गयी है . . . दीदी मेरे लिए अब मातृपद पर पहुँच गयी थीं । माँ ने भी दीदी को सारा भार सौंप एक तरफ——क्षीण, शांत, निर्मल धारा की भाँति अपने को विशद प्रवाह से काट कर अलग कर लिया था । शुभ कार्यों में विधवा अदर्शनीया होती है । वह या तो सिर नीचा किये अपने वृद्ध हाथों से पूड़ियाँ बेल रही होती हैं या किसी एकान्त में खड़े होकर दीदी को परामर्श देती होती हैं । . . . काकीमाँ दीदी की फिजूलखर्ची पर माँ से शिकायत करती हैं कि उदू

को हल्दी, उबटन तो सात दिन तक लगायी जाएगी और कायदा तो यही है कि एक ही धोती पहन कर रोज उबटन लगवाया जाता है। काम खतम होने पर वह धोती नाइन ले जाती है लेकिन शांती कहती है कि नहीं उदयन रोज नया कपड़ा पहन कर नहाएगा और वह रोज नाइन ले जाएगी।...माँ समझाती हैं कि बेटा ! ऐसा कहीं नहीं होता। और दीदी इस बात का कोई उत्तर नहीं देतीं मात्र अपने पति की ओर देख कर किंचित घूँघट निकाल चली जाती हैं। और बेचारे जीजाजी बताते है कि 'उसने' सारी बातों का प्रबन्ध पहले ही से कर लिया है और हमें वह मानना ही होगी।....काकीमाँ 'हुँअ' करते हुए कुहनी हिलाती चली जाती हैं।

रात। बाहर मण्डप में शोर हो रहा है। गत पाँच-छह दिनों से रोज नयी पोशाक में घोड़े पर पूरे जुलूस के साथ आज इस बुआ के यहाँ तो कल उस मामी के यहाँ तो परसों फलाँ के यहाँ इस प्रकार नित्य मुझे भोजन के लिए जाना पड़ता है। गैस, बाजे, पीछे-पीछे गाती चलती स्त्रियाँ...अभी-अभी नन्दन के पिता जहाँ काम करते हैं उन सेठजी के यहाँ निमन्त्रण था, लौटा हूँ।....भीतर औरतों का गाना-बजाना चल रहा है। मण्डप में मेरे आने की प्रतीक्षा की जा रही थी।....मुझे ले जाकर बीच में बैठाल दिया जाता है।....रोज ही ऐसा होता है कि इसके बाद रामजनी का नाच होता है। सारंगी कुनकुनाती है, तबले ठमकते हैं और बाईजी घुँघरुओं के स्वरों मे आधी रात कर देती हैं।...मैं उन बड़े गाव तकियों के बीच ऊँघने लगता हूँ।....सामने रखा पान का थाल, लौंग-इलाचियों की छोटी-छोटी रकाबियाँ, इत्रदान और गुलाबजल का पात्र सब गैस-मोमबत्तियों की रोशनी में लकदक करते होते हैं।....बाईजी का गोल घूमता परिधान लहर लेता हुआ उमड़-घुमड़ होता है। एक व्यास, एक तान, जैसे हवा में तिर उठती है और दर्शक 'वाह-वाह' कर उठते है।....आज कल खूब पान खाने दिया जाता है...जीभ मोटी लगने लगी है...पीपरमेंट खाकर मुँह खोल देने पर गले तक एक ठण्ढी लकीर खिंच उठती है।

दीदी का बुलावा आता है। रोज ही आता है। मुझे बहुत बुरा लगता है यह।..., चारों ओर औरतें ही औरतें। गाती-बजाती हुई, बातें करती हुई, ठिठोली-हँसी करती हुई... मैं उनके बीच से भाग जाना चाहता हूँ। जब मेरी ओर कोई देख देती है तो मेरे कान तक जल उठते हैं... मैं ऊपर नहीं देख पाता हूँ, बस, एकदम एक निरीह सा हो उठता हूँ।

चार कोनों पर चार समई में दीप जल रहे होते हैं। रंगीन अल्पना पर रंगीन छोटी चौकी रखी है। सामने थालियों में बताशे और मिठाइयाँ रखी हुई हैं और वे औरतें बारी-बारी से आकर कौर देती हैं।... मैं दूर-निकट की इन अपरिचित चाचियों-मामियों तथा भाभियों से घिरा प्रयास करता हूँ कि किसी तरह भाग निकलूँ।... कौर मेरे सामने लाया जाता है। कायदा है हाथ न बढ़ाकर मुँह से ही खाया जाए।... मैं मुँह बढ़ाता हूँ... कौर पीछे हटा लिया जाता है... और मैं देखता हूँ कि बीसियों कुंकुम के टीके, सिन्दूरी माँगें, नाक की कीलें तथा नथ, रंगीन कपड़े हँसी से भर उठते है। कौर फिर आता है... मैं इस बार तौलता हूँ कि झपट्टा मार कर ले ही लूँगा और सतर्क कौर फिर झाँसा दे जाता है।... एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी लेकिन मैं सिर झुकाये केवल कौर, चूड़ियों भरा एक हाथ ही देखता हूँ... कभी-कभी मैं केवल हाथ ही पहचानता हूँ कि कल वाला वह हाथ आज कहाँ है जिसने मुझे परेशान नहीं किया था बल्कि स्वयं परेशान हो लिया था। वह रमण-दादा वाली छोटी भाभी हैं। वे कौर देने में व्यर्थ परेशान नहीं करतीं इसलिए औरतें उन्हें छेड़ती हैं कि 'देवर को कौर देने हुए बड़ी ममता है तुममें!!' और मैं देवर, उस भाभी के कंचनमुख को देखने लगता हूँ जहाँ सन्ध्यातारा का सा एकान्त भाव रहता।... औरतें परेशान करने के लिए मिठाई के बजाय बताशे ही खिलाएँगी या इतना बड़ा कौर या छोटा कि... खिसियाहट होने लगती है।

काफी रात हो जाती है। मैं माँ की जाँघ पर सिर रख देता हूँ। उनका वृद्ध हाथ मेरे मुँह को बादलों की तरह छूता होता है। मुझे नींद आने लगती है लेकिन मैं

दीदी की प्रतीक्षा में झिपती आँखों को फैलाते हुए जागता होता हूँ।...और दीदी आती हैं। दीदी से सटकर सोने लगता हूँ।
एक नदी है। एक द्वीप है। नदी जलहीन है। द्वीप जल की प्रतीक्षा में जागता है ताकि जल आये तो नदी, माँ बन जाए। जल आता है। नदी माँ बन जाती है। और नदीपुत्र द्वीप सोने लगता है।...चारों ओर से माँ घेर कर बहने लगती है। कैसा सुख द्वीप को अपने अंगों को छूता हुआ लगता है।...

ओ नदी के पुत्र !
द्वीप--
सो जाओ।
बहते हुए यह
जागती है माँ।
सो जाओ
ओ नदी के पुत्र !
द्वीप--
माँ, आकाश है
नक्षत्र है।
दिशाएँ, क्षितिज तक जल में विनम्रित हैं
सो जाओ नदी के पुत्र !
जागने वाला
माँ है।

आज पण्डितों के वेदमंत्र तथा उनकी चीजों की फरमाइश समान रूप से उठ रही है। मेरे हाथों में दण्ड दे दिया जाता है। केवल कोपीन धारण किये हुए हूँ।

'स्वाहा' 'स्वाहा' के द्वारा अग्निदेव तिरस्करिणियों में जाग-जाग उठते हैं। नवग्रह साक्षी हैं। यज्ञधूम प्रतिश्रुत है। वाजंत्रियों के वाद्यस्वर साक्षी हैं। स्त्रियों के गीत गवाह हैं तथा उपस्थित कुटुम्ब प्रतिश्रुत है कि मैं अब द्विज हूँ, बटुक हूँ... विद्या-र्जन मेरा लक्ष्य है और उसके लिए काशी-यात्रा मेरी प्रतीक्षिता है और मैं उन कुटुम्बियों से 'भवति भिक्षान्न देहि' कहकर मधुकरी माँग रहा हूँ।.... दीदी आती हैं और तिलक के उपरान्त मेरी गोद कपड़ों एवं रुपयों से भर जाती हैं।.... कई बार ऐसा होता है लेकिन अन्त में जब मेरे मामा आते हैं तब मुझे पूर्व आदेश के अनुसार भागना होता है... यह काशीयात्रा है। ... स्वाँग है। मैं कोपीन पहने, दण्ड लिये द्विज बना काशीजी के लिए भागता हूँ। मामा जैसे मुझे इतनी दूर काशीजी नहीं जाने देना चाहते हैं। वे मुझे पकड़ने दौड़ते हैं। मेरे साथ नन्दन, जुगल, गम्पू भी भागने लगते हैं। गम्पू मुझे तालाब की ओर भागने को कहता है। मामा की सहायता के लिए और भी कुछ लोग पकड़ने के लिए दौड़ते हैं।... मैं घेर लिया जाता हूँ और मामा के द्वारा पकड़ लिये जाने पर... रो उठता हूँ। वे मुझे उठाये हुए वापस लाते हैं... काशीभिनिष्क्रमण समाप्त होता है।.... वे मुझे काशीयात्रा पर न जाने देने के लिए लोभ देकर लाये हैं। लोभ मात्र एक साइकिल का है... और मैं प्रसन्न हूँ।

दीवारों पर बड़े-बड़े शीशे धुँआड़े हो गये हैं जिनमें छत के रंगीन हण्डों की कतार दिख रही होती है। एक हण्डे में चिड़ियों का घोंसला है। चिड़िया पंजों से किचिर-किचिर करती हण्डे पर बैठती है। हण्डा हिलने लगता है। हिलती चिड़िया तथा हण्डा दोनों शीशे में हिलने लगते हैं।... दर्शन हो चुके हैं। 'पान-फूल' की सेवा हो रही है। मंदिर का लाल पर्दा छल्लों और तार पर लटका झूल रहा है। कीर्तनियाजी 'सूरसागर' बन्द कर 'पान-फूल' की सेवा करते हुए वैष्णवों को कथा-वार्ता का कोई प्रसंग सुना रहे हैं। मुखियाजी महाराज भीतर से निकल कर अपनी खड़ाऊँ पर खड़े हुए कुछ चर्चा कर रहे हैं। माँ और काकीमाँ किशमिश साफ कर रही हैं।

मंदिर हवेली है। हवेली के पिछले भाग में यह मन्दिर है। बाहर से देखने पर मन्दिर का आभास नहीं मिलता। मंदिर के लिए एक साधारण सा दरवाजा है जो गली में पड़ता है। गली के नुक्कड़ पर म्यूनीसीपाल्टी की टिन की कोठी है जिसमें अन्य घरों का कूड़ा तथा मंदिर की जूठी पत्तलें दिन भर सड़ती रहती हैं तथा आवारा गायें, कुत्ते और कौवे उनके चक्कर लगाया करते हैं। वैसे वह गली

खली है लेकिन शिवाले और पीपल के कारण वह गली जैसे मृत लगती है। गली को वैष्णवों ने अपने तईं पक्का करवा दिया है। जिनके कारण वह गली, गली बनी है वह एक ओर का कंस-चबूतरा है तथा दूसरी ओर वही शिवाला है। दूर से देखने पर गली में आने-जाने वाले लोग, घुटनों तक नहीं दिखायी देते केवल ऊपर के धड़--रंगीन साड़ियाँ, गोटा-किनार वाले घूँघट, दुपट्टे और वैष्णवी तिलक लगाये पगड़ियाँ आती-जाती दिखायी देती हैं।

मन्दिर में खुला आँगन है जहाँ एक पक्का कुआँ तथा कुएँ के चारों ओर छोटी सी बगीची है। आँगन में बीचोबीच श्यामा तुलसी का बड़ा सा चौरा है जिस पर ताँबे का एक करवा प्रायः रखा रहता है। आँगन के सिरे पर छोटी सी गोशाला है जिसमें दो गायें हैं। दर्शनों के बाद वैष्णव उन गायों को चारा खिलाते हैं।...

आँगन से लगी हुई पड़साल के ढंग की एक दालान है जिसमें बीचोंबीच चार सीढ़ियाँ हैं। सीढ़ियों के ऊपर वह खास दालान है जहाँ दीवारों पर अनेक बड़े-बड़े शीशे। छत में लटकते काँच के रंगीन हण्डे। जहाँ एक तरफ 'सूरसागर', हारमोनियम, तबले आदि रखे रहते हैं। यहीं पर वैष्णव एकत्र होकर दर्शन करते हैं। दीवारों में लकड़ी की महराबें लगी हुई हैं और हर खम्भे पर श्रीकृष्ण लीला से संबंधित चित्र टँगे हैं। खूटियों पर या तो कीर्तनियाजी का दुपट्टा हवा में हिलता रहेगा या जलघड़िया की बंडी उदास टँगी रहेगी।

नीचे की पड़साल में मिट्टी के बड़े-बड़े दीये तार में बँधे हुए हैं जिनमें चिड़ियों के लिए पानी और दाना रखा रहता है। एक तोता और एक मैना भी अपने-अपने पिंजड़ों में बन्द हवा में झूलते होते हैं। तोते को सब 'दाऊजी' कहते हैं और दाऊजी आने-जाने वालों से दिन भर 'जय श्रीकृष्ण' चिल्लाया करता है। दाऊजी की बड़ी सी लाल चोंच अनार, गरी आदि जाने क्या-क्या खाकर खूब लाल-लाल रहती। मैना को 'ललिता सखी' पुकारा जाता है।

माँ औरतों में बैठी सेवा कर रही हैं। मैं एक खंभे से टिका हुआ दाऊजी को चीखते हुए सुन रहा हूँ। मंदिर में इतनी शांति है कि मक्खियों के भिनभिनाने की आवाज तक आ रही है। गली के शिवाले के पीपल की एक डाल आँगन पर झुक आयी है और प्रायः उसके पत्ते हिचकोलों में गिरते रहते हैं।

मुखियाजी अभी-अभी अपनी खड़ाऊँ चटकाते भीतर लौट गये हैं। उसी दरवाजे से अपरस की भूषा में हाथ में करवा लिये मुखियाजी की बड़ी लड़की वल्लभा सीढ़ियों से नीचे पड़साल से होती हुई गोशाला की तरफ चली जाती हैं। वल्लभा, दूर की बुआ लगती हैं।

वल्लभा, खूब भरे बदन की, गौर वर्णा सुन्दरी। अपरस के एक वस्त्र में अंग स्वतंत्र थे उभर आने के लिए इसीलिए वल्लभा अत्यन्त जागरूक भाव से उस एक वस्त्र को दुहराने की व्यर्थ चेष्टा करती हुई अभी निकली थीं। साथ ही अपने को भी चलने में, उतरने में साधती हुई गयी थीं। अभी-अभी उनकी गोरी चिकनी एड़ी, एड़ी के ऊपर जरा सी पिंडली दिखती हुई तथा चलने से बार-बार हिलती-डुलती अपरस की साड़ी... पड़साल से होती हुई, बगीची के पीछे से गोशाला की तरफ चली गयी है।... बाल विधवा वल्लभा, बिल्कुल गोल मुँह की हैं। बचपन में गुदाया बाँये गाल का हरा तिल देह के साथ अनुपात में वह भी बढ़ा और अब वह वल्लभा के मुँह पर ढीठ मक्खी की तरह बैठा दिखता। बिना माँग का, पीछे झारे गये बालों का उदास जूड़ा, अपरस की उस मैली सी धोती में से झलकता होता। बत्तीसी इतनी कसी-कसी सी मुँह में थी कि दाँतों का विभाजन ही पता नहीं चलता था। गाल दोनों ओर खूब कस कर फूले हुए थे जिसके कारण वह छोटी सी ठोढ़ी लटकी हुई मालूम पड़ती थी। आँखों से बड़ी पलकें थी। दर्शन के समय या तो वह मुखियाजी को, अँधेरे कोने में खड़े होकर मौन भाव से दर्पण दे रही होतीं या आरती पकड़ाती होतीं।... जल की झारी पर कपड़ा लपेटते समय उनकी पीठ मंदिर के उस ठंढे अँधेरे वातावरण में अजीब दिखती... केवल अपरस का अबूट्या ही होता जो एक गोल सिर पीछे को बनाता है। कन्धों पर गिरते हुए तराशे हुए ढंग से तंग होता हुआ कमर के पास पतला सिमटा होता उसके बाद वह अबूट्या फैलता भी काफी है तथा उभरा हुआ दो बड़े वृत्तों में नीचे एकदम नहीं गिरता है लेकिन लिपटा अधिक लगता है।... और आरती समाप्त होते-होते एक सूना गोरा हाथ लाल पर्दे को ऊपर से सरकाता हुआ बढ़ता दिखता है। पर्दे की सलवटों के बीच नीचे दो गोरे उजले पैर भी बढ़ते दिखते हैं। और, एक गोरे हाथ तथा दो पैरों पर चलते हुए पट बन्द हो जाते हैं।

वल्लभा उसी अबोले भाव से निःशब्द लौट जाती हैं। मुझे घूरता देख उन्होंने नीची पलकों से ही, सीढ़ियाँ चढ़ते हुए ईषत देखा और ओठों की फाँक दाहिने गाल में किंचित धँसी और रुक गयी। माँ ने पुकारा,

—वल्लभा !

रुकते हुए बोलीं,

—जी !

—मुखिया जी अपरस से निकल आएँ तो खबर करवा देना।

और वल्लभा दाहिने हाथ से कमर के नीचे दुहराते अबूट्ये को और खेंचते

हुए बढ़ गयीं।

थोड़ी देर बाद ही वल्लभा आयीं और माँ को बुला ले गयीं। माँ, काकीमाँ के चले जाने के बाद सिवाय दिशाहीन होने के मेरे लिए और कुछ रह भी नहीं जाता था। इक्के-दुक्के आने वाले 'जय श्रीकृष्ण' कहते हुए मंदिर के मौन को भंग करते लेकिन जैसे जल की शांति को बुलबुलों की ऊबचूब कितना तोड़ सकती है ? तभी मुझे पुकारा जा रहा था,

—उदयन !

—जी !!

पुकारने वाली वल्लभा थीं जो दरवाजे की चौखट दोनों हाथों से पकड़े थीं। मैं पास जाता हूँ—वल्लभा मुझे साथ आने का मात्र संकेत करते हुए आगे-आगे चल पड़ती हैं। अँधेरा गलियारा कच्चे ठण्ढे फर्श से होता हुआ कुछ दूर जाकर एक चौकोर दालान में परिवर्तित हो जाता है। बीच में पक्की चौखंडी है। चौखंडी में बीचो-बीच मोटी जड़ों वाली एक लता ऊपर छितराती हुई खड़ी थी। ऊपर की मंजिलों में जाने का यहीं से रास्ता है। बाँये हाथ मुखियाजी महाराज का जीना है तथा इस समय वल्लभा मुझे दाहिने हाथ के जीने से ऊपर लिवाये जा रही थीं। चारों ओर हल्की खट्टी गंध आ रही थी। मैं कई बार मुखियाजी महाराज के कमरे तक गया हूँ। पहली बार तो गुसाईं जी महाराज के आगमन पर अपने 'ब्रह्म-सम्बन्ध' के लिए ही वहाँ ले जाया गया था। मुखियाजी का कमरा क्या है, वैभव है। वल्लभा दो-चार मोड़ों, देहरियों को पार करते हुए तीसरे तल्ले पर पहुँचीं। जीनों की रस्सियाँ थामते हाथ तथा सीढ़ियाँ चढ़ते दोनों पैर ही दुखने लगे थे। कमरे का पर्दा ऊँचा करते हुए वल्लभा बोलीं,

—तुम बैठो, मैं अभी आयी।

कुछ समझ में नहीं आया कि बैठूं, तो कहाँ बैठूं ? यह नहीं कि वहाँ बैठने की समस्या थी बल्कि समस्या मेरी थी। खुली खिड़कियों से धूप और हवा दोनों ही निर्द्वन्द्व आ रहे थे। शिवाले वाला पीपल सीमा अतिक्रमण किये हुए था। उसकी एक डाल के पत्ते चिकने-चिकने हिलते हुए बिल्कुल खिड़की पर झुके हुए शैतानी कर रहे थे। कोने में बड़ा सा छप्पर पलँग लगा था। लकड़ी की दो आलमारियाँ खिड़कियों के बीच खड़ी थीं। एक बड़ा सा शीशा दीवार के सहारे कोण बनाता खड़ा हुआ था। उसकी सुनहरी फ्रेम कहीं-कहीं उखड़ी हुई थी। शीशे के सामने ऊन का एक आसन पड़ा था। आसन के पास एक छोटी सी तिपाई पर शृंगार की चीजें, चोटी आदि अव्यवस्थित पड़े हुए थे। कंस-चबूतरे की तरफ

खुलने वाली खिड़की के पास जाकर मैं खड़ा हो जाता हूँ।... वह बड़ा सा कंस-चबूतरा, सड़क पार वाला वह पीला सा बड़ा मकान तथा दूसरे सारे मकान... और सड़क, आते-जाते लोग––गहरे, छोटे, फैले लग रहे थे। अस्पताल वाली सड़क पर एक गाड़ी चली जा रही थी। जिसमें कोई बीमार ले जाया जा रहा था।... मुझे डूँगरी से देखे गये उस क्षितिज पर्यन्त दृश्य की याद हो आयी।... इस समय भी मैं इस सारे व्यापार से कैसा पृथक हूँ तभी तो आने-जाने वाले अनेकों लोगों के साथ एक ही क्षण में अस्पताल की तरफ भी जा रहा हूँ तथा चौक से सोमवारे बजार की तरफ भी आ-जा रहा हूँ।... वो उस सेठानी की पँचरंगी ओढ़नी के साथ गली में मुड़कर अभी अदृश्य हो जाऊँगा जब कि इन्दौर-खिलचीपुर गाड़ी के उस मोटर ड्राइवर के साथ-साथ उसी की सी खाकी कमीज पहने चल रहा हूँ। और मुझे वल्लभा ने पुकार कर चौंका दिया।

––अरे, तुम खड़े ही हो ?

और मैं वस्तुतः भूल ही गया था कि मैं वल्लभा के साथ अभी-अभी ऊपर आया हूँ। यह मेरा कमरा नहीं है और न ही मैं इतने सारे लोगों के साथ एक साथ ही आ-जा रहा था।... वल्लभा ने उत्तर की दीवार की ओर लगी मसनद की ओर सकेत करते हुए,

––बैठो, और कुछ खा लो।

मैं स्पष्ट नहीं था कि क्या किया जाना चाहिए। सामने दीवार पर लगे श्रीनाथजी के बड़े से चित्र की रंगीन हिलती 'पवित्रा' को देखने लगा।

––अच्छा अब जल्दी से खा लो।

––लेकिन मैं तो खाकर आया हूँ।

––यह नाश्ता नहीं, प्रसाद है।

संस्कार के कारण प्रसाद का तिरस्कार, भगवान का तिरस्कार है और भगवान का तिरस्कार करने वाला तो त्रैलोक्य में भी नहीं देखा-सुना गया।... और खाने लगा। वह मुझे देखने लगीं।

पलँग की पीठ से टिकी बैठीं वल्लभा इस समय रंगीन भूषा में थीं। शरबती रंग उनके मुख के चारों ओर परिधि देकर कंधों पर से उतरता हुआ देह संयुक्त हो किंचित झूलते पैरों तक चला गया था। गले की तुलसी-कण्ठी के बीच महीन सी सोने की सिकड़ी झलक रही थी। कान बिल्कुल उदास थे। बाल अब जूड़े में न होकर हवा में चैतन्य लग रहे थे। बालों के इस प्रकार खुल आने से वह ठाकुर-समर्पिता से अधिक एक नारी लग रही थीं। मुख पर सेवा करते हुए जो

तनाव था इस समय वह मुख धूप भरे आकाश की ओर खुली खिड़की सा लग रहा था। आँखों में कोई विशेषता नहीं थी बल्कि वे आत्ममुखी अधिक थीं जैसे बाहर तो वे होने के लिए बस हैं--वर्ना वे भीतर ही भीतर हैं। संभव होता तो वे पलकों को भी अपने साथ भीतर ही ले जातीं।

--तुम पढ़ने जाते हो ?

--जी हाँ।

--कहाँ जाते हो ?

--उदासी-मठ में।

--क्या पढ़ते हो ?

--हिन्दी।

--तुम रोज मन्दिर क्यों नहीं आते ?

--रोज स्कूल जाता हूँ।

--आज की तरह हर रविवार को क्यों नहीं आते ?

--माँ नहीं लातीं।

--मैं कहूँ तो आओगे ?

--माँ से पूछूँगा।

--तुम्हें मिठाइयाँ अच्छी लगती हैं ?

--हाँ।

--और क्या अच्छा लगता है ?

--दीदी।

--तुम्हारी दीदी की ससुराल वाले तो वैष्णव नहीं हैं न ?

--जी नहीं। शैव हैं।

--और क्या अच्छा लगता है ?

--जो...जो बहुत अच्छा लगता है...जिसकी बहुत याद आती है...वह अब नहीं है।

--क्या ?

और कहीं पर माँ मुझे पुकार रही थीं। आ रही पुकार की तरफ मैं आँखें करता हूँ। उठता हूँ। वल्लभा भी उठती हैं। मेरे कंधे पर हाथ धरते हुए मुझे बस देखती रहती हैं।...माँ की पुकार फिर आ रही होती है। अब तो चल ही पड़ता हूँ। वे फिर पूछती हैं,

--उदयन ! तुमने मुझे बताया नहीं....कौन बहुत याद आता है ?

और कमरे से बाहर निकल उन्हें देखने के लिए एक क्षण खड़ा रहता हूँ। वे मेरे उत्तर की प्रतीक्षा में खड़ी हैं। उनकी आँखों में ढेर सारी धूप, आकाश चमक रहा है।

—माँ जो मर गयी हैं न ? उनकी याद आती है।

और जीने पर उतरते हुए पैरों की खटखट होने लगती है।

वल्लभा दूर की बुआ लगती हैं। विधवा होने के बाद से वे मन्दिर छोड़कर कहीं नहीं आती-जातीं। लेकिन अब प्रायः हमारे घर आने-जाने लगी हैं। दोपहर को मन्दिर का सारा काम निबटा कभी-कभी माँ का हाथ बँटाने चली आती हैं। काकीमाँ, भाभियाँ वल्लभा को लेकर कानाफूसी करने लगी हैं। मुझे साथ ले वल्लभा, दीदी के घर भी चली जाती हैं।... दीदी प्रायः अस्वस्थ रहने लगी हैं इसलिए माँ आये दिन दीदी के बजाय अब वल्लभा को बुलाने के लिए मुझे भेज देती हैं।... वल्लभा अब माँ को सहज लगने लगी हैं।

मैं वल्लभा को बुलाने जा रहा हूँ। नाले की इमली के नीचे ढेर सारी कोटरें पड़ी रहती हैं। जिन्हें या तो गिलहरियाँ कुतरा करती हैं या फिर अस्पताल से लौटते हुए औरतें उन खटमिट्ठी कोटरों को बीन ले जाती हैं। अस्पताल वाली सड़क से वल्लभा के यहाँ जाना मुझे अच्छा लगता है क्योंकि अस्पताल के अहाते की दीवार एक तो बहुत ऊँची नहीं है दूसरे सीधी-सपाट बड़ी दूर तक चली गयी है। जिस पर नीम और यूकेलिप्टिस की तिरस्करिणी छाया झूलती रहती है। खटमिट्ठी इमली से खटाये दाँतों में लगती हवा... पूरी देह, मन सब कैसा-कैसा

हो जाता है न?... दीवार पर चलते हुए कित्ता ऊँचा-ऊँचा लगता है... नीचे पूरी सड़क, कुरते की खाली बाँह सी फैली होती है। अस्पताल के कम्पाउन्ड की ओर सफेद ट्रे में शीशियाँ, रुई तथा थर्मामीटर लिए नर्स तथा गले में स्टेथस-कोप लटकाये डाक्टर मरीजों के पलँगों के पास आते-जाते दिखते हैं।... कोई देहातिन कंडियों की अरींठ लगाये उन पर बाटियाँ सेक रही होती है... और मैं सवेरे की उस पीली ताजी धूप में दोनों हाथों से देह-भार सन्तुलन करते हुए सिरे पर पहुँच जाता हूँ... वो उस बड़े से रेनगाज के ऊपर कौवा कैसे मजे में आने-जाने वाले मरीजों को देख रहा है... और मैं एक कंकड़ी उसे मारता हूँ... कंकड़ी रेनगाज के टिन से टकराती है और कौवा तेजी से काला-काला तैर कर सरदार वाकनीस की तिमंजली हवेली पर पहुँच जाता है... मैं भी ऐसे ही तैर जाना चाहता हूँ... वोऽऽ वहाँ वाकनीस की हवेली के ऊपर से होते हुए पूरे कस्बे को पार कर डूँगरी पर पहुँच जाना चाहता हूँ और फिर वहाँ से दूर... दूर... खेत, नदियों को फलाँगते क्षितिज तक पहुँच जाना चाहता हूँ... लेकिन उसके बाद...??... और मैं मन्दिर के सामने वाले शिवाले के सामने की लोहे की झँझरी की छड़ें गिन रहा हूँ... नन्दी के पुट्ठे कैसे काले-चिकने चमक रहे हैं। झँझरियों से अभिषेक का ताम्रपात्र, जलधारा, हरसिंगार के कोमल फूल, चमकदार बिल्वपत्र सब दिखलायी देते हैं... और मैं मन्दिर जी से आते-जाते लोगों को देखने लगता हूँ।... तभी ध्यान आता है कि माँ ने मुझे वल्लभा को बुलाने भेजा है।

वल्लभा 'राजभोग' की तैयारी में हैं। अपरस के चौके के पार खड़े हो कर माँ का सन्देसा दे देता हूँ? राजभोग' के बाद आने की बात लेकर मैं फिर उछलता हुआ बाहर निकल आता हूँ।

दीदी बहुत बीमार रहने लगी हैं। पेट फूल आया है। मुँह एकदम हल्दी की गाँठ हो गया है। उठने-बैठने में तकलीफ होती है। दीदी को घर पर ही बुलवा लिया गया है। वैद्य, हकीम और डाक्टर सभी का कहना है कि दीदी को उज्जैन के

बड़े अस्पताल में ले जाना चाहिए। पिताजी उज्जैन जा नहीं सकते क्योंकि जिले की मर्दुमशुमारी के काम से गाँव-गाँव घूमना पड़ रहा है। बा और माँ को ही जाना होगा लेकिन तब मेरा क्या हो ? स्कूल से इतने दिनों के लिए ले भी नहीं जाया जा सकता। वैसे काकीमाँ हैं, नन्दन का पूरा परिवार है लेकिन फिर भी माँ पूरी तरह आश्वस्त नही होतीं। इन लोगों के रास्ते के लिए वल्लभा पूरियाँ छान रही हैं। वे माँ से बोलीं,

—बुआजी !

—क्या है वल्लभा ?

अचार की बर्नियों के मुँह कपड़ों से बन्द करते हुए पूछा।

—आप शांती को लेकर निश्चिन्त हो दवा-दारू करवाइए और उदयन की चिन्ता मुझ पर छोड़ दीजिए।

—सो तो होगा ही रे ! . . . लेकिन . . .

—लेकिन क्या ?

—एक तो मन्दिर का इत्ता सारा कामकाज उस पर उदू की देखभाल . . .

वल्लभा चूल्हे पर से कढ़ाई उतारते हुए बोली,

—हाँऽऽ बोझ तो है ही बुआ ! लेकिन अब क्या किया जाए।

और माँ ने देखा कि लकड़ियों की आँच में जैसे एक बड़ा सा झब्बेदार गेंदे का फूल हँस रहा है।

—नहीं रे, बात यही भर नहीं है।

—तो और क्या है ?

—इसकी काकीमाँ बुरा मनाएँगी कि मैंने उनको नहीं विश्वासा और तुम्हारे भरोसे उदू को छोड़ गयी।

—कोई बात नहीं, रात में उदू यहीं आ जाएगा और फिर बुआजी ! बुरा मानने वाले को कोई कहाँ तक बुरा मानने से रोक सकता है ?

—लेकिन वल्लभा ! मन्दिर के अपरस में तुमसे यह सहेजा जा सकेगा ?

—न भी सहेजना चाहूँ तो भी क्या हो सकता है ?

और वल्लभा की बात अपने सही अर्थ में माँ तक व्यक्त हो गयी।

नन्दन अब सरकारी स्कूल में है इसलिए परेड पर जाता है। मैं अपना बस्ता ले बड़ी सवेरे से मन्दिर जी पहुँच जाता हूँ। 'शृंगार' की तैयारी हो रही होती है। मैं धड़धड़ाता हुआ वल्लभा के कमरे में पहुँच जाता हूँ। जहाँ पीढ़े के सामने एक पत्तल पर नाश्ता मेरी प्रतीक्षा में रखा रहता है। कमरे की सारी खिड़कियों और उस बड़े से दरवाजे से, टुकड़ों में आकाश दिखता होता है। पीपल के पत्तों की चिलबिल, सरसराहट, मछलियों के पेट की तरह चमकता सब दिखता है। वल्लभा के कसे हुए बालों की तरह ही कमरा भी कहीं से अनव्यवस्थित नहीं लगता है। कोने में बाँस की अलगनी पर वल्लभा की सूखती साड़ी तथा बाल झारने का पंचा सूख रहे होते। मैं नाश्ता कर लेता हूँ और प्रायः इस बीच वल्लभा एक बार अवश्य ऊपर आकर देख जाती हैं। अपरस के उस अबूट्ये में वह एकवस्त्रा बनी दरवाजे के बाहर ही खड़ी पूछ रही होतीं,

—ठीक से खा लो नहीं तो स्कूल में भूख लगेगी।

और वह घुटनों में हाथ दबाये झुक कर मेरी पत्तल में क्या है, क्या नहीं है की खबर लेने लगतीं। उनकी कण्ठी तथा ताँबे की दाँत कुरेदिनी झूल रही होतीं। अबूट्ये में झाँकते हुए कंधे, उझक कर खुल आते और गला एक चिकना उतार ले कन्धा बन जाता है और फिर कंधा, बाँह बन कर कैसे हथेलियों में, अँगुलियों में नितर आया है। सवेरे के सूने आकाश सी वल्लभा अपने दो उजले पैरों को समेटे खड़ी देख रही होती हैं।

तीसरे प्रहर जब स्कूल से लौटता हूँ उस समय वल्लभा बाल झार रही होतीं। मैं पलँग पर जाकर बैठ जाता हूँ। उनके उस पलँग पर इसलिए नहीं लेटता हूँ क्योंकि उस पर लेट कर मैं अपने को बहुत छोटा अनुभव करता हूँ। और छोटा अनुभव करना कोई भली बात नहीं है। वल्लभा उस बड़े से शीशे के सामने बाल झार रही हैं। घुटने मोड़े बैठी वल्लभा की पीठ मेरी ओर है। पीठ में रीढ़ की कैसी गहरी नाली कमर के नीचे तक चली गयी है। दोनों हाथों से जूड़ा बनाने के कारण उनकी देह जैसे ऊपर खींची हुई है। मुँह में क्लिप दाँतों से पकड़े हैं तथा हाथ गोल-गोल घूमते हुए जूड़ा बना रहे हैं। गमकने वाले तेल की शीशी खुली पड़ी है। शीशे में से मेरी ओर देखते हुए बोलती हैं,

—थक गये होगे, लेट जाओ।

—दीदी कहती हैं कि दूसरे के बिस्तरे पर लेटना असभ्यता है।
और मैं देखता हूँ कि वे मात्र मुसकरा रही हैं। जूड़ा बन चुका है और वे गीले गलने (तौलिया) से खूब रगड़ कर मुँह उजलाने लगती हैं। आँखों में काजल आँजती नहीं हैं बल्कि डाल लेती हैं। सूने भाल की वल्लभा जब मेरी ओर मुँह कर के मुसकराती हैं तो ऐसा लगता है जैसे ग्रीष्म की फीकी आरंभिक द्वाभा हो।... वे चीजें सहेजने लगती हैं। गलना बाहर तार पर सुखा आती हैं और मेरे पास पलँग पर बैठते हुए कुछ क्षण मुझे देखने लगती हैं। उपरान्त मुझे सटा लेती हैं।
—उदयन !
—जी।
—तुम मुझे कभी किसी नाम से नहीं पुकारते।
और सचमुच ही पीठ पीछे जिन्हें 'बुआ' कह लेता हूँ सामने जाने क्यों नहीं कह पाता।... मेरा मुँह उनके उठते-गिरते सीने में भरा होता है।
—मैं तुम्हारी बुआ हूँ न ?
—जी।
—तो फिर बुआ क्यों नहीं कहते ?
—नहीं, बुआ अच्छी नहीं होती।
वल्लभा मेरा मुँह अँजुरियों में भर कर देखने लगती है।
—किसने कहा तुमसे ?
—किसी ने नहीं, लेकिन...
—अच्छा, तो फिर क्या कहना चाहते हो ?

मैं वैसे ही उनकी अँजुरियों में थमा-थमा सा अपनी पुतलियों से उनके पूरे मुँह की सम्पूर्ण प्रदक्षिणा कर रहा होता हूँ।...बरौनियाँ कैसी भीगी-चिपकी वक्र तनी हुई है। पतले ओठ गालों में भरकर विलीन होते हुए गहराई छोड़ रहे होते हैं।...उनकी आँखें यात्रा की भाँति खुली विस्तृत लगती हैं। मेरी आँखों में उनका गोरा मुँह सम्पूर्ण भर उठा है।

—बोलो, क्या कहना चाहते हो ?
हम दोनों की साँसें खूब गहरी किन्तु लम्बी-लम्बी चल रही होती हैं। मैं नहीं जानता कि वल्लभा को मैं क्या कहना चाहता हूँ।... और मैं हठात अपनी दोनों हें उनकी गर्दन में झुला देता हूँ... उनके मुँह से अपना गाल चिपका देता हूँ...
—माँ !!
और वे मुझे कसे रोने लगती हैं। और मैं माँ को पाने के लिए अकुला उठा हूँ।

बा, माँ और दीदी को गये एक महीना हो गया है। पिताजी इस बीच एक बार आये थे। वे भी उज्जैन गये थे और वहाँ के समाचार नन्दन के पिता को, वल्लभा को बता कर वे फिर मर्दुमशुमारी के लिए चले गये हैं। जिस समय पिताजी 'कचहरी' में बैठ कर दीदी की बीमारी का हालचाल बता रहे थे तो भीतर के कमरे में दरवाजे की आड़ में बैठी काकीमाँ, भाभियाँ और सब सुन रही थीं। नन्दन और मैं भी था लेकिन हमें भगा दिया गया था। हम लोग नेरे की तरफ की खिड़की के पल्लों से कान सटाये सुनने की चेष्टा करते रहे। लेकिन वह मात्र चेष्टा ही रही। . . जिस समय हम लोग वापस 'कचहरी' में पहुँचे औरतों के चेहरे अधिक उदास थे। वल्लभा की आँखों में जैसे दीदी की सारी कथा छलकी हुई थी।

आज पहली रात थी जब मैं वल्लभा के पास ही रह गया था।

'शयनारती' के बाद वल्लभा ने टोका भी कि अब मैं घर चला जाऊँ। काकीमाँ प्रतीक्षा करेंगी लेकिन मैं आकुल था कि आज दोपहर में पिताजी ने दीदी के बारे में क्या बताया ? हम लोगों को क्यों हटा दिया गया था ? उसके बाद सब उदास क्यों थे ? दीदी कब लौटेंगी ?

वल्लभा मुझे कमरे में बिठाल मन्दिर का कामकाज सहेजने-समेटने लौट गयीं। मैं उनके पलंग की पीठिका पर सिर टिकाये बैठा हूँ। पीतल की हण्डेवाली लैम्प जल रही है। श्रीनाथ जी का चित्र रात में कैसा उभर आया है। एक निस्तब्ध शान्ति लैम्प के चारों ओर खिड़कियों से आकर घिरी बैठी है। दरवाजे की चौखट में तारों का एक झूमर लटकता हुआ चमक रहा है। केवल नीचे से दूर गहरे मुखियाजी या किसी दूसरे का पुकारना सुनायी पड़ जाता है। इस शान्त स्तब्ध वातावरण में आलमारियाँ बोलती सी लग रही थीं। अैसे वे अभी अपने पल्ले खोलकर बारी-बारी से बोलने लगेंगी। पल्कें झुकी पड़ रही हैं लेकिन मैं उन्हें बरबस खोले हुए हैं। कहीं दूर 'दाऊजी' का चीखना आ रहा है। मेरी निंदासी पलकें सतर्क हो जाती हैं। जीने पर पदाहट होने लगती है।

—अरे, अभी तुम सोये नहीं ?

और वल्लभा ने झटके से बाल खोल कर पीठ पर फैला लिये। धोती में खुँसे ताली के गुच्छे से आलमारी खोली और एक दरी-चादर निकाली। कमरे के बीचोबीच जाजम को झाड़ दरी बिछा चादर फैला दी तथा पलँग का एक तकिया लगा जब वल्लभा निश्चिन्त हो कर बैठी तो वह मेरी ओर घूरने लगीं।

—क्या आज सोना नहीं है ?

मैं जाने क्यों एकदम वल्लभा से सटकर वैसे ही रहना चाहता था जैसे कोई झरना किसी पर्वत के पदतल में सायुज्य भाव से रहता है।

—मेरे पास आकर बैठो।

मेरी बात सुनकर वल्लभा अपने बालों को सुलझाना छोड़ देखने लगीं। पीठ पीछे से प्रकाश आ रहा था। प्रकाश सब को रूप दे रहा था लेकिन इतना नहीं था कि वे पूर्ण खिले लगें तथा दिखें भी। लेकिन फिर भी वल्लभा का देखना मुझ तक चल कर आया और मुझे छूता हुआ भीतर तक अनुभव होता रहा।

—बच्चों को इत्ती रात तक नहीं जागना चाहिए। अब सो जाओ। मैं भी थक गयी हूँ।

मुझे वल्लभा की बात बहुत बुरी लगी। मैं अपमानित अनुभव करता हुआ सिर की तरफ की पट्टी पर पीठ फेर मान कर लेट गया।... मैंने वल्लभा को "माँ" कहा ... लेकिन क्या माँ ऐसी होती है ? ... मैं गले में हाथ डाल माँ के सीने पर अपनी नाक रगड़ना चाहता हूँ। माँ को सम्पूर्ण अनुभवना चाहता हूँ। माँ का स्पर्श मुझे नींद के नील-लोक तक गाते हुए ले जाए। मैं भी नन्दन को

दिखा देना चाहता हूँ कि मात्र उसकी ही माँ गौर-सुन्दर नहीं हैं, लो देखो, मेरी माँ भी पीताभा घाम सी है—वल्लभा !!

और मैं पीठ की ओर वल्लभा की पदाहट अनुभव करता हूँ। इसके बाद पलँग पर तथा बिस्तरे पर बैठने का एक दबाव मालूम होता है...और सरसराता एक हाथ मेरी पीठ पर आकर ठहर जाता है।...मैं नहीं बोलूँगा इनसे।... और मैं पलकों को कस कर बन्द रखने के ख्याल जोरों से अपनी मुट्ठियाँ कस कर अपने घुटनों में दबा लेता हूँ। आँखों में सल पड़े कपड़े की तरह अँधेरा गुड़ी-मुड़ी होकर यहाँ-वहाँ कोनों में दबा पड़ता है।... वल्लभा का हाथ क्रमशः मेरे सिर पर आकर कुछ क्षण को रुकता है जैसे वह कुछ सोच रहा है।... और मैं अनुभव करता हूँ कि वल्लभा अब पैर लंबे कर रही हैं। बिस्तरे पर उनके लेटने से झोल आता है। वल्लभा की देह का स्पर्श पीठ की ओर पूरी तरह हो रहा है।... वह मुझे अपनी ओर मुँह करने के लिए बाध्य कर रही हैं। मेरी बन्द आँखों में अँधेरा कुचला पड़ रहा है लेकिन मैं अपने को और भी कड़ा कर लेता हूँ।

—क्या अपनी माँ से ही रूठेगा उदू ?

वल्लभा ने क्या कहा ? माँ !! और "माँ" कानों के पास से घण्टारव सा बजता हुआ दूर-दूर तक के अँधेरों में बजता चला जा रहा है और हिलते हुए अँधेरे में कैसे प्रकाश फूटने लगा है—माँ !!—हवा की एक नीली स्वर की लकीर पूरे चरागाह पर झर पड़ती है—माँ !!—मुट्ठी के दानों की तरह उछाल दिये गये कबूतर, पूरे कस्बे पर पंख फड़फड़ाते हुए, धूप में चमकते हुए—शब्द ही शब्द बन उड़ रहे हैं—माँ !!... और आँखों का, मुठ्ठियों का, देह का तनाव घुलने लगता है। आकाश का अँधेरा तनाव धूप के स्पर्श से घुलने लगता है। मैं ललक कर माँ के वक्षस्थल की नील गहराई में फिर मुँह डाल देता हूँ। माँ जैसे एक अनन्त वक्ष है, आकाश है, जहाँ उद्दण्ड मेघ, स्वेच्छाचारी विद्युत, गणना-हीन तारामण्डल असंख्य दिन और रात, पक्षियों का अनन्त परिवार सब इस वक्ष में, उसकी क्षमात्मक करुणा में लीन होते हैं।...वल्लभा! मुझे माँ दो।

—क्या बात है उदू ! क्यों रो रहे हो ?

कमरे में पीला प्रकाश फर्श पर पानी की तरह बिछला पड़ रहा था। कोई चमकीला तारा इस बीच खिड़की की छड़ों के बीच झाँकता चमका पड़ रहा था। वल्लभा की देह से एक गंध आ रही थी जैसे ताजे माँड़े गये आटे की होती है।...वल्लभा की साड़ी में से कसी चोली फूली हुई कस उठी थी। मेरा हाथ उनकी कमर

को घेर कर चिकनी पीठ पर ठण्डापन अनुभव कर रहा था। मेरी टाँग अपनी जाँघों में दबा मुझे बाँह में भर सटाते हुए वल्लभा ने चोली ढीली की और जैसे एक गोरा भरा बादल मेरी आँखों के पास हँसकर देखने लगा। वल्लभा ने बादल का मुँह दो अँगुलियों से ठेल कर मेरे मुँह में लगा दिया।. . .मैं नहीं जानता कि वह बादल श्रावण का था या शरतकाल का। केवल मुझे यही लगा कि सम्पूर्ण वल्लभा उस बादल से होती हुई मुझमें, मेरी सम्पूर्ण "माँ" बनती हुई उतर रही थीं। वल्लभा, सन्ध्या आकाश की तरह ढीली पड़ती गयीं और मैं देर तक सूर्यास्त की तरह होता चला गया, होता चला गया।

—मेरे पास ही सोओगी न ?

और जलभरी चमकीली आँखों से वे मुझे देखते हुए मात्र एक विशाल परितृप्ति सी देख रही थीं।

—माँ !

और वल्लभा ने मेरे ओठों को चूसते हुए अपने ओठ रख दिये। और उसी प्रकार पूछा,

—हूँअ !!

—तुम गहने क्यों नहीं पहनतीं ?

और मैंने अनुभव किया कि भूल से किसी शीशेघर को मैंने कंकड़ मार दिया है। टूटने की न केवल आवाज ही होती है बल्कि एक रंग होता है। गंध तक होती है। मैं कह सकता हूँ कि मैंने उस रात टूटने की गंध तो नहीं लेकिन रंग अवश्य देखा है। . . .जैसे आकाश में अभी ढेर से मेघ रहे हों और एक तेज आँधी हठात उन बादलों को हँका दे, छितरा दे और देखते-देखते आकाश बेचारा किसी गोदाम की तरह एकदम खाली हो जाए। ठीक ऐसे ही सम्पूर्ण भरी, झुकी वल्लभा अपने में दूर लौटती गयीं। इस तेजी से लौटती गयीं कि जैसे महीनों से मेघ क्या कोई बदरी तक नहीं थी। देखो न, कैसी चटख धूप ही धूप है। पूरी वल्लभा वैसी ही थीं। मैं वह बादल मुँह में अभी भी लिये हुए था। मेरा हाथ उनकी कमर तथा गोल पुट्ठे पर अभी भी था लेकिन वह "माँ" हठात जिस तरह आयी थी उसी तरह लौट गयी थी। मैं "माँ" का वह थन पकड़े था या कोई निर्जीव कबूतर ?

कमरे का पीला प्रकाश ठिठक कर जैसे खिंच उठा था।

—अच्छा उदू ! अब सो जाओ।

मैं अनुभव कर रहा था कि अब कोई सोचना नहीं हो सकेगा। केवल सोना

ही होगा । मैं अपने हाथ-पैर कुछ भी नहीं हिला पा रहा था । जड़ता सी घिर उठी थी । मैं जैसे किसी शिला पर उत्कीर्णित गुफा-चित्र हूँ, जो लेटा हुआ हूँ । और बिना हाथ-पैर हिलाये मुझे अनन्त काल तक ऐसे ही जड़भाव से लेटे रहना है । श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ चित्र अपनी सम्पूर्ण कलासंज्ञा के बाद भी जड़ ही है । और मैं वही जड़ हूँ ।

कनेर में तुरही जैसे पीले-पीले फूल आ गये हैं। मैं उदास हूँ। वल्लभा ने मुझे पूरा तो नहीं बताया लेकिन जो बताया उससे यही लगा कि दीदी के पेट का आपरेशन हुआ। उन्हें अस्पताल में अभी कुछ दिन और रहना है। अपने स्कूल के बस्ते में कनेर के ढेर सारे हरे फल भरे हुए हूँ। स्कूल से लौटते हुए रास्ते की कनेरों से ढेर सारे फूल तोड़ कर अपनी टोपी सजा लेता हूँ और वह पीले फूलों का मुकुट बन जाती है। कानों में खुँसे फूलों से गर्व अनुभव करता हूँ। दसों अँगुलियों में खुँसे हुए फूलों को मैं जतन से थामे हुए चल रहा हूँ। धूप में वे पीले फूल पतले-हलके फरफराते हुए टुनटुनाने लगते हैं जैसे पीली तितलियाँ हों। मैं कल्पना करता हूँ कि कनेर के इन फूलों की सम्पूर्ण भूषा पहने उड़ रहा हूँ—केवल पीले फूलों की भूषा में—एक देवपुत्र की भाँति। लोग आश्चर्य करते हैं कि यह फूलवालों देवपुत्र कौन है ?...और मैं गिट्टियों के एक ढेर से टक्कर खाता हूँ। अँगुलियों में दबे फूल झर पड़ते हैं। मेरा फूलों का मुकुट धराशायी हो जाता है। केवल एक कान का फूल झूलते हुए अटका रहता है। मैं गिट्टियों पर चढ़ जाता हूँ। वह छोटा सा गिट्टियों का टीला, छोटी-ही

सही लेकिन एक ऊँचाई तो देता है । और मैं छिले घुटने तथा कनेरहीन उस ऊँचाई पर होता हूँ, जो सड़क के एक तरफ बड़ी निरीह लग रही है । सारी सड़क खोद डाली गयी है । एक हवेली के नीचे चुपचाप सड़क का इंजिन मौन खड़ा है । मैं पीठ पर झूलते बस्ते से कनेर के दो-एक फल निकालता हूँ और तौल कर इंजिन का निशाना साधता हूँ । और मुझे लग रहा है कि आज मुझे पराजित ही होना पड़ेगा । आज का दिन पराजय का दिन है । स्कूल में भी आज दो घंटे मुर्गा बनना पड़ा था जब कि मैं नहीं हँसा था । आज इन अपात्र गिट्टियों ने मेरा देवपुत्र का स्वप्न भंग कर दिया था । घुटने से अभी भी हल्का-हल्का खून रिस रहा था । और अभी-अभी मेरे कनेर के फल निशाना चूक कर बेचारे भटक कर हमेशा के लिए मुझ से अलग हो गये थे । . . लेकिन मैं इन बदमाश गिट्टियों के सिर पर खड़े हो कर इन्हें रौंध रहा हूँ ताकि इन्हें यह मालूम होना चाहिए कि वे गिट्टियाँ भर हैं और यहीं रहेंगी । ये कभी स्कूल नहीं जा सकेंगी । कोई किताब या पहाड़ा इन्हें नहीं याद होगा और बिना पढ़े कोई बड़ा कैसे बन सकता है ? . . . यद्यपि गिट्टियाँ रबड़ के तलों में से पैरों में चुभ रही हैं लेकिन ये और क्या कर सकती हैं ? अपात्र गिट्टियाँ ! !

मैं गिट्टियों के एक ढेर से दूसरे ढेर पर चढ़ता-उतरता इंजिन तक पहुँचता हूँ । इंजिन जिस प्रकार हवेली की दीवाल के पास खड़ा था उससे तो लग रहा था जैसे वह उस खजेली सड़क तथा गिट्टियों के उन ढेरों से कुछ कह रहा हो । शायद वह, सड़क किस प्रकार बनती है, उसे कैसा होना चाहिए आदि बातें बतला रहा हो । जो भी हो तीसरे प्रहर की उस शांति में धूप, चीजों की छायाएँ लम्बी करने में लगी थी ।

मैं इंजिन के गर्व को खण्डित करता हूँ । वह जिस श्रेष्ठ भाव से आसपास की चीजों से अपने को उच्च बनाकर पृथक किये हुए था वही उसकी गरिमा थी । इंजिन के भीमकाय पहियों के कारण वातावरण में भय था । सामने के उस ठोस पहिये पर अभी-अभी मैंने कनेर के फल से अपना नाम लिखा है । मेरे चढ़ने पर इंजिन को कोई आश्चर्य नहीं हुआ और इसका मुझे खेद है । केवल लोहे के पायदान का हल्का शब्द एक छोटी चिड़िया सा चहचहाया जरूर लेकिन फिर कहीं कुछ नहीं । मैं आज के पराजय के दिन इंजिन के द्वारा यह अपमान नहीं सह सकता कि मेरा वहाँ होना ही किसी को अवगत न हो । मैं अभी-अभी जिस खजेली सड़क तथा गिट्टियों के ढेरों को रौंदता आया हूँ केवल वे ही

अधिक व्यग्र लग रही हैं कि देखें, अब आगे मैं क्या करने वाला हूँ। इंजिन के पीछे मैं अपने कनेर के कई फल बरबाद कर चुका था और मैं निशानों की असफलता से भी आहत था। पायदान से ऊपर चढ़कर—मैं इंजिन के कल-पुरजों के बीच पहुँच जाता हूँ और मुझे लगता है कि गिट्टियों का एक लम्बा सिलसिला फैला हुआ है जैसे मेरी ही प्रतीक्षा कर रहा है। और मैं जाकर हैंडिल थाम खड़ा हो जाता हूँ। मैंने ऐसे ही इंजिनों को चलते देखा है। अभी मैं हैंडिल घुमा दूँ तो सड़क की छाती रौंधते हुए मेरा यह इंजिन चल पड़ेगा। लेकिन मैं ऐसा कुछ करने के पहले चाहता हूँ कि गिट्टी का वह ढेर मेरी सत्ता, प्रभुता तथा क्षमता को अंतिम बार के लिए देख ले जिस के कारण मेरे पैर से खून रिस रहा था। मेरा कनेर का मुकुट छिन्न-भिन्न हुआ था। मैं इन सब गिट्टियों को अंतिम बार चेतावनी देने वाला हूँ कि वे रास्ते से हट जाएँ वर्ना कुचल दी जाएँगी। . . . और मैं ड्राइवर की सीट पर बैठना चाहता हूँ लेकिन वहाँ बैठ कर हैंडिल पर हाथ नहीं पहुँचता इसलिए सीट पर प्रतीक रूप में अपना बस्ता रख देता हूँ।

लेकिन समझ नहीं पा रहा हूँ कि किस प्रकार अपने को इन अपदार्थ गिट्टियों के सामने अभिव्यक्त करूँ कि किस तरह उनमें की कुछ तुच्छ गिट्टियों ने मेरी अवमानना की है और फलस्वरूप उसका भयंकर नतीजा अब सारी गिट्टियों को भुगतना पड़ेगा—बस, हैडिल घुमाने की ही देरी है। . . . तभी एक चीमड़ जैसा व्यक्ति आता है, और वह जिस ओछे तरीके से बात करता है तथा बिना व्यक्ति एवं परिस्थिति की महत्ता एवं गुरुता को समझे टोकता है, उसे सुन कर मात्र पछतावा होता है।

—ए लड़के ! चल उतर नीचे।

मैं बाध्य हूँ यह मानने के लिए कि आज पराजय एवं अपमान का दिन है। आज इन तुच्छ गिट्टियों एवं चीमड़ जैसे आदमी का ही दिन है जिसने मेरा बस्ता-सड़क पर फेंक दिया है।

मैं इस अपमान की आग से फुँकता हुआ मन्दिरजी जाकर बल्लभा से प्रतिदान तो नहीं किन्तु सहानुभूति की अपेक्षा करता हूँ। मन्दिर में इस समय निर्जनी शान्ति है। जलघड़िया मधुसूदन दालान में एक तरफ लेटे हुए जोर-जोर से 'विष्णुसहस्र नाम' का पाठ कर रहा है। मैं घड़धड़ाता ऊपर निकल जाता हूँ। मैं जानता हूँ कि वल्लभा इस समय पीठ सीधी करने के लिए विश्राम कर रही होंगी। मैं बिल्लियों की भाँति जीने पर चढ़ने लगता हूँ। कच्ची सीढ़ियों के सिरों पर लगी

लकड़ी कितनी चिकनी चमक रही है। जीना चढ़ने के लिए दीवार में लगी रस्सी कैसी तैल खायी चिकनी हो गयी है ।

वल्लभा के कमरे के दरवाजे अप्रत्याशित ही उढ़के हुए हैं । वह निश्चित ही पीठ सीधी करते हुए सो गयी है । मैं उनके सिरहाने चुपचाप बैठ जाऊँगा और जब वह जागेंगी तो उन्हें कितना आश्चर्य होगा ? . . .मैं दरवाजों की संधि से हौले से झाँकता हूँ ।. . .वल्लभा. . .अपने पिता मुखिया जी की गोद में सिर रखे हुए हैं । . . . मैं. . . मैं. . . ,

—कौन ?

यह मुखिया जी की आवाज है । मैं अनजाने ही पीछे हट कर जीने वाले दरवाजे तक पहुँच जाता हूँ । . . . मुखियाजी दरवाजा खोल कर बाहर निकलते हैं । मुझे जीने वाले दरवाजे पर खड़ा देख, पूछते हैं, उनका चेहरा . . . पता नहीं क्यों. . . . जाने कैसा हो रहा था ।

—अरे, तू कब आया उदयन ?

मैं मात्र यही कह पाता हूँ,

—जी, अभी ।

वे अपनी चट्टियाँ बजाते हुए नीचे उतरने लगते हैं । . . . एक अप्रत्याशित गंध थी । वल्लभा पीठ किये आल्मारी में कुछ ढूँढ रही थीं । थके हारे सिपाही की भाँति बस्ता मेरे कंधे पर झूलते हुए दर्द दे रहा था । लेकिन मैं अन्य दिनों की भाँति आज पहुँचते ही बस्ता बिस्तरे पर फेंककर वल्लभा से नहीं लिपट सका । जबकि वह भी आल्मारी में जाने क्या खोजती ही जा रही थीं । यथावत खोजते हुए पूछा,

—सीधे स्कूल से ही आ रहे हो ?

घुटने पर खून की लकीर जम गयी थी। एक मक्खी बारंबार उसके चारों ओर भिनभिनाने लगी थी । मुझे लगा कि वल्लभा यदि कुछ खोज रही हैं तो वह आल्मारी में तो नहीं ही है । मुझे अबोला देख वल्लभा ने जैसे ही मेरी ओर

देखा उनका मुँह आँसुओं से तर था।...मैं कुछ समझ नहीं पा रहा था। तो क्या मुखियाजी वल्लभा को डाटने आये थे ?लेकिन किस बात पर ? और, क्या इस तरह डाँटा जाता है ? ...कहीं इनका सिर तो नहीं दुःख रहा है ? और वल्लभा ने मेरे घुटने पर खून देखा। वह अकुलायी सी झपटीं और मेरे कंधे से बस्ता निकाल मुझे वहीं जाजम पर बिठा झारी से पानी ले कपड़े की चिंदी बना घाव पोंछने बैठीं।

——कैसे लगी रे चोट ?

वल्लभा का मुख अतिरिक्त आरक्त था। रोज तो आँखें आँखों में डाल कर बात की जाती थी किन्तु आज देखना जैसे टाला जा रहा था। वह घाव देख रही थीं, मैं उन्हें देख रहा था। बल्कि वह जान भी रही थीं कि मैं उन्हें देख रहा हूँ। तीसरे प्रहर धूप का एक टुकड़ा कमरे में रोज आता है और थोड़ी देर यहाँ-वहाँ घूम कर बड़े मौन भाव से, बल्कि अनुत्सवी ढंग से लौट जाता है। आज इस समय वह लौटा जा रहा था। लगा कि जैसे वह धूप का टुकड़ा जाते हुए चाह रहा है कि वल्लभा उसे कम से कम एक बार कनखियों से ही देख ले तो वह प्रसन्नता के साथ चला जाएगा।

——क्या सिर दुःख रहा है तुम्हारा माँ ?

मुझे अच्छी तरह याद है कि इसके अतिरिक्त मैंने और कुछ नहीं पूछा था लेकिन वह ऐसे अजाने ही रो पड़ीं जैसे मेरे आ जाने के कारण जो रोना अधूरा रह गया था उसे अब पूरा किये ले रही हैं। कैसे ओठ लहराये और भीगी भारी चिपकी पलकों में रोना फिर उमड़ आया। और वह दोनों हाथों में अपना मुँह भरे तेजी से उठ गयीं और आलमारी के खुले पल्लों की आड़ ले सुबकने लगीं।...क्या वल्लभा आलमारी में रोना ही खोज रही थी ? पट्टी बँध जाने से घाव ने प्रमुखता ले ली थी और अब दर्द उभर कर अनुभवजन्य हो गया था। दरवाजे से सामने की मुँडेर पर रखी कृष्णा-तुलसी संध्याधूप में बैंगनी लग रही थी। मुँडेर के पार दूर, आकाश पर्दा बना हुआ था। मुँडेर की झँझरियों से मकानों की फाँकें दिख रही थीं। जाजम पर चीजें सहेजे जाने के लिए फैली हुई थीं।... वल्लभा क्यों रो पड़ीं ?...क्या मुखिया जी ने डाँटा ?...या बहुत तेज सिर दर्द हो रहा है ? कमर के नीचे की साड़ी पकड़ते हुए मैंने पूछा,

——मुझे नहीं बताओगी ?

वैसे ही पीठ फेरे हुए साड़ी से अपना मुँह पोंछ किंचित निर्ममता से अपनी साड़ी छुड़ा आलमारी बंद करते हुए अदेखे बोलीं,

—मैं नाश्ता लाती हूँ। हाथ-मुँह धो लो।
और मुझे कमरे के गूँगेपन में अकेला छोड़ कर वह चली गयीं। स्पष्ट कहूँ मुझे यह व्यवहार अपमानजनक लगा।...अपमानजनक या आपत्तिजनक जैसी व्यंजना तो मैं आज कह तथा लिख पा रहा हूँ उस दिन तो बड़े मोटे रूप से बुरा लगा। मुझे याद है कि उनके इस प्रकार साड़ी छुड़ाने तथा चले जाने से मैं इतना आहत हुआ कि यदि पैर में दर्द न होता तो मैं रो पड़ता। क्योंकि वह दिन मेरे अपमान का दिन सिद्ध होता जा रहा था। और यह तो आप भी मानेंगे कि कोई भी एक सीमा तक ही अपमान सहन कर सकता है। यह ठीक है कि यश, सुख आदि के सहन की कोई सीमा नहीं होती, हाँ दुख की सीमा होती है। तभी तो दुःख अभी आना शुरू होता नहीं है कि हम उसे लेकर शोर करने बैठ जाते हैं लेकिन सुख का स्वागत चोरी-चोरी ही करते हैं।

वह जल का करवा तथा नाश्ते की पत्तल ले कर जैसे ही आयीं और मुझे तैयार न देखा तो बलात, ठिठकीं। मुझसे उन्होंने कुछ भी पूछना व्यर्थ समझा और मेरे आवश्यक कपड़े निकाल मुझे बाहर वाले नाले (हाथ-मुँह धोने की जगह) पर ले जाकर हाथ-मुँह धोने लगीं। मैं निर्व्याज सब देखता रहा।...नाश्ते पर भी जब मैं बैठाल दिये जाने पर मात्र बैठा रहा तो वह कुछ झल्लायीं,
—अब खाते क्यों नहीं ?
वल्लभा ने यह वाक्य जिस प्रकार कहा उससे मैं आहत हुआ। कारण कि रोज जिस ढंग से खिलाया जाता था क्या वह ऐसा हुआ करता था ?
—मैं नहीं खाऊँगा।
भीगी पलकें अनेक बार झपकाते हुए बड़े ही विवशभाव से उन्होंने देखा।
—उदयन ! आज जिद न करो। मेरी तबियत ठीक नहीं है।
—क्या हुआ ?
—तुम क्या वैद्यराज हो जो जान सकोगे ?
—अगर मुखियाजी सिर दाब सकते हैं तो क्या मैं नहीं ?
और हठात रोशनी बुझ जाने पर जैसा फक्क सा लगने लगता है न, वैसी ही वल्लभा हो आयीं।...और वह मुझे अंक में भरे बड़ी देर तक बिस्तरे पर पड़ी-पड़ी रोती रहीं।

जल की तरह बह कर प्रकाश कमरे के बाहर से होता हुआ कहीं बह गया था। पत्तल प्रतीक्षा करती वैसी पड़ी थी। मैं उनसे सटा हुआ जाने क्या सोच तथा देख रहा था।

—लैम्प नहीं जलाओगी ?

और लैम्प का नाम सुनकर ही जैसे वस्तुस्थिति का उन्हें बोध हो आया।

माँ की चिट्ठी आयी कि दीदी की तबियत ठीक ही नहीं हो पा रही है। वल्लभा को चार-छह दिनों के लिए बुलाया है। नन्दन की माँ के पास भी खबर आयी कि माँ का हाथ बँटाने कुछ दिनों के लिए आ जाएँ। नन्दन की छोटी बहिन रूम के ब्याह की दौड़-धूप में वे लोग लगे हुए थे इसलिए नन्दन के घर से तो किसी का जाना संभव नहीं था इसलिए यही तय हुआ कि कुछ दिनों के लिए वल्लभा ही उज्जैन चली जाएँ।....और पहली बार रेल में बैठने को मुझे मिला। उस दिन दीदी के साथ जिस रेल को देखा था आज उसी में चढ़कर जा रहा हूँ। पिताजी ने उठाकर पायदान पर चढ़ा दिया और मैं रेल के उन ऊँचे पायदानों पर झूलते हुए चढ़ा। डिब्बे में भीड़ थी। एक तरफ खिड़की के पास मैं और वल्लभा बैठे हैं। सामने की सीट पर पिताजी कुछ लोगों से गप मार रहे हैं। कंधे पर बारम्बार खिसल आने वाले गेलिस को ठीक करते हुए पैर झुलाते बैठा हूँ। वल्लभा सफेद साड़ी में सादी मौन बनी बैठी हैं। उनके सूने उदास हाथ, कंधों तक गोल चिकने चले जाते हैं और वहाँ वे सादी-सफेद चोली में जाकर वस्त्र हो जाते हैं। बिना किनारे की धोती, कूलहीन नदी लग रही है। खिड़की

से धूप की ओर उन्होंने पीठ दे रखी है जब कि मैं घुटनों को मोड़ खिड़की की चौखट पर ठुड्ढी टिका मुँह पर झेल रहा हूँ। वे एक हाथ से मुझे थामे हैं ताकि मैं कहीं उचक कर गिर न पड़ूँ। हवा के विपरीत बाँह लम्बी किये हूँ और तेज ठण्ढी हवा में मेरा हाथ डूबता उतराता होता है।...तार कैसे दौड़ते हैं लेकिन हर बार खम्भा आकर उन्हें विराम सा दे जाता है...तार फिर ऊपर उठने लगते हैं। मैं सोचता हूँ कि इस बार तार पेड़ों के भी ऊपर पहुँच गये हैं.... वो...वो आकाश में पहुँच रहे हैं...कि खंभा फिर उन्हें नीचे ले आता है... बेचारे तार !!

—ये सामने 'संडास' क्यों लिखा है ?

मेरा ध्यान संडास की लाल तख्ती पर पीले से लिखे शब्दों की ओर जाता है।

—वह पेशाब घर है।

वल्लभा के इस उत्तर से मुझे हैरानी होती है। डिब्बे में पेशाब घर ? मैं कभी उन्हें, कभी उन अक्षरों को देखने लगता हूँ।...मुझे ऐसा करते देख वह मुझे उसकी ओर ले जाती हैं। दरवाजा खोलती हैं। दरवाजा खोलते ही रेल के चलने की गड़गड़ाहट अधिक हो जाती है। मैं घबरा जाता हूँ। वापस आकर बैठ जाता हूँ। डिब्बे की सफेद-झक छत में बिजली के हण्डे ध्यान खेंचते हैं। और जब वल्लभा उन्हें बिजली के लैम्प कहती हैं तब तो मुझे खासी परेशानी होती है।

—ये बिजली के लैम्प कैसे जलते हैं ?

—जैसे लैम्प जलते हैं।

उत्तर कुछ समझ में नहीं आता है। लेकिन विवाद के लिए अब कोई बात ही नहीं रह जाती है।

—कौन जलाता है ?

—रेलवाले।

—रेलवाले कौन ? वो जो नीली वर्दी पहनते हैं ?

—हाँ।

—रोज बिजली कहाँ से लाते हैं ?

—अच्छा अब ज्यादा दीमाग न चाटो, वो देखो उज्जैन आ रहा है।

और मैंने देखा कि पीली घासोंवाले चरागाह के बीच से रेल बिना कोई गड़गड़ाहट के सरकती जा रही है। दूर एक बड़ा सा तालाब तथा उसके बीच में बनी एक गोल छत्री भी पीछे छूटती जा रही हैं।...और सामने के क्षितिज में धुआँ उगलती मिलों की चिमनियाँ निकटतर होती गयीं।

मैं आश्चर्य में डूबा प्लेटफार्म पर उतरता हूँ।...कितने लोग !! ...एक बड़ा सा जीना... रेल के ऊपर तना खड़ा था। लोग उस पर चढ़-उतर रहे थे। चढ़ने-उतरने वालों की खासी भीड़ हो गयी थी। कुली ने सामान उठाया और वल्लभा का हाथ पकड़े चल पड़ा।

--टिकिट !!

छड़ोंवाले दरवाजे के पास सफेद वर्दी तथा हैट पहने एक रोबीला आदमी सबसे टिकट माँग रहा था। मैं उसे पीछे मुड़-मुड़कर बड़ी देर तक देखता रहा।

शहरों की अपेक्षा जंगल में दिन जल्दी ही वयस्क लगने लगता है। अभी-अभी पीली घासोंवाले चरागाह पर धूप कैसी प्रौढ़ लग रही थी जबकि देवासगेट की गली-सड़कें, छज्जे-खपरैलें अभी तक प्रातःकाल ही मना रही थीं। मालिनें फूल-मालाएँ बना रही थीं। वातावरण में खमीर की गंध थी।

ताँगा सड़क पर ही छोड़ दिया गया। रास्ते के बीचोंबीच एक शिवाला था जिसके ताजे बिल्वपत्रों ने हमारा स्वागत किया। पिताजी सामान उठाये आगे-आगे चले। एक बड़े से फाटक से होते हुए हम भीतर पहुँचे। भीतर एक बड़ा सा आँगन था जिसमें चारों ओर कोठरियाँ थीं जहाँ इस समय बड़ी चहल-पहल थी। यहाँ के रहने वाले अधिकतर मिल के थोड़े ऊँचे मजदूर थे। कुछ रात पाली का काम करके लौटे थे और इस समय भी अपनी खाट पर पड़े हुए सो रहे थे। दिन पाली वाले जा चुके थे, जा रहे थे। आँगन में खाने की मिश्रित गंध थी। जिस समय हम लोग पहुँचे माँ खाना बना चुकी थीं। हमें देख आँखें प्रसन्नता में फैल आयीं। मुझे अंक में भर माथा सूँघने लगीं।

--शांती कहाँ है ?

वल्लभा ने माँ से पूछा।

--उसे कल फिर अस्पताल में भर्ती करवा दिया। दादा (अर्थात मेरे बड़े पिता, बा) वहीं अस्पताल में हैं। सुनते हैं आज अपरेसन होगा।

--ये बार-बार अपरेसन किस चीज का होता है ?

वल्लभा के इस प्रश्न पर माँ ने मुझे हाथ-मुँह धो आने के लिए कहा।...पता नहीं वे लोग आपस में क्या बातें करती रहीं लेकिन लौटने पर मैंने देखा कि वे, दो बुझी हुई ग्रीष्म सन्ध्याएँ लग रही थीं।

वल्लभा और माँ दोनों अस्पताल चली गयीं। तय हुआ कि बा लौट आएँगे तब मैं और पिताजी भी अस्पताल आ जाएँगे। . . . बा लौट आये। उपरान्त पिताजी और मैं अस्पताल के लिए रवाना हुए। सड़क के दोनों ओर की दूकानों में अधिकतर दवाइयों की दूकानें थीं। साइकिलों का रेला चला जा रहा था। स्कूल जाने वाले बच्चों की खासी भीड़ थी। अस्पताल काफी पास था। लोहे की ऊँची फेंसिंग के पीछे यूकेलिपटिस के पेड़ों के बीच दुमंजिला अस्पताल खड़ा था। अनजाने ही मुझे अपनी धड़कन सुनायी पड़ने लगी थी। रोगियों और दूसरे लोगों से लान भरा हुआ था।

स्पेशल वार्ड्स के चमचमाते फर्श पर डाक्टर और नर्स दवाइयों की ट्रे, स्टेथस्कोप लिये आ-जा रहे थे। दवाइयों की अजीब गंध भरी हुई थी। तरह-तरह के रोगी बैठे-लेटे थे। माँ दीदी का हाथ-मुँह धुलाकर चोटी-बिन्दी कर रही थीं, तकिये के सहारे अर्द्धलेटी दीदी गोरी-पीली लग रही थीं। आँखों में जैसे ओस आँज रखी थी। लोहे के ऊँचे पलँग के सिरहाने की तरफ माँ खड़ी हुई दीदी की कंघी कर रही थीं। लोहे की एक सफेद छोटी आल्मारी पर दवाइयों की शीशियाँ रखी थीं। दीवार में चित्र की भाँति लगा चार्ट टँगा था।

दीदी ने चोटी करवाते हुए ही अपने दोनों हाथ फैलाकर मुझे बुलाया,

--तू भी आया है रे ?

मैं पैताने की तरफ की रेलिंग पर ठोढ़ी टिकाये बस देख भर रहा हूँ और आँखों से इन्कार कर रहा हूँ। वह फिर बोलीं,

--क्या मेरे पास नहीं आएगा ?

मैं वैसे ही इन्कार कर देता हूँ।

--क्यों ?

दीदी के फैले बालों को माँ कस रही हैं। फैले बाल कैसे अच्छे लग रहे थे न ?

--माँ ! दीदी के बाल फैले ही रहने दो।

और सब हँस देते हैं। मैं सकुच उठता हूँ।

--क्या तू इसीलिए मेरे पास नहीं आता ?

--और क्या ? ये गूजरनियों की तरह बाल मुझे अच्छे नहीं लगते।

इस बार माँ ने जैसे झिड़कते हुए कहा,

--अभी से इसे ऐसे बाल हों, वैसे बाल हों--पता नहीं बड़ा होगा तो अपनी बहू की क्या दुर्दशा करेगा।

पेताजी तब तक बाजार से फल लेकर लौटे। वल्लभा दीदी की आँख में काजल

आँज रही थीं। माँ ने 'चल इधर' के ढंग पर मुझे पकड़ कर दीदी के पास बैठाल दिया।

दीदी के ठीक पीछे खिड़की थी। दूर, लम्बा,-ऊँचा यूकेलिप्टिस आकाश को छेके हुए था। लान की एक हरी पट्टी चिंदी सी दिख रही थी। लोहे की फेंसिंग के पार खूब चलती बड़ी सी सड़क दिख रही थी जिस पर ताँगे-मोटर, आदमी आदि आ-जा रहे थे। सड़क के पार फिर एक सफेद छड़ों की फेंसिंग थी तथा थोड़े से कोने में मिल की चिमनी दिख रही थी। सफेद छड़ों के पास रेल की पटरियाँ थीं।

—दीदी !

—क्या ?

—ये सड़क पर रेल की पटरियाँ क्यों हैं ?

—ये आगर जाने वाली छोटी रेल की पटरियाँ हैं।

—क्या रेल शहर में भी चलती है ?

—अब फिर दिमाग चाटना शुरू कर दिया न ?

और दीदी ने बात का जवाब न देकर मुझे अपने पास बैठाल लिया और पूछने लगीं,

—क्या बुआजी को भी ऐसे ही परेशान करता है ?

—शांती ! वह तो मुझे कुछ भी कहकर नहीं पुकारता।

वल्लभा की इस बात से मेरा ध्यान गया कि कभी-कभी 'माँ' कहकर जरूर पुकारा था लेकिन अतिरिक्त और कुछ नहीं पुकारा। जब कि बुआ तो थी हीं।

—क्यों रे, बुआजी को तव क्या कहता है ?

वल्लभा दीदी के लिए मौसंबी धोकर रस निकाल रही थीं। माँ और पिताजी किसी बात से बाहर चले गये थे।

—बुआजी !

—क्या है ?

वल्लभा रस में ग्लूकोस मिलाते बोलीं।

—उदयन आपको बहुत परेशान तो नहीं करता है ?

—इसी से पूछो।

रस का ग्लास देते हुए बोलीं। लेकिन वल्लभा न जिस भाव से देखा मैं आज भी कह सकता हूँ कि ऐसा देखना केवल माँ का ही होता है। जैसे बड़े भारी अँधरे में धूप का एक छोटा सा टुकड़ा भी सोने की गिन्नी की तरह गोल-गोल चमकता सिद्ध करता है कि वह सोनाली धूप ही है लाख अँधरा कितना ही घिरे, घेरे। धूप, धूप ही होती है।

मुझे दोनों महिलाओं ने अपने बीच में बैठाल कर अजीब सन्तोष से मुसकराना शुरू किया।

—उदू !

—जी।

—देखा शांती! मैं जब भी पुकारती हूँ यह मुझे बुआ न कहकर सिर्फ 'जी' कहता है।

वल्लभा ने हँसते हुए अंक में ले लिया। लेकिन अब मैं सशंक हो रहा था कि बुआ न कहे जाने पर वल्लभा सचमुच ही तो कहीं बुरा मान मेरी शिकायत तो नहीं कर रही थीं ?

दीदी ने गिलास वल्लभा को देते हुए एक हाथ से मुझे अपने पास खेंचते हुए कहा,

—उदू ! बुआजी क्या कहती हैं।

—मैं इनसे नाराज हूँ।

—किनसे ? कौन हैं वह ?

दीदी ने अपने गाल से मेरा गाल सटाते हुए पूछा।

—बुआजी हैं लेकिन मैं बुआ नहीं कह सकता।

—क्यों ?

दीदी ने सामने मुँह करते हुए साश्चर्य पूछा।

—मैं नहीं बताऊँगा।

और मैंने अपना मुँह हथेलियों में छुपाते हुए कहा। मैं जान रहा हूँ कि गिलास साफ करते हुए वल्लभा हँस रही थीं।

—अच्छा, जाने दे। यह बता कि क्यों नाराज है ?

और मैं इस भाव से वल्लभा को देख रहा था कि जैसे आप कहें तो बता दूं। वह बेचारी एक क्षण तो हतप्रभ हो उठीं कि पता नहीं मैं क्या बताने जा रहा हूँ। मैं उनकी ओर ही देखते हुए बोला,

—दीदी ! इनका जब सिर दुखता है तो भी मुझसे सिर नहीं दबवातीं।

और इस बार दीदी सचमुच ही खूब खुलकर हँसी। शायद बरामदे ही में माँ और पिताजी खड़े थे तभी तो वे दोनों तेजी से आये। आते ही माँ बोलीं,

—क्या बात है शांती ! इत्ता क्यों हँस रही हो ?
मैं दीदी के इतने हँसने पर सचमुच ही खिसिया उठा। पिताजी बोले,
—शांती ! तैयार हो गयीं ?
—क्या अब चलना है ?
—कहाँ जा रही हो दीदी ?
मैंने दीदी के पतले हड्डियों भरे हाथ पर हाथ धरते हुए पूछा।
—डाक्टर ने तेरी दीदी को बुलाया है। अब तुम अपनी बुआजी के साथ यहाँ बैठना, समझे ?
और स्ट्रेचर लिये हुए कुछ लोग दीदी को लेने आ गये।

बड़ी देर तक दीदी के जाते हुए स्ट्रेचर को देखता रहा। कैसे एक बरामदे से होते हुए दूसरे बरामदे और इस प्रकार लम्बा घेरा लगाकर उनका स्ट्रेचर उधर गया जिसे वल्लभा ने बताया कि दीदी को वहाँ ले जाया गया है। स्ट्रेचर के पीछे-पीछे माँ और पिताजी गये थे। कैसे वे पहले स्पष्ट, फिर धुँधले या लोगों में घुल मिल जाते। उसके बाद सब, एक सीमा के बाद लोग, भीड़ बन जाते हैं—अपरिचित।
—दीदी को वहाँ दुमंजिले पर ले जाया गया है ?
—हाँ। वहाँ अपरेसन होता है।
—अपरेसन क्या ?
—चीर-फाड़।
—किस चीज की चीर-फाड़ करते हैं ?
—जिसकी चीर-फाड़ की जरूरत होती है।
बात कुछ समझ में नहीं आ रही थी। मैं आपरेशन-थिएटर को देख रहा था जिसकी बड़ी खिड़कियों के ग्राउण्ड-ग्लास धूप में चमक रहे थे। अस्पताल की मुंडेर पर कबूतर टहल रहे थे।
—क्या दीदी की भी चीर-फाड़ की जाएगी ?

—हाँ ।
—क्यों ?
—दीदी के पेट में फोड़ा हो गया है उसे निकाल देंगे ।
अभी-अभी मुँडेर पर एक सफेद कबूतर आया, मैं उसे ही देखते हुए सोच रहा हूँ कि दीदी के पेट में फोड़ा कैसे हुआ ।
—दीदी के पेट में फोड़ा क्यों हुआ ?
—तुम्हारे पैर में उस दिन चोट क्यों लगी थी ?
—क्योंकि मैं गिर पड़ा था ।
—इसका मतलब यह हुआ न कि किसी कारण से ही कोई बात होती है ।
—हाँ ।
—बस, वैसे ही दीदी के पेट में भी किसी कारण से ही फोड़ा हुआ ।
—किस कारण से फोड़ा हुआ ?
—तुम तो बाल की खाल निकालने लगते हो ।
और वल्लभा झल्लाने से अधिक मुसकरायीं ।

प्रतीक्षा में समय, पत्थर का हो जाता है । खसकने का जैसे नाम ही नहीं लेता । खाली कमरे में आपको हवा के हौलेपन का भी अनुभव होता है । खसकती धूप की सरसराहट तक आपको सुन पड़ती है लेकिन आप देखते हैं कि अभी आपकी प्रतीक्षा का समय पूरा नहीं हुआ है । इसका कारण संभवतः यह है कि प्रतीक्षा करते समय हम क्षण तक को फैला लेते हैं । और ऐसे फैले क्षण पर चींटी की तरह रेंगते रहने पर स्पष्टतः थकान आ ही जाती है । हम ऐसे समय और दूसरा सारा काम बन्द कर देते हैं । ऐसे समय ही हमें लगता है कि समय कितना दीर्घायु होता है । क्षण, काल होता है और समय, महाकाल । जीवन के दैनंदिन में भले ही हमें इस महाकाल की सत्ता का अनुभव न होता हो लेकिन जब कभी कारण-वशात प्रतीक्षा करने के लिए बाधित होकर जब महाकाल का साक्षात्कार करते हैं तब लगता है कि अनन्त आकाश को संतरित कर जाने की इच्छा रखने वाले

हम, मात्र एक मक्खी हैं । इसलिए क्षण भर की प्रतीक्षा भी भारी लगती है । क्योंकि वह महाकाल का भार होता है जिसे हम सहन नहीं कर पाते । इसीलिए एकान्त भी भारी लगता है क्योंकि वहाँ भी यही महाकाल विराजा होता है । रोज के जीवन में दूसरी-दूसरी चीजें, व्यापार, सम्बन्ध, गतिविधियाँ महाकाल के उस विराट बोझ को बँटा लेती हैं और हमें उस भार का बोझ अनुभव नहीं होता। प्रतीक्षा करते हुए हमें अपना ही बोझ लगने लगता है । इन्द्रियाँ थक जाती हैं । क्योंकि हमें निराश्रित, निसंग पाकर महाकाल हम पर पूर्णरूपेण झुक आता है । कल्पना कीजिए कि पूरा आकाश, मक्खी को उठाना पड़ रहा है ।

जमीन पर बिछी दरी पर वल्लभा हाथ का तकिया बना मुँह साड़ी से ढँके संभवतः सो रही थी। खिड़की धूप से बिछल कर फर्श पर सलाखों की छाया के साथ उतरी हुई थी । दिन, कसे हुए तबले की तरह लग रहा था । धूप, आयु प्राप्त कर रही थी । अस्पताल की चारदिवारी के भीतर लोगों का जीवन व्यतिक्रम था लेकिन बाहर सड़क पर जाते हुए लोग नियमों में बँधे हुए थे। खिड़की की चौखट से लगी-लगी चीटियों की एक घनी कतार गुजर रही थी । चार-पाँच चीटियों ने कोई चीज पकड़ रखी थी और वे उसे लिये जा रही थी । कमरे की आलमारी में ताला लगा हुआ था, सभवतः दीदी के कपड़े आदि रखे हुए थे । बिस्तरे के नीचे चीनी के कुछ बर्तन पड़े हुए थे । कमरे में तेज-तेज मक्खियाँ चक्कर लगाती भिन्ना रही थीं ।

क्यों ऐसा होता है कि जब हमें कुछ और नहीं करना होता है और निरर्थक खिड़की पर खड़े होकर देखने लगते हैं तब हर जाता व्यक्ति गुजर जाने के बाद भी हम में होता है। बल्कि कभी-कभी तो वह सदा के लिए हम में उसी तरह जाता हुआ होता है । ऐसा दिन, अपने रंग, रूप, गंध और शब्द के साथ हमेशा अलग-थलग हमारी स्मृति में रहता है । हम ऐसे देखते हुए इतने बँट गये होते हैं कि हमें चेत ही नहीं रहता कि हम कहीं नही रह गये हैं । जब कोई हमें पुकारता है तो हम जाने कितनों के पास से वापस अपने में लौटते हैं और आश्चर्य करते है कि हम अपने को ही छोड़कर जाने कितनों के साथ कहीं चले गये थे ।

वल्लभा ने भी इसी तरह पुकार कर मुझे अपने में लोटाया था ।

—यहाँ खिड़की के पास क्यों खड़े हो ?

—और क्या करूँ ?

वल्लभा भी मेरे पास आ कर खड़ी हो गयीं। सड़क पर कोई ताँगा जा रहा था ।

—उदयन !
—जी ।
—क्या सचमुच तुम्हें उस दिन सिर न दबवाने को बुरा लगा ?
—मुखिया जी सिर दाब सकते हैं तो क्या मैं नहीं ?
—तुमने और क्या देखा ?
—और कुछ नहीं ।
वल्लभा जाने कहाँ देख रही थीं । उनकी आँखें छलछला आयी थीं ।
—मैं मर जाऊँ तो तू मुझे याद करेगा ?
—तुम क्यों मरोगी ?
—क्या मैं अमृत पीकर आयी हूँ ।
—क्या अमृत पीने से मरना नहीं होता ?
—नहीं तो । अच्छा सुन ।
—क्या ?
—तू मुझे फिर "माँ" क्यों नहीं पुकारता ?
—अब नहीं पुकारूँगा ।
—क्यों ?
—इसलिए कि न तुम मेरे पैर दाबती हो, न मुझे अपने पास सुलाती हो, न...
—अरे बस, बस । जो यह सब करूँ तो पुकारेगा ?
—सोचूँगा ।
—अच्छा रे ।
और उन्होंने मेरे कान उमेठ दिये । उपरान्त अँजुरी में मेरा मुँह भर लिया और चूम लिया । मैंने भी उनके गले में बाहें डाल दीं । वे जाने किस सुख में डूबी आँखें बन्द किये मुझे सटाये थीं । जब मैंने उन्हें देखा तो वे आँसुओं में डूबीथीं ।
माँ—! तुम क्यों रो रही हो ?
—बेटे के सुख में ।
तभी पैरों की आवाज सुनायी पड़ी । कोई आ रहा था । वल्लभा ने तेजी से अपना मुँह पोंछा और बिल्कुल बच्चों की तरह हँस दीं । कोई भी देखता तो कह सकता था कि वे रोयी हैं ।
पिताजी आये । उनके पीछे-पीछे अनेक पदाहट तथा स्ट्रेचर के पहियों की आहट भी थी । वल्लभा ने तेजी से बढ़कर दीदी के बिस्तरे की सलवटें ठीक कर दीं । दीदी सिर से पैर तक सफेद चादर ओढ़े हुए थीं । बिस्तरे पर उतारने में वल्लभा

ने भी मदद की। स्ट्रेचर लेकर अस्पताल के आदमी लौट गये। कमरे में हठात निस्तब्धता हो गयी। वल्लभा ने पूछा,

—बुआ जी ! शांती क्या बेहोश है ?

—हाँ, शीशी सुँघायी गयी थी।

—कब तक होश आएगी ?

—डाक्टर कह रहे थे दो घंटे में आ जाएगी।

—ठीक है, तो अब आप भोजन कर थोड़ा आराम कर लें।

—मेरा कुछ नहीं वल्लभा ! तुम जाओ अपने दादा को ले जाओ, और उदू वगैरा तुम लोग खा लो। मैं यहाँ बैठी हूँ।

—आप मेरी न चिन्ता करें। मैं यहाँ हूँ आप जाएँ और सब को खिला-पिला दें। और जब वल्लभा ने माँ को शपथ दिलायी तब माँ सब को लेकर चलीं। चलने के पहले मैंने पूछा था,

—क्यों माँ ! शीशी सुँघाने से क्या होता है ?

—नींद आ जाती है।

मैं चुप रह गया था लेकिन मुझे लगा था कि जैसे फिर कोई बात छुपायी जा रही थी। इन बड़े लोगों की जाने क्या आदत होती है कि या तो बच्चों की बात पर चिढ़ेंगे या झूठ बोलेंगे।

दिन भर पिताजी मुझे अस्पताल नहीं ले गये। जाने कहाँ-कहाँ घुमाते रहे। जब कि मेरी आँखों में दीदी ही घूमती रहीं। जब काफी रात हो गयी तब मैंने दीदी के लिए जिद की। बाध्य होकर पिताजी मुझे लिवा गये। दीदी के सिरहाने टेबल लैम्प में बहुत ही मंदी रोशनी थी। वल्लभा होले-हौले पंखा झल रही थीं। माँ कोने में एक तरफ बैठी सन्ध्या कर रही थीं। मुझे देख वल्लभा ने ईषत मुसकरा दिया। मैं उनके पास जा खड़ा हुआ। उनके हाथ से पंखा ले लिया। कमरे में सम्पूर्ण निस्तब्धता थी। दीदी के साँस लेने की आवाज तक सुनायी पड़ रही थी। दीदी के मुख पर पीड़ा की छाया थी। पलकों में

आँखें मौन थीं लेकिन मुख पर सोयी हुई पीड़ा डोल रही थी। मैंने बुदबुदाया,
—क्या दीदी बेहोश हैं ?
वल्लभा ने मात्र अस्वीकृति का सिर हिला दिया। मैं फिर कुछ पूछना चाह ही रहा था कि वल्लभा ने टोका,
—बोलो नहीं, जाग जाएँगी।
तभी पीड़ा में दीदी कराहीं।
—पानी।
वल्लभा ने फुर्ती से पानी नीचे से उठाया और दीदी का मुँह लोल घूँट टपका दिये। वह करवट लेना चाह रही थीं कि दर्द से कराहीं।
—शांती ! हिलो नहीं।
दीदी ने अपने भीतर के दर्द को जैसे आँखों से देखने की चेष्टा करते हुए देखा। कभी-कभी देखना तक दर्द लगता है। इधर से उधर पुतलियाँ करने में दीदी को कितना विलम्ब तथा कितनी पीड़ा हो रही थी कि हल्का पानी छलछला आया। वह एक बार लगभग चीख उठीं,
—ओ माँ !
—बेटा !
कहते हुए माँ पूजा छोड़कर हुमसती हुई दीदी के सिरहाने आ खड़ी हुई।
—क्या चैये ? ग्लूकोस खाओगी ?
दीदी ने वितृष्णा के साथ हल्का सिर हिला दिया। जैसे अंदर बहुत पीडा जमा हो गयी हो।
—देख, उदू तुझे पंखा कर रहा है।
दीदी ने पुतलियाँ ऊपर उठायीं। मैं झुक आया। वे पुतलियाँ अपने में ही भीतर, बहुत सुदूर भीतर कहीं मुस्करा दीं। मैंने दीदी की खुली हथेली को अपने हाथ में ले लिया।
—पानी पियोगी दीदी ?
शारदीय रात्रि का नीला ठण्ढा एकान्त आकाश जैसे अपने निभृत मे सुन्दरतम मुसकराता रहता है वैसे ही दीदी मुसकरा रही थीं। ऐसी मुसकान का आभास नहीं होता, बोध होता है। देखनेवाले का मन भर-भर आता है सामनेवाले की ऐसी विवशता पर, जब कि सामनेवाले को क्या होता है यह कोई नही जानता।
—दीदी अब तुम जल्द ही अच्छी हो जाओगी।
दर्द की यातनात्मक सफेदी हमें सबसे पृथक कर अपने साथ अपने जलते हुए

मरुस्थल में घसीट ले जाती है । दर्द का निःशब्द शोर हमारी धमनियों में, शिरा-उपशिराओं में चटखने लगता है । हमारी आँखें खुली होती हैं । लोग समझते हैं हम यहीं हैं । देख भी रहे हैं। लेकिन वास्तव में दर्द हमें, विवश सूअर की भाँति सेंक कर भून रहा होता है । पराकाष्ठा, अनुभव की होती है, दर्द की नहीं । अनुभव से परे दर्द, स्थिति बन जाता है—एक असंग भोग । जिसमें किसी की संज्ञा नही होती । मात्र क्रिया सम्पन्न हो रही होती है । दर्द, सहानुभूति चाहता है लेकिन भोग सारी औपचारिकताओं से ऊपर अपने तत्वरूप में गुण होता है । असंगभोग, देवस्थिति होता है । दीदी वहाँ होते हुए भी वहाँ नहीं थीं । वह प्रकृति थीं । जो होती है । किसी के लिए ऐसा होना उसका धर्म नहीं होता । सफेद चादर की स्वच्छता के नीचे एक मौन हाहाकार किस प्रकार दीदी का मुख बना हुआ था । वल्लभा बोलीं,

—शांती ! अब थोड़ा सोने की चेष्टा करो ।

मुझे याद है कि इसके बाद वल्लभा मुझे लेकर उसी सवेरे वाले बासे पर लौट आयीं । पिताजी काफी रात में थोड़ी देर को लौटे और वापस फिर चले गये । बासे में बिजली नही थी । ढिबरी के मंद प्रकाश में वल्लभा कटे केले सी टूट कर बिस्तरे पर जा गिरीं। दिन भर से वह वैसी ही बैठी परिचर्या करती रही थीं । मुझे नींद आ रही थी लेकिन दीदी की वे सुलगी पुतलियाँ, पीले पिघले मोम सी मेरे दिमाग में भर गयीं थीं । कोठरी की एकमात्र खिड़की खोल दी गयी । हठात चाँदनी खिड़की की राह कमरे में शैतान बच्ची सी खिलखिला कर घुसते ही बिस्तरे पर झर पड़ी ।

—उदू ! तुम इस खाट पर सो जाओ ।

—और तुम ?

—मैं बिस्तरा यहीं लगा लूँगी ।

और वह दरवाजे के पास गोल खड़ी की हुई खजूर की चटाई फैलाने लगीं ।

—नहीं. . .मुझे. .

—क्या ?
—मुझे डर लगता है ।
—डर किस बात का रे ?
—नहीं, तुम मेरे पास ही सोओ ।
—इत्ते बड़े लड़के को भी कहीं डर लगता है ?
—नहीं, मैं तुम्हारी गोद में सिर रख कर सोऊँगा ।
—मैं सब समझती हूँ । लालची कहीं का ।
और वल्लभा की गोद में सिर रख मैं सो रहा हूँ । चाँद दो सलाखों के बीच फूट आया था लेकिन बेचारे आकाश की नील निर्मल देह पर सलाखें खिची हुई थीं ।
—क्या दीदी को बहुत दर्द है ?
—हाँ । लेकिन अब तुम सो जाओ । सवेरे मुझे बड़ी जल्दी वहाँ जाना होगा । मैं चुप हो गया हूँ । वल्लभा धीमे धीमे कोई पद गुनगुनाने लगती हैं—मैं हरि पतित-पावन सुने—उन के मुख पर चाँदनी नही है । उनके गले के नीचे का सारा भाग चाँदनी में उजला रहा है । उनके मुख के पीछे अँधेरा घिरा खड़ा है । उनका गोरा मुख उस अँधेरे में स्पष्ट झलका पड़ रहा है। कैसे उनके पत्तियों जैसे ओठ गाते हुए हिल रहे हैं । गीत जैसे सुगंधित धुआँ है और वह खिड़की की सलाखों की राह नील छितराता हुआ बाहर जाने की आकुलता में सलाखों के पास ही छितरा कर सहसा अदृश्य हो जाता है । कोई भी अपनी चीज इस तरह सहसा विराट हो जाए तो कैसी अकुलाहट होती है न ? हम चाहते हैं कि छितराकर विराट होना ही है तो वह भी क्रमशः होना चाहिए । दीदी का दर्द और वल्लभा का गान. . .मुझे अच्छा नहीं लगता है ।
—मेरी पलकें ढाँप दो ।
वल्लभा ने गान से चौंकते हुए कहा,
—और अभी तुम सोये नहीं ?. . .देखो दीदी के बारे में ज्यादा न सोचो । वह बिल्कुल ठीक हो जाएँगी ।
—कब तक ? कल ठीक हो जाएँगी ?
—कल तो नहीं, लेकिन जल्द ही ।
मैं चाँदनी, नील आकाश, वल्लभा का मुख, दीदी का दर्द सब अपनी पलकों में कस कर बन्द कर लेता हूँ । इन सब की प्रतिध्वनियाँ जुगुनुओं की तरह अपने भीतर के अंधकार में चमकती हुई बुला रही होती हैं ।

आँखें आकाश होती हैं। आकाश में धूप क्रमशः फैल कर दूध के रेले वत, पूरा आकाश उजला देती है और कितना बड़ा विश्वास होता है कि--यह एक दिन है। ठीक ऐसे ही आँखों के एक दिशाकोण से स्वास्थ्य भी धीरे-धीरे फैल कर, एक-एक दिन करते हुए किसी दिन पूरी आँख, एक स्वस्थ नीलफूल सी मुसकरा देती है। कमरे में, बिस्तरे पर, लोगों में, लोगों की आँखों में, फलों के छिलकों पर जैसे प्रसन्नता, धूप समाये नहीं पड़ते।--कहीं दूर पर कोई अज्ञात बैठा हुआ बहुत सारे महीनों के मौन फौवारों को हठात खोल दे और कल-कल छर-छर करता पानी, नील फुहारों में छोटे-छोटे इन्द्रधनुष तान दे। बस ऐसे ही दीदी के स्वस्थ हो जाने पर हुआ।

उज्जैन छोड़ने के पूर्व महाकाल और हरसिद्धि के लिए हम लोग जा रहे हैं। ताँगे के घोड़े के घुँघरू हवा में तैर रहे होते हैं। छत का रंगीन फुन्दा उड़-उड़ कर मुँह छू लेता है। दीदी पीछे की सीट पर तकिये से टिकी थके हुए फूल सी लग रही थीं। मैं दीदी के पास बैठा हूँ। दीदी के सामने वाली सीट पर माँ और मेरे सामने वल्लभा हैं।

अभी सूर्योदय नहीं हुआ है । महाकाल के सामने के मैदान में अपनी खण्डित मेहराब वाला गोपुर खड़ा हुआ है । दोनों ओर भिखारियों, मालिनों की भीड़ है । गोपुर, नीचे जाने वाली सीढ़ियों पर बना हुआ है । विशाल प्रांगण जिसके चारों ओर मेहराबदार दालान खाली, अधूरे लग रहे हैं । प्रांगण पार सामने फिर वैसा ही गोपुर दिख रहा है । सीढ़ियाँ यहाँ भी नीचे उतरती हैं लेकिन यहाँ की नीची छत वाले दालान में पण्डों-पुजरियों की अनेकों चौकियाँ रखी हुई हैं । गुलाब और चन्दन की महँक आ रही थी इस दालान से सट कर कुण्ड के घाट की सीढ़ियाँ शुरू होती थीं । कुंड चारों ओर पक्के घाटों, शिवालों तथा दालानों से घिरा हुआ । दालानों में लोग पाठ-पूजन करते हुए बैठे थे ।

हम लोगों ने एक चौकी पर अपना सामान रख दिया । पण्डे ने सारी व्यवस्था कर दी । कुण्ड में ले जाकर दीदी को आचमन करवाया गया और वापस आकर महाकाल के लिए बढ़े । फर्श पर गिचगिचाये बिल्वपत्र फैले थे। लोगों के गीले पैरों की ताजी छाप स्पष्ट फैली हुई थी । और हम फिर नीचे उतरने लगे । दो एक मोड़ों के बाद उस तंग अँधेरे गलियारे में घुसे जिसमें काफी लोग आ-जा रहे थे । गलियारे के सिरे पर एक बड़ा सा दीपक, काली चिकनी दीवट में बल रहा था । गीलेपन तथा लोगों की गरम-गरम साँसों से उस गलियारे में अजीब भापीला सा लग रहा था । गलियारे में भीतर की ओर रुद्रपाठ के स्वर भरे हुए थे । और बाँयें हाथ बड़े से दरवाजे में कुछ दीपकों की लपलपाती रोशनी के, घना सा अँधेरा भरा हुआ था । इस बार पानी, किंचित गर्मी, फूल, धूप-दीप की अजीब मिश्रित गंध वातावरण में प्रमुख थी । केवल मंत्रों का शोर था । माँ, दीदी का हाथ थामे चिकने फर्श पर लोगों से बचती हुई अँधेरे में धँस रही थीं । वल्लभा ने मेरा हाथ पकड़ रखा था । थोड़ी ही देर में अँधेरा दिखने लगा था । मंत्रोच्चार करते हुए व्यक्ति स्पष्ट हो रहे थे । पण्डे ने माँ से आगे बढ़ने के लिए कहा । चाँदी की छत में बीचोबीच ताँबे का बड़ा सा अभिषेकपात्र और उसके नीचे शिवलिंग--जिस पर ढेरों बिल्वपत्र और फूल। दूध चढ़ाया जा रहा था । पण्डे ने माँ से पूछ कर दो ब्राह्मणों को औपचारिक अभिषेक करने के लिए कह दिया । दीदी और मुझे संकल्प दिया गया । ब्राह्मण गोत्रादि पूछ कर मंत्र बोल संकल्प कराने लगे ।-- आरती की तैयारी हो रही थी । त्रिपुण्ड लगाये

हुए अनेक पुजारी तैयारी में लगे थे । भीड़ बढ़ गयी थी । . . .और आरती आरंभ हुई । स्तोत्र-पाठ झनकार के साथ समारंभ हुआ । घंटे, घड़ियाल, ढोल आदि बजने लगे । लिंग पर त्रिपुण्ड लगा बिल्वपत्र, हरसिंगार सजाये गये । उपरान्त अनेक बत्तियोंवाली बड़ी सी दीपारती से आरती होने लगी । . . कान फटे जा रहे थे । माँ और वल्लभा अपनी गले की कण्ठियाँ हाथ में लिये आँखें मूँदे स्तोत्र बोलती जा रही थीं । . . जिस समय बाहर निकल कुंड, कुंड के चारों ओर के पेड़ों के ऊपर का आकाश तथा धूप देखी तो लगा जैसे दूसरा जन्म हुआ हो ।

सूखे तालाब के पेटे में पतले साँप की तरह एकमात्र विनम्र सड़क हरसिद्धि ले जाती है। हरसिद्धि के दोनों दीपस्तम्भ गोरे मोरपंखी से खड़े थे । यहाँ अधिक भीड़ नहीं थी। इस शिवशक्ति से स्त्रियाँ सौभाग्य माँगने ही आती हैं इसलिए स्त्रियाँ ही अधिक थीं । दर्शन के बाद दीपस्तम्भ के सामने वाले गवाक्ष में, जो कि तालाब की ओर है, जाकर हम लोग बैठ गये ।

यह कभी सागर था । आज काली मिट्टी की बड़ी-बड़ी बिवाइयाँ इसमें भरी हुई थीं । सवेरा था । प्रसन्न धूप भी थी लेकिन सूने, सूखे तालाब के किनारे बड़ी उदासी थी ।

—दीदी !

दीदी के कंधे अत्यन्त महीन, पतली कामदार सूती शाल से ढँके थे। अंगूरी शाल में पीताभ दीदीमुख, समुद्र के तल से ताजा निकला शंख लग रहा था ।

—क्या रे ?

दीदी अपने मुख पर प्रशस्त हवा एवं धूप झेलते हुए बोलीं ।

—कित्ता अच्छा लग रहा है न ?

सूखे तालाब के काले पेटे पर सारस का एक जोड़ा उतर रहा था । उस जोड़े के उतर आने से आकाश खाली हो गया था । दीदी बोलीं,

—बुआ जी ! कभी-कभी यह उदयन कैसे बड़ों की सी बातें करता है ।

—कभी-कभी ? इसका बस चले तो हमेशा ही यह ऐसा करे।...लेकिन क्या करे, भूख लगती है तो सारा बड़प्पन धरा रह जाता है।

वल्लभा की इस बात से सब हँस पड़े। तभी माँ बोलीं,

—अच्छा, अब चलो देर हो जाएगी तो मोटर छूट जाएगी।

—क्या मोटर से घर चलेंगे माँ ? रेल से नहीं ?

—रेल से घर देर में पहुँचते हैं।

मेरा मन इस बात से बुझ गया। कितना अच्छा दिन, फूलों की तरह खिला हुआ आज का दिन इन बड़े लोगों की मात्र इस बात ने खराब कर दिया कि मोटर से जाएँगे। मेरी अब किसी बात में रुचि हो ही कैसे सकती है ? ये जितने बड़े होते हैं, सब ऐसे ही होते हैं, जब कि ये अपने को बहुत समझते हैं—हुँअ !!

पिताजी को सरकारी घोड़ा मिला है जिस पर वे दौरा करने जाते हैं। बाकी के दिनों वह नेरे में बँधा रहता है। रोज शाम को पिताजी का चपरासी शंकर, तहसील से पिताजी का सरकारी बस्ता घर रखने आता है और सवेरे ले जाता है। शंकर ही घोड़े को खुर्रा, दाना-पानी भी करता है। नेरे में एक तरफ घोड़े की चंदी का चना तथा एक खूँटी पर चमड़े का तोबरा टँगा रहता है। घोड़े के मुँह पर तोबरा चढ़ा शंकर अपनी सरकारी वर्दी तथा बिल्लेवाली लाल चपड़ास एक तरफ रख कर खुर्रा लेकर जुट जाता है। इसके बाद दिया-बत्ती की बखत घोड़े को पानी पिलाने नदी ले जाता है।

और शंकर मुझे रोज घोड़े पर ले जाता है। वह रास थामे चलता है और मैं घोड़े पर टँगा हुआ होता हूँ। नदी में जिन दिनों पानी सूख जाता है उस समय भी या तो बाँध से महादेव-घाट तक खूब पानी होता है या फिर किले-घाट से बादशाही-पुल तक हाथीडूब पानी होता है। उन दिनों मंदिर के सामने नदी सूख जाती है। रेत ही रेत निकल आती है। शंकर रास थामे बालू में बीच में खड़ा हो जाता है और मैं तथा घोड़ा दोनों गोल-गोल घूमते हैं। शुरु-शुरू

में बड़ा डर लगता रहा । कुछ देर के बाद वह मुझे मंदिर के सामने वाली बावड़ी पर बिठा कर घोड़ा दौड़ाता हुआ बाँध पर से बम्बई-आगरा रोड तक ले जाता । बाँध पर दोनों को जाते हुए मैं देखता रहता ।

और एक दिन ऐसे ही गोल-गोल घुमाते हुए मैंने शंकर से रास छोड़ देने के लिए कहा । उसने रास छोड़ दी लेकिन मुझे एड़ लगाने के लिए मना किया । पहली बार बिना शंकर के रास थामे मैं घोड़े पर बैठा हुआ उसे गोल-गोल घुमा रहा था । कितना उन्मुक्त लग रहा था । . . पता नहीं भूल से कब एड़ लग गयी और घोड़ा एक बार जोरों से हिनहिनाया ,नथुने फुलाये, इधर-उधर देखा और देखते-देखते बालू कुचलता हुआ सरपट भागने लगा । शंकर हठात तो नही समझ पाया लेकिन घोड़े को भागते देख वह भी पीछे-पीछे दौड़ने लगा । शंकर ने जितना सिखाया था वह ज्ञान घोड़े के भागने के साथ ही गायत हो गया । . . घोड़ा नदी पार कर कच्चे रास्ते से सामने के ढीहों पर चढ़ने लगा । मेरे हाथ-पैर पहले ही फूल चुके थे । ऊँची की हुई रकाब में रखे पैर घोड़े की पीठ से चिपका रखे थे । पिंडलियों के पास घोड़े की हाँफती हुई पसलियाँ अनुभव हो रही थी । मैं जैसे-जैसे अपने पैर चिपकाता जाता, घोड़ा उतनी ही तेजी से भाग रहा था । जंगल से लकड़ियों का भारा सिर पर लादे औरतें टापों की आवाज पर रास्ता छोड़ एक ओर हो जातीं । तेज हवा देह को जैसे तराश रही थी । मैंने लगाम के साथ उसकी अयाल भी थाम रखी थी । मैं बार-बार उछला पड़ रहा था । लेकिन शंकर ने बताया था कि कभी तन कर या अकड़ कर नही बैठना चाहिए ।

ढूहों की सीधी -सपाट चढ़ाई सामने थी । मैं घोड़े की गर्दन से चिपक गया । घोड़ा इतनी तेजी से भाग कर चढ़ रहा था जैसे मैं उस पर हूँ ही नही । शंकर पीछे-पीछे चिल्लाता हुआ कहता आ रहा था,

---डरना मत भैया साब ! . .मैं आ रहा हूँ ।

ऊपर पहुँचकर घोड़ा एक क्षण को रुका और फिर बम्बई-आगरा सड़क की ओर भागने लगा । पथरीला फैलाव था । सूर्यास्त के बाद की आभा आकाश को किंचित आलोकें हुए थी । शंकर की आवाज का आभास कहीं किसी सुदूर में था, शेष एक प्रशस्त नीरवता थी जो साँझ पड़े पर तो मोहती है किन्तु देर रात होने पर इसी से भय लगता है । छोटे-छोटे पत्थरों से टकराते खुरों के कारण टापों में व्यति-क्रम आ जाता था । नदी के पेटे या अभी नीचे जैसी हवा थी वैसी यहाँ नहीं थी । इस ऊँचाई पर हवा भी खुल आयी थी । घोड़ा बार-बार हिनहिनाकर नथुने झाड़ देता था । और एक खड्ड में घोड़े का पैर डगमगाया । संभवतः न घोड़ा ही,

न उसका घुड़सवार ही कोई इस अप्रत्याशित के लिए तैयार था। घोड़ा बड़ी जोर से छिटका और मैं गेंद की तरह उछला। रकाब में फँसे पैर झटका खाकर निकल आये। रास, पानी की तरह हाथों में से सरक गयी। घोड़ा छिटक कर भड़क उठा और अब वह पूर्णरूपेण स्वतंत्र था। उछलने तक मुझे चेत रहा लेकिन उसके बाद क्या हुआ मैं नहीं जानता। क्योंकि दो-चार लोगों की मदद लिये शंकर जिस समय लाठी-लैम्प के साथ खड़ा दिखा, आकाश में तारे फूली चमेली हो रहे थे। और मुझे लाद कर लोग घर चले।

अब मेरे लिए कोई काम नहीं रह गया था क्योंकि दौरे के दिनों के अलावा घोड़ा गाँव पर भिजवा दिया जाता था। नन्दन अब परेड वाले सरकारी स्कूल में जाने लगा था। गम्पू के लिए स्कूल हमेशा बहाना था। वह मुझसे दो क्लास पीछे रह गया था। शेखर पहले से ही परेड पर पढ़ने जाता ही था। जुगल का परिवार इस बीच कहीं दूसरी जगह जा कर रहने लगा था। जुगल के बड़े भाई बैंक में काम करते थे और उस बैंक में गबन हो गया था। रातों रात जुगल का परिवार रियासत बदल कर चला गया। सेठ केसरीमल के अहाते में जो हम लोगों का दुर्ग था अब उस हौज में निमौलियाँ भर गयी थीं। अब स्कूल जाने में गम्पू ही सिर्फ साथी था। हाथी खाने वाली गली से होकर गंदे नाले की लोहे की पुलिया पर गम्पू बस्ता रख जेब से घर से चुरायी हुई चीजें निकालता और मुझे भी देता। इन चुरायी हुई चीजों में पैसों से लेकर कच्चे पापड़ के टुकड़े तक होते थे।...शाम को स्कूल से लौटते तो मंडी में अनाजों की गाड़ियाँ खड़ी रहती थीं। उनके मालिक या तो नदी किनारे बाटियाँ सेक रहे होते या घर ले जाने के लिए सौदा-सुलुफ खरीदने गये होते और गम्पू अपना बस्ता मुझे थमा किसी गाड़ी पर चढ़ जाता। उसे चढ़ा देख मुझे भी

साहस हो जाता।...और अनाज में घुटनों तक धँसे पैरों में कैसी गुदगुदी होती। मंडी के उस मैदान के सिरे पर दो तरफ एकतल्ला कोठरियाँ बनी थीं जहाँ दलाल, अनाज तौलने वाले बैठे रहते हैं। इस समय दालान में गड्ढे बना आवारा कुत्ते आराम कर रहे होते। आम के दिनों मंडी आम से गमक उठती है। तौलने वालों की 'एकाँ जी एकाँ' 'दुइयाँ जी दुइयाँ' का साम-स्वर उठता रहता है और गाड़ियाँ खाली होती रहती हैं। लेकिन इस समय प्याज के बैंगनी-सफेद छिलकों के या यहाँ-वहाँ छितरे पड़े अनाज के दानों के पेड़ तक उदास, सूने खड़े थे। उन दानों की खोज में कुछ बतखें 'क्याँ' 'क्याँ' करते हुए घूम रही थीं।

संभवतः ऐसे ही एक दिन अनाज की गाड़ी में गुदगुदापन अनुभव करते हुए कान तक अनाज का खसकना लिये हम लोग लेटे हुए थे। आसमान निरभ्र था। एक मोतिया तथा दूसरी पीली पतंग में पेंच हो रहा था। नदी के पार के मुहल्ले से पतंगें उड़ायी जा रही थीं। हवा नहीं थी इसलिए पतंगों में ठहराव था। पेंच हो चुका था बल्कि ढील खाते हुए पतंगें इतनी दूर आ गयी थीं। दोनों गोत खाते हुए घूम रही थीं और पीली पतंग कट गयी।

——उदयन ! फक्काटा !!

और गम्पू उछल पड़ा क्योंकि पीली पतंग अब लहराती हुई नीचे उतरने के लिए तैरने लगी थी। गम्पू पतंग की ओर देखते हुए बोला,

——चलो, सोमवारे तक यह जाएगी। चलो लूटेंगे।

——लेकिन गप्पू ! घर पहुँचने में देर नहीं हो जाएगी ?

——चल लड़की कहीं का। घर जाने की बड़ी जल्दी पड़ी रहती है। मर्द की तरह रहना चाहिए।

और हम लोग 'मर्द' की तरह बिना किसी की परवाह किये कंधों पर बस्ते झुलाते हुए आकाश में पतंग ताकते, पीछा करते हुए भागने लगे। गम्पू को आशा थी कि पतंग 'मुर्दाघर' की बड़ी इमली पर जरूर गिरेगी। पतंग उस इमली पर एक बड़ा सा गोता खाकर नीचे भी आयी। लगा कि गम्पू 'जादूगर' है जो कह देता है कि कौन पतंग कहाँ गिरेगी और क्या मजाल जो पतंग गम्पू की बात न माने। लेकिन पतंग ने दूसरा गोता खाया और 'मुर्दाघर' की इमली देखती ही रह गयी। पतंग गोपू-भैया की हवेली के भी पार निकल गयी। गम्पू समझा था कि कन्या-पाठशाला वाले पीपल से तो यह पतंग बच ही नहीं सकती। गम्पू की भविष्यवाणी में थोड़ा सा अन्तर पड़ा। कन्या-पाठशाला वाले पीपल के पास मंदिर जी का जो पीपल है वहाँ पतंग ने अंतिम बार गोता खाया और पीपल के हरे पन में एक पीली तितली बैठ

गयी। मन्दिर जी की पिछवाड़े की गली से होते हुए भाग कर हम लोग पीपल के नीचे पहुँचे। ढेरों लड़के शिवाले के चारों ओर खड़े थे। बाँस और डंडे लिये सब उस पीली तितली की ओर गर्दनें ऊँची किये देख रहे थे। खासा शोर था। पीपल पर चढ़ने की योजना पर बहस हो रही थी। कुछ तो झगड़ भी रहे थे।

गम्पू ने मुझे बस्ता थमाया और पीपल पर चढ़ने के लिए कमीज निकालने लगा।

—गम्पू ! यह मंदिरजी का पीपल है।

—तो क्या 'मंदिरजी' खा जाएँगे ?

—नहीं, यहाँ वो जो बुआजी हैं न.... वो....

—क्या बुआजी-फुआजी लगा रखी है। ले कमीज सम्हाल... देख मैं अभी लाता हूँ।

—लेकिन वो तो ठेठ फुनगी पर है।

—अरे फुनगी की ऐसी की तैसी।

लड़कों ने गम्पू को चढ़ते देखा तो शोर करने लगे।

—मुखिया जी देखेंगे तो मारेंगे साले को।

—चलो उन्हें बुला लाएँ।

—चलो शिवाले वाले दयाशंकर जी को बुला लाएँ कि शिवाले पर यह चढ़ रहा है।

—अरे हमारे मुहल्ले में पतंग गिरी और ये साला कैसे ले जा सकता है ?

पीपल पर ढेर सारे चीटें रेंग रहे थे। गम्पू अभी चढ़ ही रहा था कि किसी चींटे ने काटा और बेचारा धम्म से गिरा। पीपल का मोटा सफेद तना वैसे ही उसकी पकड़ में नहीं आ रहा था उस पर चीटों ने उसे गिरा दिया। लड़कों ने सम्मिलित हँस कर गम्पू को चिढ़ा दिया। उसने अपनी कमीज से सांभविक ऊँचाई तक तो चीटों को मार गिराया और इस बार वह मेंढ़क की तरह फुदकता, चिपकता चढ़ने लगा।...और गम्पू पहली घाटी पार कर चुका। तना अब फूट कर दो भागों में हो गया था। गम्पू ने वहाँ पहुँच कर नीचे खड़े बौनों को अँगूठा दिखा कर चिढ़ा दिया। किसी लड़के ने एक पत्थर उसे तान कर मारा। गम्पू वार बचा गया लेकिन सम्बन्ध बिगड़ गये। गम्पू दूसरी मंजिल की तरफ बढ़ रहा था। जिस फुनगी पर पतंग अटकी थी वह पीपल के चौथे विभाजन की दक्षिण वाली फुनगी थी। पेड़ इतना सघन था कि दूसरे विभाजन के सिरे पर गम्पू पत्तों से ढँका हरा बन्दर लग रहा था। हम सब साँस रोके उसे देख रहे थे। गम्पू के लिए नीचे का सारा दृश्य अवश्य ही कुएँ का सा लग रहा होगा।...अब गम्पू बहुत

सम्हल कर तीसरे विभाजन से ऊपर चढ़ा। इस बीच मुखिया जी, पंडित दयाशंकर, जलघड़िया आदि कई लोग आ गये।

—कौन चढ़ा है रे ऊपर ?

मुखिया जी ने किसी से पूछा। सब चिल्लाये,

—एक लड़का चढ़ा है मुखिया जी !

—हमने मना किया कि मत चढ़ो मुखिया जी बिगड़ेंगे...

—तो आपको गाली दे रहा था।

अब मुखिया जी को बहुत गुस्सा आया।

—देखा पंडित जी ! ये लौंडे साले नाक में दम किये रहते हैं।

पंडित दयाशंकर कट्टर आर्य समाजी थे। लड़कों में बढ़ती अराजकता के प्रति यों हीं उखड़े रहते थे। बोले,

—अब आप ही देखिए मुखिया जी ! ये सब सनातनी लड़के हैं। मंदिर जी का परशाद खाएँगे और गाली-गुफ्ता करते फिरेंगे।

—देखिए पंडित जी ! सनातनियों को गाली देने का आपको कोई अधिकार नहीं।

—है क्यों नहीं साहब ! आप लोगों के कारण देश रसातल को पहुँच गया।

—बड़े आर्य समाजी बनते हैं शिवाले के पूजन से पेट पालते हैं और सनातनियों को ही गालियाँ देते हैं।

इधर मुखिया जी, दयाशंकर जी में झगड़ा चल रहा था उधर गम्पू पतंग के पास पहुँच चुका था। पतंग बिल्कुल फुनगी पर तितलियों की भाँति काँपती हिल रही थी। तब तक जलघड़िया मधुसूदन बोला,

—मुखिया जी ! मगर ये लड़का कौन चढ़ा है ?

मैं मारे डर के चुप खड़ा था। एक तो गम्पू जैसे-जैसे ऊपर चढ़ता जा रहा था वैसे-वैसे मुझे ठण्ढा पसीना आ रहा था दूसरे इस डर से कि अगर मुखिया जी को मालूम हो गया कि मैं भी पतंग लूटने आया हूँ तो घर तक बात पहुँचेगी। बुआजी को मालूम होगा तो वह भी बिगड़ेंगी।

बुआजी का नाम आते ही उनकी खिड़की की ओर देखने का लालच हो आया। खिड़की बन्द थी। मुझे ऐसा लगा कि गम्पू की जगह यदि मैं चढ़ा होता तो कितना मजा आता। वहाँ फुनगी पर से कैसा दिख रहा होगा न ? हम सब जमीन में अपने पैरों के पास धँसे हुए गम्पू को दिख रहे होंगे। मैं पीपल के तने की आड़ किये खड़ा था। मधुसूदन ने मुझे देख लिया।

—अरे उदयन ?

—हाँ ।
—क्या तुम भी पतंग लूटने आये हो ?
—नहीं । मैं तो यूँ ही आया था ।
—ये दो-दो बस्ते कैसे ?

मैं कुछ जवाव दूँ इसके पूर्व ही गम्पू ने कई बार प्रयास के बाद पतंग हथिया ही ली। और अब वह वहीं से पुकार रहा था। पत्तों के बीच से पुकार आ रही थी।

—अरे उदू !

मधुसूदन, मुखिया जी, दयाशंकर जी आदि सभी ऊपर देखने लगे । मुखिया जी गरजे,

—कौन है रे ऊपर ?

लेकिन गम्पू ने उत्तर न देकर मुझे फिर पुकारा,

—अरे उदू !

मुखिया जी ने मुझे देखकर पूछा,

—कौन चढ़ा है ऊपर उदयन !
—गम्पू है मुखिया जी !
—खजांची साहव का लड़का ?
—जी ।
—तो क्या तुम भी पतंग लूटने आये थे ?
—नहीं । मैं तो वैसे ही आ रहा था ।
—ये हाथ में लूटी हुई डोर तो है । झूठ बोलते हो ?

इस बीच मधुसूदन कब भीतर मंदिर में गया और आया पता नहीं लेकिन उसने बताया कि मुझे बुआजी बुला रही हैं । गम्पू वहीं फुनगी के पास टिड्डे की तरह डाली से चिपका चीख रहा था,

—अरे मैं नीचे डोर लटका रहा हूँ, पकड़ना । कोई दूसरा पतंग न लेने पाये, समझे ।

और लकड़ी का एक टुकड़ा बँधा डोर का सिरा पत्तों के बीच नीचे आता दिखा ।

—पतंग धीरे-धीरे खेंचना वर्ना फट जाएगी ।

मैं बाध्य था डोर को खेंचने के लिए । इस बीच मैं देख चुका था कि वल्लभा वाली खिड़की खुल गयी है और वह उसमें से झाँक रही थीं। पतंग नीचे आते देख लड़के बाँस और डण्डे लिये दौड़ने की चेष्टा करने लगे । गम्पू वहीं से चिल्लाया,

—मेरी पतंग को अगर किसी ने हाथ लगाया तो एक-एक के बक्कल उधेड़ कर रख दूंगा।

लड़के चिल्लाये,

—पतंग हमारे मुहल्ले की है।

—पतंग मैंने पीपल पर से उतारी है। किसी ने हाथ लगाया तो ठीक न होगा। मैं पतंग की डोर को अँगुलियों पर धीरे-धीरे लपेटता जा रहा था। पतंग, अमराइयों में लुक-छिप करती किसी दुलहन सी नीचे धीरे-धीरे आ रही थी। और गम्पू पीपल के पहले विभाजन पर रामायण काल की वानर सेना के एक गुल्मपति की भाँति विजय मुद्रा में खड़ा था। पतंग उसके हाथ में गदा के ऊपरी हिस्से की भाँति सुशोभित थी। और उसने पतंग नीचे उड़ा दी। पतंग बड़े ही यान भाव से गोल-गोल उड़ते हुए मेरे द्वारा खेंचे जाने पर उड़ती हुई आ गयी। गम्पू को मुखिया जी ने ललकारा,

—तुम किससे पूछ कर ऊपर चढ़े थे ?

—यह पतंग किससे पूछ कर पीपल पर अटकी थी ?

मुखिया जी खिसियाये। लड़कों को मजा आ गया।

—जानते हो यह मंदिर का पीपल है ?

—जानता था तभी तो पतंग से कहने गया था कि देख री, यह मंदिर का पीपल है, चल नीचे उतर। और बेचारी नीचे आ गयी।

लड़कों ने जोरों से हँस दिया।

—तेरी यह मजाल जो जबान लड़ाता है ?

—नहीं मुखिया जी ! मैं तो पतंग लड़ाता हूँ।

और गम्पू अब लड़कों का नायक हो गया था। गम्पू जैसे ही पीपल के पथरीले चबूतरे पर कूदा लड़के यह भूल गये कि यही वह व्यक्ति है जो उनके मुहल्ले की पतंग लिये जा रहा है। लड़कों को इस बात की प्रसन्नता थी कि अब भविष्य में वे भी इस पीपल पर से आये दिन अटक जाने वालीं पतंगें उतार सकेंगे। वर्ना जाने कितनी पतंगें अटकीं मगर कभी इन मुखिया जी ने उन्हें नहीं उतारने दिया। अभी भी दो-एक पतंगों के अस्थि-पंजर पीपल की डालियों में देखे जा सकते हैं।

—मैं तुम्हारे बाप से आज शिकायत करूँगा।

—मैं किसी से डरता हूँ क्या ?

—अच्छा यह बात है ?

अब पंडित दयाशंकर जी की बारी थी।

—देखो बच्चे ! बड़ों का आदर करना चाहिए ।
—देखिए पंडित जी ! आप मत बीच में बोलिए । मैं आपको भी जानता हूँ ।
—मुखिया जी ! हमारी नयी पीढ़ी पर कलिकाल का कितना बुरा प्रभाव हो रहा है ।
—बड़ा आया है आर्यसमाजी ! . . . चल रे उदू ।
तभी मंदिर के बड़े दरवाजे के पीछे से वल्लभा की कड़कती आवाज सुनायी दी,
—उदू ! पकड़ ला तो इस गम्पू को मेरे पास । मैं भी देखूँ इसके पेट में कितनी बड़ी जीभ है ।
गम्पू को भावी संकट का इन्द्रिय बोध सहज ही हो गया और वह देखते-देखते पतंग लिये-दिये भाग निकला । . . .पतंग उसकी पीठ पीछे कसी-कसी उड़ते हुए दूर हो रही थी । बच्चे, अपने एक वीर नायक से इस प्रकार भाग निकलने की आशा नहीं कर रहे थे इसलिए सब देखते ही रह गये । मैं उसका बस्ता भी कंधे पर उठाये जड़वत खड़ा था ।
तभी दरवाजे के पीछे से आदेश सुनायी दिया ।
—तू इधर आ उदयन !

शाम है। खपरैलों पर धुँआ उठने लगा है। सप्ताह में एक दिन पनचक्की बन्द रहती है। और वह दिन आज का है। गम्पू के घर की तीसरी मंजिल से भाग कर अभी मैं पनचक्की की पानी की बड़ी सी गोल टंकी पर भाग कर चढ़ रहा हूँ।

क्या बात हो सकती है ?

शायद यही बात जानने को दीदी, वल्लभा और नन्दन मेरे पीछे-पीछे भागते हुए आ रहे हैं। घटना कुछ खास नहीं भी हो सकती थी लेकिन मेरा दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि वह खास हो गयी थी।

स्कूल से लौटते समय गम्पू रोज गन्दे नाले के पुल पर बैठकर अपने साथ मुझे भी बाजार की चीजें खिलाता है। आस-पास कूड़े के बड़े ढेरों, हमेशा बन्द रहने वाले किसी जमाने के एक हाथीखाने के तथा गंदे नाले के आस-पास मुँह मारते हुए सूअरों के और कोई नहीं होता। दो-एक कूड़ा-गाड़ियाँ जरूर उलार-पिछार पड़ी रहतीं जिनकी काली टिन की चादरें उस भूरे-भूरे वातावरण में प्रमुख लगतीं। जो दो-चार घर दिखायी पड़ते थे उनमें से अधिकांश मुसलमानों के घर थे जिनकी

दीवारें इधर पड़ती थीं या एकाध घर का दरवाजा भी जो था जिस पर फटे टाट का पर्दा बड़े शरमीले भाव से पड़ा रहता था ।

आज उसने बताया कि वह बीड़ी पीना जानता है तथा बनाना भी । मुझे उत्साह नहीं कौतूहल हुआ था । और वही कौतूहल मुझे गम्पू की तीसरी मंजिल ले गया था । तीसरी मंजिल पर जो एक कोठरी है वहीं गम्पू और मैं बैठे हुए थे । गम्पू अपनी दादी के पानदान में से तमाखू चुरा लाया था । चूंकि आज मैं भी साथ था इसलिए केवल स्वागत करने के ख्याल से अथवा बीड़ी पीने की संज्ञा को अधिक समादृत करने के लिए वह सफेद कागज भी ले आया था । उसने दो सिगरेटें तैयार की ।

कोठरी के एक छोटे से गोल, कच्चे रोशनदान से सन्ध्याकाश का एक गोल नीला टुकड़ा हमें देख रहा था। पतली दीवार से पड़ोसी के घर की आवाजें भरी-भरी सी आ रही थीं । नीचे के तल्ले में दिन भर बँगवई झूलने वाली गम्पू की दादी-माँ इस समय भी अपनी बँगवई के कड़े बजाती झूल रही थी । तीसरे पहर में हल्की आवाजों वाली एक ऐसी निस्तब्धता होती है जो आपको सचेत किये रहती है । कोठरी के एक कोने में रिजर्व चूल्हा नया बना हुआ रखा था । उसी के पास पुराने गद्दे-लिहाफों को रखने वाली मचिया 'गोदड़मच्ची' खड़ी थी जिस पर गद्दे-लिहाफ आदि रखे थे । किसी के विवाह का 'माणिक-थम्ब' खपरैल में खुँसा हुआ था । गंगाजल की गंगा-जमुनी कलशी कपड़े से मुँह बँधी एक खूँटी पर टँगी थी । गम्पू ने कोठरी के जीर्ण दरवाजे बन्द कर रखे थे । दरवाजों की लकड़ी नीचे से अधूरे गिरे दाँतो की बत्तीसी सी हो रही थी ।

गम्पू ने चूल्हे का तकिया बना मुँह में सिगरेट दबा दियासलाई से उसे जलाया । जलती तीली उसने मेरी ओर बढ़ायी । बीड़ी के आकार-प्रकार की वह सिगरेट मेरी अँगुलियों में दबी थी । मेरा रोम-रोम काँप रहा था । बगलों से पसीना पार्श्व की पसलियों से होता हुआ पेट पर आकर रुक गया सा लग रहा था । साँसें इतनी तेजी से चल रही थीं कि मैं उन्हें रोकने के लिए अपने दाँत कसे था । गेहूँ की बाली की तरह वह जलती तीली गम्पू ने मेरी ओर बढ़ायी । गम्पू इस बीच दो-एक कश ले चुका था और धुँआ उसके मुँह से 'भक्क' करते निकल रहा था । मैं हड़-बड़ाहट में था कि क्या करूँ । और तीली बुझ गयी। वह झल्लाया, उसने दूसरी तीली जलाकर सिगरेट जलाने का आदेश बिना बोले दिया । काँपती अँगुलियों से सिगरेट ओठों से सटा ऐसे प्रतीक्षा करने लगा जैसे अभी कोई बड़ा सा पटाखा फूटेगा—भऽऽड़ !! ...और सिगरेट जल उठी । वह मुझे कश लेने के लिए संकेत

करता जा रहा था तथा बताता भी जा रहा था कि ऐसे कश लेना चाहिए।... और धुँआ, कड़वा धुँआ मेरे गले में रेंगने लगा। गले में फुरहरी हुई और धुँआ गले में रेंगना छोड़ नाक और मुँह के रास्ते बाहर की ओर भागा। एक तेज नीली, कड़वी रेखा गले के पास कोण बनाती नाक और मुँह तक खिंच गयी। और मैं खाँसी से भर उठा।

—क्या मार खिलवाएगा ?...अबे खाँसी आयी तो उसे ऐसे दाबा जाता है।

और गम्पू आँखें बन्द कर थूक घोंट कर नीचे उतारने का प्रदर्शन दे रहा था। मेरे तालू में जैसे धुँआ घाव कर गया था। जल रहा था।...तभी किसी के पैरों की आहट सुनायी पड़ी। गम्पू अपनी माँ की अकेली बिछिया की आवाज पहचानता था, बोला,

—जल्दी बुझा, माँ आ रही हैं।

और कोठरी में नीले धुँए के दो-चार रेशमी लच्छे यहाँ-वहाँ तैर रहे थे तथा तम्बाकू की गंध बिछली हुई थी। गम्पू ने अपनी सिगरेट बुझा कर गोदड़मच्ची में छुपा दी थी तथा मेरी भी लेकर अभी वह छुपा ही रहा था कि बन्द दरवाजों पर उसकी माँ के दो पैर रुके।

—गम्प्या !

और गम्पू एक आँख से सोते हुए तथा दूसरी से मुझे भी सो जाने का संकेत करते हुए खुर्राटे भरने लगा।

—गम्प्या ! यहाँ क्या कर रहा है रे ?

और उसकी माँ दरवाजा भड़भड़ा रही थीं। गम्पू ने सोने वाले की तरह जागते हुए हड़बड़ा कर पूछा,

—कौन है ?

—खोल किवाड़।

—हम सो रहे हैं।

—मैं सब जानती हूँ। बड़ा सोने वाला आया है।

मैं बहुत घबरा गया था। दरवाजे की आड़ में खड़ा होकर छिप गया। जैसे ही गम्पू ने दरवाजा खोला और उसकी माँ अन्दर आयीं कि मैं तीर की तरह निकल कर भागा। वह देखती ही रह गयीं। केवल मैंने इतना ही सुना,

—दूसरा कौन था रे ?

—कोई नहीं।

इसके बाद मैं नहीं जानता कि वहाँ क्या हुआ । अभी मैं गम्पू के घर से बाहर हो ही रहा था कि मुझे खोजता हुआ नन्दन मिला । मुझे लगा जैसे मेरे मुँह से तम्बाकू पीने की बदबू आ रही है और नन्दन इसे सूँघ लेगा और फिर उसके बाद उसके घर वाले, उसके घर वालों से माँ, बा, पिताजी, दीदी सब को मालूम हो जाएगा । रूमा के ब्याह की तैयारी करवाने आयी हुई और औरतों के अलावा वल्लभा को भी ज्ञात हो जाएगा कि मैंने सिगरेट पी है ।

मुझे भागते देख नन्दन दरवाजे में हाथ फैलाकर खड़ा हो गया । मैंने उसे इतनी जोर का धक्का दिया कि उसका सिर पल्ले से टकराया और वह गिर पड़ा । फिर भी नन्दन उठ खड़ा हुआ और शोर करता हुआ पीछे-पीछे भागा । इस बीच गम्पू को मारते हुए उसकी माँ सेरी में खड़े-खड़े चीख रही थी कि गम्पू और उदयन दोनों ऊपरी पर तम्बाकू पी रहे थे । . . . और देखते-देखते दीदी, वल्लभा और नन्दन मेरे पीछे आने लगे । मेरे सामने अपने बचाव का और कोई रास्ता नहीं था क्योंकि नन्दन भागते हुए लगभग मेरे पास आ चुका था । दूर सेरी में नन्दन के दोनों बड़े भाई भी आते दिखे । मैं भाग कर पनचक्की की टंकी पर किसी तरह काँखता-कूँखता चढ़ गया । मैं नहीं जानता था कि टंकी वास्तव में क्या होती है । टंकी में काफी ऊपर तक पानी भरा था । टंकी की पतली सी चादर बड़ी ही असुविधात्मक थी । नन्दन ने भी ऊपर चढ़ने की कोशिश की लेकिन मैंने धमकी दी कि यदि वह ऊपर आया तो मैं टंकी में कूद पड़ूँगा । वह बोला,

——लेकिन तुम नीचे तो आओ ।

——मैं नीचे नहीं आऊँगा ।

——क्यों ? क्या बात है ?

——कुछ भी नहीं । वैसे ही ।

——जरूर कोई बात है ।

मैंने वाक्य की नकल रिरिया कर दी । तब तक दीदी, वल्लभा और नन्दन के दोनों बड़े भाई भी आ गये । दीदी बोलीं,

——ऊपर क्यों चढ़ा है रे ?

——हमारी मर्जी ।

——पानी में गिर पड़ेगा, तो ?

——जरूर गिर पड़ूँगा अगर तुम लोग यहाँ से न हटे तो ।

——लेकिन तू भागा क्यों ? क्या बात है ?

——मामी (गम्पू की माँ) झूठ बकती हैं ।

इस पर वल्लभा बोलीं,

—अगर झूठ है तो फिर क्यों भागा ?

इस बार बड़े दादा बोले,

—वो झूठीं और तू सच्चा ? अगर सच्चा था तो भागा क्यों ?

इस पर रमण-दादा ने टीप लगायी,

—जरूर पी होगी। पकड़े जाने के डर से भागा। अगर नहीं पी है तो मुँह सुँघा दे।

—हाँ, और क्या। नहीं पी, तो ला मुँह सुँघा।

दीदी की बात से मैं काँप गया। काली टंकी के काले जल में आकाश की परछाँई बहुत गहरी नहीं दिख रही थी। साथ ही आकाश, द्वितिया के नील चाँद सा छायित था तथा टंकी की काली छाया उस चाँद पर झुक कर पूरा घेरा बनाती थी। नीचे पानी में देख कर डर लग रहा था। टंकी भी चुभ रही थी। हाथों में कटाव अनुभव हो रहा था। लगभग चक्कर आ रहा था। मैं मुँह सुँघाने वाला प्रस्ताव कैसे स्वीकार सकता था? लेकिन इससे अधिक न्यायपूर्ण बात और कुछ हो भी नहीं सकती थी।

—लेकिन मैंने बीड़ी नहीं पी।

—नहीं पी, तो फिर डरते क्यों हो ?

वल्लभा की इस बात से सहारा मिला। कहीं आश्वसित था कि मैं वल्लभा के हाथों में सुरक्षित रह सकता हूँ।

—ठीक है, मैं बुआजी को मुँह सुँघा सकता हूँ।

—कोई बात नहीं। नीचे आओ।

और मैं लटक कर नीचे आया।

लोगों से घिरा जब घर पहुँचा तो खासी भीड़ थी। गम्पू मार खाकर अपने चबूतरे पर बैठा पतंग बना रहा था। मैं लज्जा से गड़ा जा रहा था। जब चारों ओर से पूछ होने लगी कि क्या सच ही बीड़ी पी ? तो वल्लमा और दीदी बिना कुछ जवाब दिये मुझे लेकर भीतर चली गयीं। जब मुँह सुँघाने के लिए कहा गया तो मैंने देखा कि नन्दन भी भीतर आ रहा है।

—नहीं, और कोई नहीं, सिर्फ तुम रहोगी।

और दीदी नन्दन को लेकर बाहर चली गयीं। दरवाजे के बाहर लोगों की प्रतीक्षित दृष्टियों तथा तेज-तेज साँसों का अनुभव कर रहा था। वल्लभा बोलीं,

—हाँ, अब सुँघाओ।

मैं अत्यन्त घबराया हुआ था। जीभ से दाँतों तथा भीतर मुँह में जमी संभावित गंध को छुड़ा रहा था। जिस समय मैंने मुँह खोला उन्होंने जाने क्या सूंघा और समझा लेकिन वे बाहर निकलीं और दरवाजे पर प्रतीक्षित भीड़ को अपना न्यायघोष सुना दिया,

—कौन कहता है उदयन ने बीड़ी पी ?

और यह भीड़ भी उसी तरह तितर-बितर हो गयी जिस प्रकार भीड़ें हुआ करती हैं।...लेकिन मैं अभी भी आश्वस्त नहीं था। मोरी पर जाकर कुल्ला करने लगा कि तभी पीछे से वल्लभा आयीं और मेरे कान उमेठ खड़ा करते हुए बोलीं,

—तू इस गम्पू का साथ नहीं छोड़ेगा न ? उस दिन आवारा लड़कों की तरह पतंग लूटता फिर रहा था और आज...सच बता बीड़ी पी थी न ?

मेरे आश्चर्य की सीमा न रही। मैं अवाक था। हठात हम दोनों ने देखा कि दीदी पीछे खड़ी सुन रही हैं। वल्लभा बोलीं,

—अरे शांती ! तुम ?

—हाँ बुआ !...यदि यह बात थी तो तुमने सब को बताया क्यों नहीं कि इसने बीड़ी पी ?

—पगली ! घर की बात बाहर वालों को बतानी चाहिए ? दुसरों को हमारे मामलों में पंचायत करने की क्या जरूरत ?—बोल, अब तो नहीं पिएगा न ?

केवल मैं सिर हिला सका।

कुछ व्यक्ति यात्री होते हैं तो कुछ यात्रा। कुछ व्यक्ति संन्यासी होते है तो कुछ मूर्त्त संन्यास। कुछ व्यक्ति गंगा होते हैं तो कुछ अन्धे कुँए। पुराणी-बा यात्री भी थे; यात्रा भी थे; संन्यासी भी थे, मूर्त संन्यास भी थे; गंगा भी थे लेकिन अन्धे कुँए न थे। वे इतने बड़े तपस्वी थे कि तप हो गये थे।

बाँध के उस पार गरासे-घाट के सामने जामुनों का जहाँ झुण्ड है उसमें एक विशाल वटवृक्ष है। उस वट के पास ही एक मंजिला एकान्त मकान है, वहीं पुराणी-बा का आवास है। आज जब मैं यह श्रुति सुना रहा हूँ इस समय तो यह मकान नदी की बाढ़ में ढह गया है, कोई साक्षी नहीं छूट पायी है।

मैं अपने बा की अँगुली पकड़ कर पुरानी बा के घर जा रहा हूँ। मेरे बा और वे साढ़ू-भाई होते हैं साथ ही मित्र भी। प्रायः बा उनके यहाँ जाते हैं। कभी-कभी मुझे भी ले जाते हैं। पुराणी-बा के मकान के चारों ओर काफी झाड़-झंखाड़ फैला हुआ है। पीली-पीली निमौलियाँ, वीरबहूटियाँ, जंगली लाल चींटे तथा लाल बर्रे चारों ओर फैली घूमती रहती हैं। पुराणी-बा की दालान और खम्भों पर गिलहरियाँ स्वच्छन्द भाव से बेल का गूदा खाया करती हैं। उनके मकान के

लिए उस जंगल में घुसते ही बरगद और इमलियों की घनी-मोटी छायाएँ धरती बुहारती स्वागत करती मिलती हैं। विशेषत: वर्षाकाल में तोतों के झुण्ड के झुण्ड या कभी पपीहे बोलते हुए मँडराया करते। बरगद अपनी विनम्र प्रशाखाओं को धरती में टिकाये खड़ा ऐसा ही लगता जैसे पालकी वाला कहार हो। जंगली पुँआड़े की घास पर कागजी पीली तितलियाँ निःशब्द उड़ते हुए हवा में रंग छीटती लगतीं। नदी पर से आती हुई हवा के कारण बैसाख-जेठ में भी सुहावना लगता। यहाँ आने का लोभ सिर्फ एक कारण से मुझे रहा है और वह यह कि जब वा और पुराणी-वा बातें करते होते तब मैं इस जंगल में मोरपंख खोजा करता हूँ। इन्द्र-धनुषी नेत्रों वाले मोरपंखों को काट-काट कर मैंने अपनी किताबों में, बक्से में ढेर से सहेज रखा है।

पुराणी-बा की दालान एक प्रकार से सदा वीरान ही रहती है। तेज वर्षा में भले ही आँधी-पानी से बचने के लिए कोई ग्वाला या देहाती या कभी-कभी कोई गाय वहाँ रुक जाए अन्यथा टिन की छत वाली वह दालान का प्रयोजन मैं नही समझ पाया, कारण कि उनका वास्तविक मकान तो उसके बाद शुरू होता है। एक बड़ा सा कलदार फाटक जो कि सहन में खुलता है। चारों ओर का यह सहन एक पक्की चौखंडी को घेरे हुए है। चौखंडी में बीचोबीच श्यामा-तुलसी का एक खड़ा, ऊँचा सा चौरा है, जो एक प्रकार से दीपाधार भी है। नवदुर्गा एवं श्राद्धपक्ष के दीपों से यह लकदक करता है। वैसे नित्य एक दीपक श्यामा के आगे संझा को रखा जाता है। सहन के एक ओर एक बड़ा सा कमरा है। ठीक इसके सामने रान्नीघर है। सहन में एक तार पर दिन भर पुराणी-बा के कपड़े आदि सूखते रहते हैं। सहन के एक कोने में पीछे बाहर जाने के लिए एक दरवाजा है। उधर ही गाय-भैंस के लिए छप्पर छाया हुआ है। मैंने कभी कोई गोरू उनके यहाँ नही देखा लेकिन बा कहते हैं कि उनकी एक 'कृष्णा' गाय थी जिसे साँप ने काट खाया तब से पुराणी-बा ने गोरू रखना ही छोड़ दिया। उस दरवाजे से ही वे नित्य, बारोंमास नदी-स्नान करने जाते हैं। जिन दिनों मैंने उनके यहाँ जाना-आना शुरू

किया था उन दिनों वह नदी पर एक घाट तथा शिवाला बनवा रहे थे। लोगों ने घाट के बनने के पूर्व से ही उसे 'पुराणी-घाट' कहना शुरू कर दिया था। सहन में जहाँ कमरा है उसके ठीक ऊपर एक बड़ा सा कमरा है, जिसके लिए गोबर लिपा कच्चा सा जीना है। ऊपर वाले कमरे से नदी, किनारा, परली-पार, तथा दूर तक का विस्तार दिखलायी पड़ता है। कमरे की पश्चिम दिशा वाली खिड़की से खूब हवा तथा सूर्यास्त रहता है। नदी ओर की खिड़की के पास पुराणी-बा की छोटी सी मसनद, गाव-तकिया तथा एक चौकी पर ढेरों जंत्री-पंचांग, पुराण-उपनिषद आदि संस्कृत के ग्रन्थ रखे रहते थे। एक खूँटी पर उनकी गोल, लाल पगड़ी, झूलता अँगरखा तथा हवा में लहराता सारंगपुरी जरी का दुपट्टा टँगा रहता। उनकी मसनद पर चटाई का बिना हुआ पनडब्बा रहता तथा पास ही सरौता, चूना आदि पड़ा रहता। कमरे के कच्चे फर्श पर चटाई। चटाई पर लाल जाजम बिछी रहती। दो आल्मारियाँ भी थीं जिनमें लाल-पीले कपड़ों में शास्त्र संबंधी हस्तलिखित पोथियाँ रखी थीं। यह पुराणी-बा का न केवल अध्ययन था वरन दोपहर का विश्राम आदि सब यही होता था। नीचे वाला कमरा अलबत्ता उनका पूजा-घर था। वे कट्टर शैव थे तथा पार्थिव पूजते थे। ब्राह्ममुहूर्त में स्नान आदि से निवृत्त होकर वह पूजन करने बैठ जाते थे और दस-ग्यारह तक--उनकी सांगोपांग सन्ध्या होती थी। इस बीच उनके घर की अभिभाविका, उनके छोटे भाई की विधवा बहू, खाना तैयार कर लेतीं और पुराणी-बा पूजन से उठ कर तुरंत भोजन कर लेते। उपरान्त वह अपने इस कमरे से या तो घाट की निगरानी देखने जाने के लिए ही निकलते या फिर देर रात तक पढ़ने के बाद नीचे सोने के लिए ही आते। वह बारहों मास सहन ही में सोते हैं।

पुराणी-बा वैसे अत्यन्त विनम्र, शिष्ट, मृदुभाषी थे लेकिन वह किसी के यहाँ कभी नहीं जाते थे। फलित ज्योतिष में उनका नाम आसपास के राजा-महाराजाओं तक पहुँच चुका था। आये दिन राजाओं के बुलावे आते रहते लेकिन वह अपनी मसनद छोड़ कर कहीं नहीं गये। उनके एकमात्र मित्र हमारे बा थे जिनके साथ वह शतरंज खेलते थे। शतरंज के दोनों ही शौकीन थे इसलिए बाजी बिछते ही दोनों तन्मय हो जाते। और तब मैं नीचे या तो पीछे के दरवाजे से नदी की ओर निकल जाता, जहाँ चम्पे के पेड़ थे। चम्पे के पेड़ मुझे सदा प्रिय रहे हैं क्योंकि इसकी शाखा-प्रशाखाएँ एक तो बहुत होती हैं, दूसरे काफी नीची होती हैं। पेड़ पर न चढ़ सकने की अपनी हीन-भावना को मैं चम्पे पर चढ़ कर दूर कर लिया करता हूँ।

चम्पे पर चढ़ा हूँ ।

हाथ का मोरपंख हवा में झूल-झूल पड़ रहा है । हवा, पंख के एक-एक रेशे को छूते हुए बह रही होती है । वे काँप-काँप उठते हैं । उनके नील-हरे पन में कैसी छोटी-छोटी कम्पन उठती है । मैं उस काँपते मोरपंख को अपने गाल से सटा लेता हूँ । दूर सूर्यास्त हो रहा होता है । पेड़ों की छायाएँ और धूप उस वनान्त में कालीन बने होते हैं । मुझे लगता है बेचारे सूर्य के पास कोई मोरपंख नहीं है और मैं उसे अपने पास का यह मोरपंख दे देना चाहता हूँ । लेकिन दीदी और वल्लभा दोनों ही कहती हैं कि इन्द्रधनुष, सूर्य का मोरपंख है जिससे वह बादलों को पंखा झलता है और बादलों का पसीना सूख कर धरती पर गिरता है--वही वर्षा है ।--

मैं उलझ जाता हूँ । बात मेरी समझ में नहीं आती जब कि मैं इस समय देख रहा हूँ कि पेड़ों के पीछे हो रहे निरीह सूर्यास्त के पास कोई मोरपंख नहीं है । कहीं उसकी धूप इस वनान्त में मोरपंख खोजने ही तो रोज नहीं आती ? बेचारी कहाँ खोजेगी ? रोज तो मोर नाचता नहीं, तब भला मोरपंख कैसे मिले ? लेकिन यह धूप मुझसे माँगे कि सूर्य को चाहिए--मैं जरूर दे सकता हूँ । मैंने गम्पू को नहीं दिया, नन्दन को नहीं दिया । मैं वल्लभा को जरूर देना चाहता हूँ ताकि वह मेरे लिए कृष्ण जी वाला मुकुट बना दें और अपने लिए राधा वाला बना लें । बस, तब वल्लभा से कहूँगा कि चलो, नदी के तट पर चम्पा का एक पेड़ है । मैं उस पर चढ़कर कृष्ण बनूंगा और तुम मेरी राधा !!

और तभी पुराणी-बा और बा दोनों घाट के निरीक्षण के लिए आते दिखे ।

गत आठ दिन से वल्लभा बीमार हैं ।

इसलिए वैसे मैं या तो स्कूल नही गया हूँ या फिर भाग आया हूँ । वल्लभा से भी झूठ बोला हूँ कि छुट्टी लेकर आया हूँ । वल्लभा को बराबर अपरस में नहाने के लिए तीन बजे रात में उठना पड़ता है। उसके बाद वह पूरा भोग बनाती हैं। सूर्योदय के पूर्व ही फिर नहाकर 'मंगलारती' की तैयारी करने लगती हैं। और 'राजभोग' समाप्त होते तक दो वज ही जाता है । अपरस से बाहर निकलती हैं कि मैं पहुँच जाता हूँ । अभी वह बाल झार तैयार हो बैठी होती हैं कि मन्दिर का कोई न कोई काम निकल ही आता है और फिर तो 'शयानारती' के बाद खाना-पीना करके दस बजे के पूर्व साँस तक लेने की छुट्टी नहीं मिलती है । भला इस तरह कैसी ही देह कब तक सहन कर सकती है ? माना कि उनका परिवार नहीं है, बाल-बच्चे नहीं हैं, घर-गृहस्थी जैसी कोई झंझट नहीं है फिर भी ठाकुरजी की सेवा, भगवान की ऐसी गृहस्थी है कि करवे से हाथ धोते हुए यदि छींटे पड़ गये तो फिर नहाओ । जाड़ा हो या बरसात गीले अबूट्ये में ही, सीलन भरे फर्श पर दिन में हजार बार कुहनी से करवा पकड़े हाथ धोते रहना पड़ता है ।

स्कूल से जल्दी आया हूँ। बस्ता वहीं जमीन पर फेंक कर वल्लभा के पास जबरन उनके पलँग पर जगह बनाते हुए बैठ गया हूँ। वे मेरे इस अप्रत्याशित व्यवहार को किंचित मुसकराते हुए देख रही हैं। पतली सी अलवान में वह लिपटी लेटी पड़ी हैं। उनका सूना मुख, गले की वैष्णवी कंठी, उदास कान, अपराह्न से ओठ सब अजीब एकादशीवत लग रहे हैं। केवल मुझे देखते हुए स्वल्प मुसकराती आँखें प्रदोष लग रही हैं।

—क्यों रे, क्या बात है ?

—कुछ तो नहीं।

—कुछ तो जरूर ही होगा।

—क्यों ?

—आज बस्ता पलँग की रेलिंग पर रोज की तरह नहीं टाँगा ?

—बस्ता कहीं पलंग की रेलिंग पर टाँगा जाता है ?

—तो बस्ता क्या नीचे फेंका जाता है ?

—तुम किसलिए हो ?

—क्या मैं तुम्हारा बस्ता टाँगने के लिए हूँ ?

—और नहीं तो क्या ?

—क्या बड़ों से ऐसा कहते हैं ?

—कैसा ?

—अच्छा, रहने दे। आज फिर तू जल्दी चला आया।

—मन नहीं लगा।

—अच्छा तो तेरे अब मन भी हो गया ?

—क्यों ? क्या मेरे मन नहीं हैं ?

—अच्छा बाबा! तेरे से बहस नहीं करूँगी, बस। जा तो, मधुसूदन से कह कर नाश्ता मँगा ले।

—मैं नाश्ता नहीं करूँगा।

—क्यों ? क्या आज स्कूल में मिठाई बँटी थी ?

—नहीं। मैं नाश्ता तभी करूँगा जब तुम मेरी बात मानोगी।

—कौन सी बात ?

—मैं जैसा कहता हूँ वैसा ही करोगी।

—और अगर न मानूँ तो ?

—मैं नाश्ता नहीं करूँगा।

—तो तुम हड़ताल करोगे ?

—हड़ताल क्या ?

—मैं तो भूल ही गयी कि तेरे सामने कोई नया शब्द, नयी बात कही नहीं कि सिर खा जाता है । —अच्छा, बता क्या बात है ?

—पहले आँखें बन्द करो ।

—क्यों ?

—फिर क्यों ?

—अच्छा ले ।

और वल्लभा ने अपनी आँखें दोनों हथेलियों से मूँद ली ।

—ऐसे नहीं ।

—फिर कैसे ?

—हथेलियों से नहीं । सिर्फ आँखें मूँदो । और ठाकुरजी की शपथ है जो देखो ।

—अरे बाबा, एकदम ठाकुरजी की शपथ भी कोई खाता है ?

—क्यों नहीं खाता कोई ?

—तू तो दिमाग ही चाट जाता है । अच्छा ले ।

—खूब कस कर बन्द करना, समझी ?

वे आँखें बन्द कर लेती हैं । और मैं पलँग से उठ कर बस्ते में से मोरपंख का एक मुकुट निकालता हूँ और उनके सिर पर रख कर जोर-जोर से तालियाँ बजा कर प्रसन्न होते हुए चीखने लगता हूँ,

—माँ हमारी राधा !! माँ हमारी राधा !!

और वह घबराकर आँखें खोल कर सिर पर हाथ ले जाकर देखती हैं कि मैंने क्या शैतानी की है ।

—हें, हें, हमारा मोरपंख का मुकुट टूट जाएगा । जरा शीशे में देखो । कैसी अच्छी राधा लग रही हो ।

—यह क्या पागलपन लगा रखा है ?

और इस बीच मैं अपना मुकुट पहन त्रिभंगिमा बना बंसी बजाते दोनों हाथ बनाये खड़ा हो जाता हूँ ।

—मैं कृष्णजी हूँ और तुम राधा !!!

—उदयन ?

और मैं नहीं समझ पा रहा हूँ कि ऐसा क्या कह दिया गया है कि वल्लभा की आँखें छलछला आयी हैं । मैं घबरा जाता हूँ। अपराध-भाव मुझे घेर लेता है ।

क्या मुझे वल्लभा को मुकुट नहीं पहनाना चाहिए था ?

—क्या हुआ माँ ?

—कुछ नहीं रे ।

और उन्होंने उन्हीं नेत्रों से, बाहें फैला दीं । मैं उनके सीने में मुँह छुपाये अपने अन्दर रोती हुई वल्लभा तक पहुँच जाना चाहता हूँ । उनके हाथ मेरा मुकुट सहलाते होते हैं । सफेद साड़ी तथा सादी चोली में बँधी उनकी गोरी देह मेरी आँखों तथा नाक से मुझ में , कहीं बहुत भीतर तक प्रविष्ट हो रही थी । मैं उस गोरी धरती में आकुल बीज हूँ जो धरती में प्रवेश पाने के लिए अपने समस्त स्वत्व एवं इन्द्रियगत समर्पण के साथ आँख मीचे पड़ा हो इस आशा में कि यह धरित्री माँ किसी दिन अपना वक्षस्थल खोल दे और उसकी यह सन्तान माँ-मय हो जाए ।

—उदयनरे !

—हूँ ।

—तू मुझे कभी छोड़ कर तो नहीं जाएगा न ?

—नहीं ।

—देख, प्रतिज्ञा करता है ?

—हाँ, करता हूँ ।

—प्रतिज्ञा का अर्थ भी समझता है ?

—नहीं ।

वल्लभा हँसते हुए हथेलियों में मेरा मुँह गहे रहती है और मुझे देखते हुए कहती हैं,

—इसका मतलब यह है कि जब तेरी बहू आ जाएगी तब भी मेरे ही पास रहेगा।

—मैं बहू लाऊँगा ही नहीं ।

—क्यों ?

—मैं बा-माँ से कह दूंगा कि तुम मेरी बहू हो, बस ।

—मैं तेरी बहू हूँ ?

—माँ और दीदी तो पहले से ही हैं । लेकिन अब मैं तुम्हारे अलावा किसी दूसरे को नहीं लाऊँगा । अगर बहू तुम नहीं हो तो मुझे बहू नहीं चाहिए । और मुझे तो माँ चाहिए थी, वह तुम हो ।

—लेकिन एक दिन मैं ही तेरे लिए बहू लाऊँगी—तब ?

—तब उसे तुम ही रखना । लाओगी तुम और रखूंगा मैं ?

जलघड़िया मधुसूदन इस बीच नाश्ता ले आया था।
—अच्छा अब मूर्खता छोड़ो और कुछ खा लो।
—नहीं, मैं नहीं खाऊँगा। तुम खिलाओगी।
—तुम देखते नहीं कि मेरी तबियत ठीक नहीं है ?
—हाँ, यह मैं मान लेता हूँ। लेकिन तुम मेरी ओर ही मुँह किये रहना।
—अच्छा बाबा, ले।
और वह मेरी ओर करवट ले कर लेट गयीं। यह माँ के आने का समय है। जब से वल्लभा बीमार हुई हैं माँ दोनों समय आ जातीं हैं और वल्लभा के लिए पथ्य आदि बना जाती हैं। कपड़े बदलवा जाती हैं। उसके बाद मैं भी माँ के साथ ही घर लौट जाता हूँ। माँ को चूँकि वल्लभा की देख-भाल करने दोनों जून आना पड़ता है इसलिए मंदिर से ही खाना चला जाता है। दोपहर में माँ घर चली जाती हैं।
नाश्ते के बाद वह मुझ से थर्मामीटर मँगाती हैं। मैं नहीं जानता कि थर्मामीटर कैसे देखा जाता है लेकिन वल्लभा जैसे ही उसे मुँह से बाहर निकालती हैं मैं झपट कर ले लेता हूँ।
—यों नहीं उद्दू ! टूट जाएगा।
मैं वल्लभा की बात पर कोई ध्यान नहीं देता हूँ। शीशे और दूध रंग की एक लंबी सी नली मेरे हाथों में होती है। मैं नहीं जानता कि इसमें क्या देखा जाता है लेकिन ध्यान से देखने लगता हूँ क्योंकि ऐसे ही तो पिताजी इसमें देखते हैं।
—अरे, अब दे मुझे।
—जरा ठहरो। बस अब इसमें बुखार दिखने ही वाला है।
—तेरा सिर दिखने वाला है।
—तुम्हें तो बहुत ज्यादा बुखार है।
—कितना ?
वल्लभा हँसते हुए पूछती हैं।
—भोत-ई ज्यादा।
—अच्छा अब हो गया, ला मुझे दे।
और मैं यह अपने में ही स्वीकार लेता हूँ कि थर्मामीटर देखना नहीं आता। वल्लभा उसे देख कर बन्द करना चाहती हैं।
—नही, मुझे भी दिखाओ बुखार कहाँ है ?
—इसमें बुखार नहीं, बुखार की गर्मी नापी जाती है।

—कैसे ?

और वह मुझे थर्मामीटर देखना सिखाती हैं। पारे की चमकती लकीर मेरी आँखों में खिंच आती है । कैसी चमकती है न ?

—तुम्हें बुखार क्यों है ?

—इसलिए कि है ।

—लेकिन क्यों ?

—अरे बाबा, रोज सवेरे जाड़े-पाले में नहाती हूँ न, इसलिए ।

—तो मत नहाओ ।

—तो भोग कौन बनाएगा ? ठाकुरजी की सेवा कौन करेगा ?

—मुखियाजी से कह दो कि तुम नही बनाओगी । बस ।

—ऐसा कोई कहता है ?

—लेकिन मैं तुम्हें बीमार नही देख सकता ।

—अच्छा ??

—हाँ, और क्या !

—तू तो बिल्कुल बड़ों की सी बातें कर रहा है ।

—मुझे तुम छोटा समझ कर ही मेरी बात नही मानती हो, है न ?

—नहीं तो । तेरी ही तो बातें मानती हूँ ।

—नहीं, नहीं मानती हो । . . मैं नहीं जानता बड़ा कैसे हुआ जाता है ।

—इधर आ, मैं तेरे कान पकड़ कर अभी बड़ा बना देती हूँ । बड़ा बनने का बहुत शौक है न तुझे ?

मैं वल्लभा के सिरहाने पलँग की रेलिंग थामे साँझ के लँलोये आकाश को देख रहा था । वल्लभा ने मेरा हाथ पकड़ मुझे अपने पास बिठा लिया । साँझ का लँलोयापन क्रमशः कमरे, वस्तुओं और वल्लभा को रँगे हुए था ।

—उदू रे ! तू मुझे प्यार करता है ?

—प्यार नहीं, तुम्हारी चिन्ता करता हूँ ।

—चिन्ता ? कैसी चिन्ता ?

—यही कि तुम्हें बीमार नहीं होना चाहिए ।

—मैं बीमार हूँ तो तुझे क्या ?

—तुम बीमार हो. . तो . : मेरा पढ़ने में मन नहीं लगता. . .नींद में भी तुम पलँग पर लेटी हुई बीमार दिखती हो ।

—तुझे खूब ध्यान से पढ़ना चाहिए, खूब अच्छी नींद से सोना चाहिए. . .

—और तुम्हें बीमार रहना चाहिए है न ?
तभी दरवाजे के पार पैरों की आहट सुनायी दी । आते ही माँ बोलीं,
—जरूर यह शैतान तेरा सिर खा रहा होगा वल्लभा ! है न ?
—खाली सिर ?
और माँ तथा वल्लभा दोनों हँसने लगीं ।
—क्या कह रहा था !
—मैं क्यों बीमार रहती हूँ ?
—यही पूछ-पूछ कर तो मेरे भी कान खा गया ।
और माँ ने तेल की शीशी उठा कर वल्लभा के बिस्तरे पर बैठते हुए कहा ।
—अच्छा ? तो किसी का सिर, किसी के कान खाता रहता है क्यों उदू ? मुझे इन फिजूल बातों में कोई रस नही आ रहा था । मैं खिड़की के पास खड़ा पीपल देख रहा था । जाड़ों का आरंभ था ! लाल-नील शालों और अलवानों में स्त्री-पुरुष आ-जा रहे थे । कमरे में किंचित अँधेरा हो चला था । माँ ने मुझे लैम्प जला देने के लिए कहा । वह वल्लभा के सिर में तेल ठोक रही थीं। वल्लभा के गोरे-सूने मुख के दोनों ओर काले बाल झरे पड़ रहे थे। वह आँखें बन्द किये हुए जाने कहाँ हों, सी लग रहीं थीं । लैम्प के प्रकाश से जैसे विश्वास आ गया हो कि नहीं सब यहीं हैं । माँ और वल्लभा ने दीपक को प्रणाम किया, उपरान्त गले की कंठी छू कुछ बुदबुदाया और दोनों हथेलियों पर मुँह फेर श्रीनाथ जी के चित्र के दर्शन करने लगीं ।
—माँ ! तुम लोग दीपक को क्यों प्रणाम करती हो ? क्या यह भगवान है ?
—हाँ, अग्नि भगवान तो है ही ।
—अग्नि भगवान है ?
वल्लभा की बात पर मैंने प्रश्न किया । वल्लभा ही बोलीं,
—अग्नि हमें अंधकार से बचाते हैं, गर्मी देते हैं, भोजन बनाते हैं ।
—अग्नि भोजन बनाते हैं ?
और मैं वल्लभा की मूर्खता पर बिना हँसे न रह सका । फिर बोला,
—तो फिर तुम लोग क्यों बनाते हो । आग को ही सौंप दिया करो ।
—कोई ऐसी अपमानजनक बात कहता है ?
वल्लभा की बात अभी संभवतः पूरी भी न हुई थी कि माँ बोलीं,
—पता नहीं ऐसी बातें इसके माथे में कौन भर जाता है।—चलो उठो वल्लभा ! हाथ मुँह धुलवा दूं । जा तो उदू ! नीचे भीतरियाजी से पूछ आ कि दलिया

पक गयी ?

मैं जानता हूँ कि रोज इसी तरह जब मैं नीचे जाता हूँ तब वल्लभा के हाथ-मुँह धुलाये जाते हैं और कई बार वह कपड़े पहन रही होती हैं तो मुझे बाहर ही खड़ा रहना पड़ता है ।

जब मैं लौटा तो दरवाजा रोज की तरह ही हल्के उढ़का हुआ था । मैं बाहर खड़े रहने के लिए बाध्य था । खड़ा रहा । जब काफी देर हो गयी तो वैसे ही खड़े-खड़े पूछा,

——माँ ! आ जाऊँ ?

——आजा । बड़ी देर लगा दी तू ने ।

वल्लभा रेलिंग के सहारे बदले वस्त्रों में तकिये के सहारे बड़ी थकी सी अर्द्ध लेटी थीं । माँ गन्दी चादर को तहा रही थीं ।

——देर ? मैं तो बड़ी देर से बाहर खड़ा था ।

——क्यों ? बाहर क्यों खड़ा था ? यहाँ कोई तेरा घूँघट निकालने वाला बैठा है ?

——नहीं, मैंने समझा. . .

——बुआजी ! यह उदु अब बड़ा हो गया है ।

वल्लभा की बात पर माँ ने कमरे से जाते हुए कहा,

——तभी मुझसे पूछता रहता है कि वल्लभा-बुआ ज्यादा गोरी हैं या नन्दन वाली काकीमाँ ?

और वह कमरे से हँसते हुए नीचे से दलिया-पथ्य लाने चली गयीं। माँ के हठात इस प्रकार चले जाने से कमरे में बड़ी बेचारगी सी प्रमुख हो उठी । अकेली लैम्प, उसकी शीलवान रोशनी, न बोलने वाली वस्तुएँ, सजीव का भ्रम उत्पन्न करने वाला दर्पण, बिस्तरे पर गोरी बालू वाली नदी की तरह लेटी हुई वल्लभा और नितान्त रिताया हुआ मैं——सब सूत्रहीन मनके लग रहे थे । ऐसे असूत्र खालीपन में पैर बढ़ाना तो दूर, हिलाना तक कठिन हो जाता है । विशेषतः तब और भी जब आपकी कोई गोपनीयता जग-जाहिर कर दी जाए । उस समय यही सब सोचा था कि नहीं, कह सकना कठिन है । और आज भी यह बात इतने स्पष्ट एवं सटीक रूप से इसलिए कह पा रहा हूँ क्योंकि वह पल, अपने सारे सन्दर्भों के मेरी स्मृति में अभी तक सुरक्षित है । मैं आज भी देखता हूँ

कि वल्लभा मात्र लेटी हुई ही नहीं हैं बल्कि गरम अलवान उनकी साँस के साथ हिल रही है। मैं नहीं जानता कि इस प्रकार मैं, सदा के लिए उत्कीर्णित हो गयी इस स्मृति को कब तक सहेजे रहूँगा।

मुझे ऐसे शब्दहीन निःशब्दता में बँधे-खड़े देख वल्लभा ने पूछा,

—उदयन ! मैं किसी से कम गोरी या सुन्दर हूँ इससे तुझे क्या ?

वल्लभा का प्रश्न मुझे वैसे ही निःस्वत्व कर देना चाह रहा था कि संभव होता तो मैं अपनी देह को बासी कपड़े की तरह अपने पैरों के पास धीरे से मौन गिरा देता और मैं तब उदयन न रह सकने की प्रसन्नता में होता। लेकिन ऐसा सब कैसे संभव हुआ किसी से भी ?

—बोल न ? क्या मैं गोरी हूँ, सुन्दर हूँ इसीलिए तू मुझे माँ कहता है ?

—मैं एक कोंपल की भाँति शीत हवा का पहला झोंका सहन कर रहा हूँ।

—मान ले कल से मैं सुन्दर न रहूँ तो क्या तू मुझे माँ न कहेगा ?

मैं जानता हूँ कि मेरी ही तरह अत्यन्त ध्यानमग्न हो, निष्कम्प बना दीपक भी सुन रहा है, लेकिन दीपक की स्थिति मुझसे कहीं अच्छी थी कि बातें उसे सम्बोधित नहीं की जा रही थीं। मैं जान रहा हूँ कि मैं किसी ओर नहीं देख रहा हूँ लेकिन वल्लभा के बारे में यही बोध हो रहा था कि वह पीठ फेरे बोल रही हैं।

—मैंने तुम्हें सुदर पाया है और तुम सुन्दर ही रहोगी।

—लेकिन क्यों ?

तभी माँ दलिया और पथ्य लिये आयीं। थमा हुआ वह क्षण जैसे फिर चल निकला हो।

बा ने अन्तिम बार जमींदारी खरीदी ।

नियमतः पिताजी देर रात से ही लौटते थे । उस रात भी जब उन्होंने धीरे से किवाड़ पर धक्का दिया, बा अपने लिहाफ से बाहर निकले और उन्होंने आज फिर अपने पुत्र को उनके आचरण के लिए रोका । पिताजी नियमतः मौन ही रहे और कपड़े बदलने लगे । रात भर जलने वाली चिमनी इतनी रात में काफी आलोक देती लग रही थी । पिता जी भीतर वाले कमरे में अकेले सोते हैं । कपड़े बदल वह भीतर गये । वहाँ उन्होंने दूसरी चिमनी बाली और बा उठे । मैं अब अनिवार्यतः अलग सुलाया जाने लगा था । मैं अपने लिहाफ को थोड़ा सा ऊँचा किये फाँक बना एक आँख से देख-सुन रहा था । बा को गया देख माँ भी उठीं । वह भीतर को बढ़ीं लेकिन जाने क्या सोचकर उन्होंने मेरे लिहाफ के भीतर झाँका और मैं आँखें मींचे माँ को अपने सोने के प्रति आश्वस्त कर ले गया । और माँ भी भीतर गयीं ।

आज दिन भर घर में बा और माँ में भी तनाव रह चुका था। माँ बिगड़ी हुई थीं किसी बात पर और बा, सारा दोष पिताजी पर डालते रहे थे । इससे अधिक मैं

नहीं समझ सका था। जो प्रभाव मेरे उस कच्चे मन पर तब हुआ था वह यही था कि पिताजी दिन भर या तो कचहरी में रहते हैं या फिर इष्ट-मित्रों के यहाँ भाँग-बूटी छानते हैं और फिर उनके साथ अथवा अकेले ही चीटियों को आटा चुगाते हुए गिरिवर तक निकल गये। कभी इस मन्दिर का जीर्णोद्धार करवा रहे हैं तो कभी उस धर्मशाला की नींव खुदवा रहे हैं। इसके बाद करीब आठ-नौ बजे घर एक बार आते और भोजन कर जो निकले तो रात बारह-एक के पहले कभी नहीं लौटते। भोजन के बाद वह फिर कहाँ जाते हैं, क्या करते हैं आदि जानने के लिए मुझे काफी बरस लगे।

भीतर से गडमड आवाजें आती रही पर वे इतनी स्पष्ट नहीं थीं कि मैं कुछ भी समझ पाता। आवाजें वा और माँ की ही थीं। पिताजी यथावत मौन ही थे। मैं इस बीच ऊब कर कब सो गया पता नहीं, पर यह याद है कि पीठ पीछे से आते चिमनी के आलोक में दीवार और छत की पट्टियाँ गिनता-देखता रहा था। उन पर वह प्रकाश कैसे हौले से बिछा था जैसे कागजी पीली तितली के डैने फूलों पर निःशब्द, भारहीन बिछे होते हैं। रात वैसे भी सारे शब्दों को उनके यथास्थान लौटा कर स्वतः बनी होती है। दिन के साथ अनेक का बोध होता है किन्तु रात में अधिक से अधिक दो का ही बोध होता है--एक तो वह रात्रि स्वयं तथा दूसरे आप। क्षितिज पर्यन्त जब इस प्रकार केवल दो का ही बोध हो तो आप कैसे स्वभावतः बड़े हो उठते हैं न? यह रात का ही गुण होता है कि जागते हुए को वह अपने साथ विराट -शून्य में ले जा कर खड़ा कर देती है कि लो, करो अपने से साक्षात्कार। और हम अपने लिए ही अविश्वसनीय रूप से नितान्त अपरिचित होते हैं।

उन लोगों की बातें सुनते-सुनते, रात, मुझे भी उन दीवारों के पार लेकर निकली थी। कैसे मैं सेरी से होता हुआ अस्पताल वाली दीवार पर हवा में हाथ फैला संतुलन करता मंदिर जी पहुँचा था और जब निःशब्द रेंग कर पीपल की डाल पर से सरकता वल्लभा की खिड़की से झाँका तो वह सोयी हुई थीं। कमरे में खुली खिड़की से तारों का जितना-जैसा भी प्रकाश संभव था, वह था और मैं बिल्कुल धूप की ही भाँति अव्यक्त उनके सिरहाने पहुँच उन्हें देखता रहा। नींद केवल पलकों में ही या आँखों में ही नहीं थी वरन पूरी देह में थी। वल्लभा सम्पूर्ण सो रही थीं। मैं उनकी आँखों में स्वप्न बन कर अवश्य जा सकता था लेकिन उससे नींद का जल कम्पित तो हो जाता न?...मैं लौट आया था। मुर्दाघर की इमली पर कौवे तक सोये थे। और मैं उदासी-मठ के भीतर न जाकर नदी वाले पत्थर के उतराई-मार्ग से होता पुल पर था। वहाँ से गरास्या-घाट और नया बनता हुआ पुराणी-

घाट स्पष्ट दिख रहे थे। नदी पर हवा अलबत्ता-घूम रही थी। पुराणी-बा के चम्पे को इतनी रात में परेशान करना ठीक नहीं था। और मैं लौट पड़ता हूँ कि तभी एक मोर पंख मेरा ध्यान खीचता है। –मोरपंख ? और जब माँ ने मुझे झकझोरा कि क्या बात है ? पानी पी ले। तब मैं सचेत हुआ कि मैं नीद में 'मोरपंख' बड़बड़ाया था।

बा-माँ इस बीच लौट आये थे। और अब चिमनी बढ़ा दी गयी थी। कमरे में अब पूरी तरह रात्रि थी।

बा, माँ और वल्लभा के साथ मैं अपने गाँव आया हुआ हूँ। दीदी अपने ससुर के साथ दिवाली पर ही बम्बई चली गयीं थीं। एक दिन को नन्दन परिवार भी आया था। गन्ने और जुआर के पूँखड़े खाकर लौट गया है। यहाँ की जमींदारी बा के एक भाई देखते-सुनते है। उनकी अपनी कोई सन्तान नहीं है। वह हमारे ही परिवार के सदस्य है। मुझे याद है जब मेरा यज्ञोपवीत हुआ था तो इन्ही देहातवाले बा जिन्हें हम 'रघु-बा' कहते हैं, ने एक उत्सव किया था। रात भर गाँव वालों ने डंडे खेले थे, नाच-गाना हुआ था और नेग मिली थी। इस बार गन्ने की फसल बहुत अच्छी हुई थी इसलिए रघु-बा ने सब को बुलाया था। जाने क्यों यहाँ आते मुझे डर लग रहा था इसलिए मैं वल्लभा को लिवा चलने की जिद किये था। रघु-बा की पत्नी जिन्हें हम 'मनु-माँ' कहते थे, से मुझे बड़ा डर लगता था। एक तो वह देहातियों की तरह रहती थीं, दूसरे सुन्दर नहीं थीं। साथ ही उनके बारे में नन्दन की माँवड़ी अपशकुनी बात किया करती थी कि वह 'डावकन' हैं और बच्चों को खा जाती हैं।

मुझे याद है कि बा दमनी (शिकरम जैसी गाड़ी) हाँक रहे थे। मैं माँ और वल्लभा

के बीच में बैठा हुआ चारों ओर का दृश्य देखता आ रहा था। पांडुखोह की पहाड़ियाँ पीछे छूट गयी थीं। नालों में जल शालीनता वश ही रह गया था। पठारी पथरीला रास्ता और वीरान डूँगरियाँ, पत्थरों के काले-काले ढूह और इन सबके बीच से गुजरता हुआ अकेला पथ; उदास, एकान्त दोपहर को और भी निरीह कर रहा था। काली माटी के खेतों में खड़ी फसल में भेद करना मुझे कभी नहीं आया। बबूल के पेड़ों में भूरे लटके हुए बया के घोंसले, करौंदे की झाड़ियों में दुबके बैठे खरगोश सब मेरे लिए आश्चर्य थे। अपनी गुच्छल चामर हिलाती खजूरें आकाश थामे खड़ी थीं।

—क्यों माँ ! डाक्कन किसे कहते हैं ?

माँ और वल्लभा मेरे इस हठात प्रश्न से चौंक कर एक दूसरे को देखने लगी।

—तुझे डाक्कन से क्या लेना-देना रे ?

—लेकिन डाक्कन क्या होती है ?

वल्लभा ने देखा कि मैं बिना सही उत्तर मिले माँ का पिण्ड नहीं छोड़ूँगा तो वह बोली,

—तुम्हें किसने बताया कि डाक्कन कुछ होती है ?

मैंने देखा कि गाड़ी हाँकते बा भी मेरे प्रश्न पर चौक कर आधे मुड़ मुझे देख रहे थे।

—किसी ने भी बताया हो।

—लेकिन बिना यह जाने तो डाक्कन के बारे में कुछ नही बताया जा सकता।

मैं नही जानता कि क्यों काकीमाँ का नाम मैं नहीं बताना चाह रहा था। लेकिन मुझे गंध आ गयी कि 'डाक्कन' कोई अच्छी बात नही है।

—कुछ लोग कह रहे थे कि मनुमाँ डाक्कन हैं।

माँ और बा भौचक्के देखने लगे। लेकिन वल्लभा शांत थीं, बोली,

—तुम्हें मनुमाँ कैसी लगती हैं ?

—अच्छी नही।

संभवतः इतनी स्पष्टवादिता की आशा किसी को नहीं थी यह मैं सब के चौकने, घबराने से समझ गया।

—अब बताओ डाक्कन क्या होता है !

—जिसके बच्चे नहीं होते लोग उसे चिढ़ाने के लिए डाक्कन कहते हैं।

—तो फिर तुम्हें क्यों नहीं कहते ?

वल्लभा सकपका गयीं।

—मैं विधवा जो हूँ।

—विधवा क्या ?
—जिसका पति न हो वह विधवा होती है।
—तो पति होने से क्या होता है !
—तेरा सिर !! दिमाग चाट जाता है यह तो।
माँ ने झल्ला कर कहा। मैं अवश वल्लभा की ओर देखने लगा।
वल्लभा की आंखों में जैसे आश्वासन था कि मैं तुम्हें फिर बता दूँगी।

गाँव की नदी आ गयी थी जिसके किनारे-किनारे खजूर की कतार चली गयी थी। सामने नदी का उतार था। वा ने बैल हाँकने वाली ओर से दिशा-संकेत करते हुए बताया कि वल्लभा ! वह है गन्ने का खेत। अमराई के पास ही काफी गन्ना खड़ा था। चड़स की आवाज आ रही थी।
जिस समय हम लोग गाँव वाले घर पहुँचे थे, रघुबा खेत पर थे। मनुमाँ ने अपनी सदा की असंपृक्त वृत्ति के साथ स्वागत किया था। सामने ही घर था जो घर से अधिक मिट्टी का किला लगता था। सामने से गोबर लिपी बड़ी सी एक दीवार यहाँ से वहाँ तक चली गयी थी। एक बड़ा सा फाटक था जिसके सामने पत्थरों की एक बड़ी सी ढलवाँ सीढ़ी थी। यह फाटक मैंने कभी खुला नही देखा। दरवाजे से सटे टूटे चक्के ही खड़े देखे हैं। इस के बाद वह छोटा सा दरवाजा था जिससे घर में जाया जाता था। दरवाजा क्या, खुली खिड़की ही कहना चाहिए। गोट वाली छप्पर इस बड़ी सी दीवार पर झुकी हुई। मकान की बाहरी रूप रेखा यही थी। भीतर घुसते ही दोनों ओर सीढ़ियों नुमा चबूतरे थे। बाँयें हाथ वाले चबूतरे की ओर दिन में भी इतना अँधेरा रहता था कि दिखता ही नहीं था। शायद बीज, अनाज, चारा आदि यहीं रखा जाता था। दाँयीं ओर के चबूतरे से घर शुरू होता था। एक बड़ी सी दालान जहाँ पार्टीशन के रूप में चार बड़ी-बड़ी बखारें थीं और उनके बीच में से रास्ता बन गया था। बखारों के उधर रान्नीघर (रसोई) था। बखारों के इधर किसानी के कई औजार, बैलों की गलघंटियाँ आदि रखे रहते। दीवार में एक आल्या था जिसमें जगन्नाथ जी का एक चित्र, जो कि रघुबा तीर्थ-यात्रा पर गये थे तब लाये थे तथा एक निरीह जलाधारी में शिवलिंग। इस आल्ये के पास ही दीवाल में चिपका हुआ एक आइना। जिसके पास ही लकड़ी का दीपा-धार, तैल सा, काला टँगा हुआ। चिमनी की लौ की, दीवाल में बड़ी सी काली अनु-

कृति बनी हुई। ठीक इनके सामने मकान की भीतरी दालान में जाने के लिए एक दरवाजा। भीतरी दालान में रान्नीघर की बगल में एक कोठरी जहाँ हम लोग ठहरते थे। बाकी उस दालान में एक तरफ चक्की। एक खंभे से मथानी की डोरियाँ लटकी हुई। साथ ही दशहरे-दीवाली पर बनायी गयी खड़िया की कोई उदास अल्पना भूरी-भूरी सी फर्श पर बिछी रहती। दालान के सामने लगभग आधा एकड़ जमीन जहाँ भुट्टे उगा लिये जाते। एक तरफ पपीते के पेड़ उपेक्षित खड़े थे। वहीं उस बड़े फाटक के लिए छाजनदार रास्ता था वहाँ एक बेर का पेड़ था। इन दिनों इस खुली जमीन में धनिया फूली हुई थी। चारों ओर एक ऊँचा परकोटा था। एक जगह दीवाल पर कंडे थापे हुए थे।

प्रायः होता कि रात में बड़ी देर तक अलाव जलाकर बा, आसामियों तथा किसानों से घिरे काम-बेकाम की बातें किया करते। माँ अपने पाठ-पूजन में बझी रहतीं। बल्लभा खाना बना-खिलाकर कमरे में आकर खिड़की के पास बिस्तरे पर लेट रहतीं। मनुमाँ ढोरों के लिए सवेरे का दाना-पानी, काम करने वाले मजूरों के लिए दूसरे दिन की आवश्यकताओं में व्यस्त रहतीं। मैं बा के पास बैठा या तो अलाव तापता रहता या जब नींद आने लगती तो उठकर कमरे में आ जाता।

माघ की चाँदनी है।

अभी बा के पास से अलाव तापते हुए लौटा हूँ। दूसरे किसानों के तम्बाकू पीने की गंध यहाँ तक आ रही है। अलाव, उस बीच वाले रास्ते में तापा जाता है जिसके दोनों ओर दालानें हैं। अलाव की लाल लपकती आँच में सामने की वह दालान, जो कि दिन में भी अँधेरी-भुतही रहती, इस समय वैसी ही लँलोही-काली थी जैसी के बहुरूपिया जब 'काली माई' बन कर आता है और कुत्ते की तरह बड़ी सी लाल-लाल जीभ लपलपाता है। रोम-रोम काँप उठता है। मैं डर कर बच्चों को पीछे आँखें बन्द किये धक-धक करते दिल से ऐसा ठण्ढा हो जाता हूँ कि भागना चाहने पर भी पैर नहीं उठ पाते हैं। लाल आँच इस समय सामने की इस खाली दालान में 'काली' बनी नाच रही थी। मैं उसे नहीं देखना चाहता हूँ लेकिन सिवाय उधर

देखने के और कुछ कर भी नहीं सकता हूँ। डर कर, पास बैठे बा की अलवान में अपने को और समेट लेता हूँ लेकिन आँच की 'काली' सामने की दालान में नाच रही है, उसका क्या करूँ ?...अपने को सन्तोष देना चाहता हूँ कि नहीं, कितने सारे तो लोग है---हीरा पटेल है, माधोसिंह नम्बरदार बैठा है, मुंशी हरदयाल पटवारी बैठे हैं। बैल सानी खाते हुए गलघंटियाँ बजा रहें हैं। बा की लंबी नाक आँच में कैसी तप उठी है...लेकिन सामने के अँधेरे में 'काली' नाच रही है...मैं चीख पड़ना चाहता हूँ और बा को बता देना चाहता हूँ कि गन्ने या गुड़, जुआर या कपास की बात करना व्यर्थ है कि वह किस मंडी में बेचा जाए, अरे देखते क्यों नहीं, कि दालान में किस उत्कट रूप से 'काली' नाच रही है...तभी मनुमाँ रान्नीघर में दूध औटाते हुए पतीली पर जोरों से कड़छुल बजाती हैं।....मेरी घिग्घी बँध जाती है। नन्दन वाली काकीमाँ कहती हैं कि मनुमाँ डाक्कन हैं और बच्चों का कलेजा खाकर उन्हें पीपल पर टाँग आती हैं।...चारों ओर घूमता सा लगता है। अब सामने काली नृत्य करना छोड़ कर मनुमाँ नाचने लगी है। वह बड़ा सा लाल-लाल हँस रही हैं। चूल्हे के पास बैठी हुई मनुमाँ दूध औटाते हुए कैसे अंगारों की सी आँखों से मुझे घूरती हैं। मैं दालान छोड़ बगल की दीवाल देखने लगता हूँ तो दीवाल पर भी मनुमाँ दूध औटाते हुए अंगारों की सी आँखों से देखने लगती हैं।...वह मुझे संकेत करती हैं जैसे अंगारा बुला रहा हो। वह कैसे धीमे-धीमे आँच में लकड़ियाँ सरकाती जाती हैं। पूरी दीवार, दालान, छत सब तरफ मनुमाँ की वे जलती आँखें नाचने लगती हैं, बुलाने लगती हैं।...वे मुझे कहीं ले जा रही हैं...अँधेरी गलियों से दूर जो चाँदनी है वह भी मरी हुई, बुझी हुई सी है। उनके हाथ में वही दूध औटाने वाली कड़छुल है जिससे वह संकेत करती जाती है...बड़ा सा खुला निर्जन आता है। अँधेरे में काला झुरमुट, जहाँ वह कड़छुल रख देती हैं जो अब धुंधु-आती लकड़ी बन जाती है।...और मनुमाँ मुझे अपने पास आने का संकेत करती हैं। मैं बाध्य हूँ और जैसे ही उनके पास पहुँचता हूँ वह चीखकर एक अट्टहास देती हैं और मुझे चीर कर जैसे पीने लगती हैं। मैं नहीं जानता कि वह कब तक ऐसा करती है लेकिन जब वह मुझे उठा कर ऊपर उछाल देती है जैसे मैं एक खाली चुक्कड़ हूँ और मैं ऊपर किसी पेड़ की एक फुनगी पर जाकर लटक जाता हूँ। काकीमाँ ने ठीक ही कहा था कि मनुमाँ बच्चों को खाकर उन्हें पीपल पर टाँग देती हैं...यह पीपल की फुनगी है जहाँ मैं इस समय टँगा हुआ हूँ। पास की फुनगी पर किसी पतंग का ढाँचा भी टँगा हुआ है। आकाश चारों ओर फैल आता है। बड़ा विस्तार निकल आता है यहाँ से वहाँ तक। मैं अब यहाँ क्या पतंग के इस ढाँचे की तरह हमेशा

ही टँगा रहूँगा ? क्या मैं मनुमाँ द्वारा खा लिया गया हूँ ? मैं वा को, माँ को, वल्लभा को पुकारना चाहता हूँ कि देखो मैंने कहा था न कि मनुमाँ डाक्कन हैं और मुझे खा जाएँगी ?

और बा मुझे झकझोर कर जगाते हैं। अलाव की आँच में मेरा सिर तप उठा था। वा ने मुझे जगाया तो मैं फटी-फटी आँखों से उन्हें देख कर एकदम रो पड़ा हूँ।

——क्या बात है उदू ?

मैं काठवत फिर उन्हें देखने लगता हूँ। वह मुझे हिलाते हैं। मेरी दृष्टि बँध जाती है। वह मेरा माथा छूते हैं।

——बहुत आँच ताप ली है इसी से इसका बदन गरमा रहा है।

मुझे बहुत जोरों से ठण्ढ लग रही होती है। बेंत की तरह काँप उठता हूँ। उपस्थित सभी माथा छूते हैं।

——लगता है इसे बुखार हो आया है।

घबराती हुई माँ आती हैं और वह मुझे कमरे में ले जाती हैं। वल्लभा मुझे खूब ओढ़ा देती हैं तथा सिर एवं तलवे सहलाने लगती हैं। मेरा पूरा बदन लहरा रहा है। फिर वही पीपल की फुनगी दिखने लगती है। वल्लभा मुझे काँपते देख अपने से सटा लेती हैं। माँ पूछती हैं।

——क्या बहुत जाड़ा लग रहा है रे ?

मैं केवल फटी आँखों से वल्लभा को देखने लगता हूँ। कमरे के अँधेरे में अब मनुमाँ दूध औटाते हुए नहीं दिखती हैं।

——माँ ! कमरा बन्द कर लो।

——क्या बात है बेटा ?

——कुछ नहीं माँ ! बस और कोई कमरे में न आये।

तभी मनुमाँ दूध का कटोरा लिये कमरे में आती दिखीं और मैं चीख कर बेहोश हो जाता हूँ।

तीसरे दिन जाकर वुखार उतरा । पता नहीं कैसे पर वल्लभा समझ ले गयीं कि मुझे डर बैठ गया है । इस समय दुपहरी में बेर के नीचे दरी पर मैं और वल्लभा बैठे हुए हैं । आज सवेरे ओझा आया था और झाड़-फूँक कर गया । दवा-दारू के साथ वा-माँ ने हवनादि भी करवाया । हवा में इस समय पके नीवुओं की गंध आ रही है । माँ, मनुमाँ के साथ बावड़ी पर गयी हैं, जहाँ गन्ने की चरखियाँ हैं । दालान में अभी थोड़ी देर पहले मनुमाँ लाल-हरी मिर्चें सूखने डाल गयी हैं । वह यद्यपि इस समय नहीं हैं किन्तु मिर्चों पर उनका झुर्रियों भरा सँवलाया हाथ घूमता हुआ दिख रहा है । मैं जब उनके मुख का स्मरण करता हूँ तो लगता है जैसे बड़ी दूर, गहरे में दो चुदी-चुंदी सी आँखें हैं जो आपस में ही मंत्रणा कर रही हैं । वे किसी और को नहीं देखती हैं वरन वे परस्पर देखते हुए सन्तुष्ट हैं । वे किसी के द्वारा देख न ली जाएँ इस डर से आँखों के खोखल तथा पलकों में ही अधिक डूबी रहती हैं । लेकिन जब कभी वे देखती हैं लगता है दो लपटें हैं जो आपको भेदकर आप की पीठ की ओर से होती हुई जाने कहाँ चली गयी हैं । वह रोज रात को दूध लाकर देती हैं, मैं उसे किस भय के साथ पीता हूँ नहीं वता सकता । वह

दिन भर बिल्लियों की तरह गुद्दीदार चलते हुए घर भर में घूमती हैं और मुझे डर लगता है कि पता नहीं वह किस क्षण मेरे पास अजाने ही आकर खड़ी हो जाएँ।

बेर की तिरस्करणी छाया हमारे चारों ओर छितरी हुई है। वल्लभा की गोद में सिर रखे मैं आकाश ताक रहा हूँ। अपार आकाश ही आकाश तना हुआ है। विभिन्न ऊँचाइयों में चीलें संतरित है। मेरे सिर की तरफ वल्लभा का सफेद साड़ी में गोरा मुख आकाश छू रहा है। गोरे गले की हरी नसें ठोढ़ी तक दिख कर विलीन हो जाती हैं। वह अभी 'भक्तमाल' पढ़ रही थी जो इस समय उनके घुटनों के पास उल्टी रखी है। सच कहूँ, वल्लभा मेरे लिये अब मोह है।

वल्लभा ने थोड़ी देर की चुप्पी को भंग करते हुए पूछा,

—बता न, उस दिन क्या हुआ था ?

—मैं उस दिन मर गया था।

—अच्छा ?

और जाने कैसी एक हँसी वल्लभा के मुख में रसी-बसी थी कि जो पृथक नहीं थी लेकिन उसे देख पाने के लिए वैसा ही उस मुख का हो जाना पड़ता है जैसा कि वादक, किसी वाद्य का हो जाता है। वाद्य में गीत निहित होता है किन्तु उसी के लिए जो उस गीत को देख पाये, बजा पाये।

—तू जानता है कि मरना क्या होता है ?

—हाँ।

—कैसे मरा जाता है ?

—कैसे क्या, बस आप मर गये तो फिर मर ही जाते हैं।

—तू कैसे मरा था ?

—मुझे मनुमाँ ने मारा था।

—देख उदयन ! तू ये सब फिजूल की बातें मन से निकाल फेंक। तेरी काकीमाँ ने कहा कि मनु माँ डाक्कन हैं और तू मान गया। जानता है डाक्कन क्या होता है ?

—नहीं।

—तो फिर ? तू उन्हें माँ कहता है और कोई माँ अपने बेटे को खा सकती है ?

तू मुझे माँ कहता है क्या मैं तुझे खा सकती हूँ ?

—लेकिन तुम डाक्कन थोड़ी ही हो ?

—तू उन्हें डाक्कन क्यों समझता है ? मुझे क्यों नहीं ? इसलिए न कि वह बूढ़ी हो गयी हैं, सुन्दर नहीं हैं. . .मैं जानती हूँ कि तुझे गोरा रंग पसन्द है, सुन्दर व्यक्ति पसन्द है लेकिन अगर मान ले कल मैं सुन्दर न रहूँ, गोरी न रहूँ तो क्या तू मुझे भी डाक्कन कहेगा ? कोई सुन्दर नहीं तो इसमें उसका क्या दोष है ? भगवान ने जिसको जैसा बनाया। अच्छा है, भगवान कल ही क्या आज ही, अभी मुझे काली-कलूटी कर दे।

मैं हठात रोने लगा हूँ। मैंने उनकी गोदी में सिर छिपा फूट पड़ना चाहा है कि वह क्यों मेरी माँ को काली-कलूटी बना देने के लिए भगवान से प्रार्थना कर रही है। मान लो भगवान ने सचमुच ही कर दिया तो क्या होगा ?

अपने कंधे पर शाल लेते हुए वह फिर बोली,

—रोने से काम नहीं चलेगा उदू ! तुझे सबसे उतना ही प्रेम करना होगा जितना मुझसे करता है। बोल, आज से मनुमाँ का अब डाक्कन तो नही समझेगा न नहीं तो भगवान तेरी इस माँ को भी कुरूप कर देगा।

और वल्लभा ने मेरा मुँह सामने करते हुए विह्वल होकर देखा।

—मैं चाहती हूँ मेरा उदयन एक दिन इत्ता बड़ा आदमी बने कि लोग उसकी जयकार करें। वह सबसे प्रेम करे। वह दिन देखने को मैं तो नहीं रहूँगी पर मुझे परम सन्तोष होगा।

—तुम क्यों नही होगी ?

—तब तक क्या बैठी रहूँगी ?

—मैं तो तुम्हारे साथ ही रहूँगा।

—तू मुझे एक दिन जरूर छोड़कर चला जाएगा।

—मैं तुम्हें छोड़कर भगवान के घर भी नहीं जाऊँगा। और अगर तुम बारंबार ऐसा कहोगी तो मैं अभी चला जाऊँगा।

—कहाँ चला जाएगा ?

और यह कहकर वल्लभा ने कसकर अपनी दोनों आँखें मींच लीं।

—आँखें क्यों बन्द करती हो ?

—मेरी आँखों में मेरा उदू है।

—हिश्ट्, मैं तो यहाँ हूँ।

—अच्छा, बोल, अब तो नहीं मनुमाँ के बारे में ऐसा सोचेगा न ?

—सिर्फ एक शर्त पर।
—क्या शर्त ? हर बात में जैसे मेरी ही गरज है। अच्छा, बता !
—सवेरे जब तुम चक्की चलाती हो तो उस समय मैं तुम्हारी जाँघ पर सिर रख गीत सुनना चाहता हूँ।
वल्लभा फिर एक रागवती वीणा लगने लगीं। बड़ी देर के बाद बोली,
—पता नहीं किस जन्म में तुझे जन्मा था उदू ! या जन्मना है। भगवान जाने।
बेर की तिरस्करणी छाया चबूतरे पर से नीचे उतर गयी थी।
वल्लभा की यह बात वह स्वयं समझीं हो तो नहीं कह सकता लेकिन मैं नहीं।

बड़ी भिनसार की बेला।

वल्लभा चक्की चला रही हैं। मैं उनकी एक जाँघ पर सिर रखे कुछ सो रहा हूँ, कुछ जाग रहा हूँ। दालान में अँधेरा है। बा-माँ आदि सब सोये हुए हैं। रघु-बा और मनुमाँ रान्नीघर के पास बखारियों के पीछे सो रहे हैं। पिछली रात से मावठे का पानी गिर रहा है। सर्दियाँ बढ़ गयी हैं। इस बेला भी मेघ झिरझिरा रहे थे। दीवार के एक खंभे में से सिर ऊपर ही वल्लभा ने एक चिमनी जला रखी है। पिसान वाले गेहूँ की छोटी सी टोकरी में से वह मुट्ठी भरती हैं और चक्की में ओरती जाती हैं। रह-रह कर वह हाथ बदल लेती हैं। चक्की का एकरस घरघर स्वर जैसे अँधेरा पीस रहा हो और थोड़ी ही देर में ढेर सारा आटे की तरह प्रकाश हो जाएगा। लिहाफ में कुनमुनाते हुए जाँघ के तकिये पर सिर रखे मैं झपक जाता हूँ।

नींद में मेरे साथ चक्की का स्वर भी सो जाता है।

वल्लभा ने कोई गीत उगेरा (आरंभा) है। वल्लभा की हिलती देह के साथ ही गीत भी हिलोर लेते हुए उठ रहा है। अभी थोड़ी देर पूर्व किसी घर से इसी तरह चक्की और गाने का स्वर आया था तो मैंने वल्लभा को टोका था कि वह क्यों नहीं

गातीं ? थोड़ी देर पूर्व का वह गीत, आकाश के अँधेरों को चीरती चली आती प्रथम किरण की तरह लग रहा था। जैसे वह गीत मुझे बुला रहा था। क्या कोई वहाँ भी जाँघ पर सिर धरे सुन रहा होगा ? मेरी इस माँ का भी गीत अब खपरैलों को लाँघ ऊपर आकाश में तैरने लगा होगा। हर खपरैल से एक गीत उठता है, चक्की उसका संगत करती है और इन्हें सुनकर ही किरणों को धरती का पता चलता है और वे नीचे उतरती हैं। अन्यथा इतने बड़े व्योम में, वह भी अंधकार आच्छादित निरवलम्ब विस्तार में बेचारी किरणों को क्या पता चल सकता है कि पृथ्वी कहाँ है और उन्हें कहाँ उतरना है ?

वल्लभा की देह चक्की चलाते भँवर लेती है। मै देख रहा हूँ कि वल्लभा की बाँह मेरी आँखों पर से होती हुई चक्की की मूठ तक जाती है। बाँह मथ रही है, लेकिन क्या ? अन्न, स्वरूप ग्रहण कर रहा है। वल्लभा की बाँह, बगल के पास छितर कर पूरी देह में मिल जाती है। चोली कसे स्तनों के पास सिमट आयी है। हल्का फूला पेट धोती में कसा है। वल्लभा रह-रह कर पल्लू सिर पर ले लेती हैं। जब मेरी तरफ का उनका हाथ खाली होता है तब मैं उसे अपने मुँह पर फिराने लगता हूँ। गाते हुए वह हँसती आँखों से मुझे देख लेती हैं। क्रमशः प्रकाश में वल्लभा-मुख स्पष्ट होता जाता है। पहले वह मात्र आकार था। चूँकि मैं जानता हूँ कि वह वल्लभा हैं इसलिए उस आकार को उन्हें माने था लेकिन अब आकार में मुख उजलाने लगा है। दीवार भी वैसी ही अब लगने लगी थी कि अनेक दिनों के किसी कलासे बर्तन को पहली बार माँजने पर जैसा लगता है कि न वह इच्छित मँजा हुआ ही होता हैं और न ही वह पहले की भाँति काला, मैला।

मावठ थम गयी थी। भीतर दालान की तरफ बैलों की उपस्थिति आने लगी थी। मुझे प्रसन्नता थी कि मेरी ही भाँति तन्मय होकर चिमनी भी वल्लभा का गान सुन रही थी। यद्यपि वह बेचारी अब फीकी लगने लगी थी।

किसी भी बात का आरंभ कठिन होता है। आरंभ के पूर्व या उस समय तक सब असाध्य या अविश्वसनीय लगता है कि क्या यह संभव है कि ऐसा हो सकेगा ? ठीक ऐसा ही ब्राह्ममुहूर्त में लगता है कि कभी प्रकाश संभव है ? अँधेरा —कितना प्रशस्त सत्य होता है। उस समय या उसके पूर्व तक अंधकार, अन्तिम सत्य एवं सत्ता की भाँति लगता है। प्रकाश की कल्पना ही हास्यास्पद लगती है। लेकिन अधव्यवसायी प्रकाश एक छोटे बनफूल सा आकाश के किसी एक कोने में फूटता है। उसके बाद वह फूल फैलने लगता है। तब भी किसी को विश्वास नहीं आता कि प्रकाश उपहास नहीं है। लेकिन प्रत्येक क्षण, प्रत्येक शुभारंभ को वैसे ही

गति देता है जैसे कि चाबुक खाये अश्व। और फिर तो बड़ी ही अविश्वसनीय गति एवं तीव्रता के साथ प्रकाश, आलोक सब व्याप्त होने लगता है। अभी थोड़ी देर पूर्व तक वस्तुएँ, दिशाएँ, जो कि अपरिचिता थीं, वे वैविध्य प्राप्त करती हैं। यहाँ से वहाँ तक व्यवस्था आ जाती है। प्रकाश हमें, हमारात्व दे जाता है इसी-लिए पूजनीय होता है। ठीक यही हो रहा था। मावठ के मेघ छितरने लगे थे। आलोक बड़ी तेजी से घर-घर प्रवेश रहा था। उसी तरह चीजें और व्यक्ति भी प्रकाश का स्वागत कर रहे थे जैसे वे बड़े आलोक-बुभूक्षित हों।

चक्की के चारों ओर की गोल पाल में आटा भरा हुआ था। चिमनी उदास बनी हमें वैसी ही देख रही थी जैसे कि शाम को स्कूल की घंटी बज जाने पर बच्चा गुरूजी की ओर छुट्टी के लिए बड़ी ही करुणा से देख रहा हो। वल्लभा ने उठने के लिए जैसे ही अपने को समेटना चाहा कि मैंने उन्हें दोनों बाहुओं में घेर लिया। वल्लभा ने बड़े ही लाड़ से देखा और मुँह चूमते हुए कहा,

—लालची कहीं का।

रोज मुझे एक चट्टान पर बिठा कर वल्लभा नीचे कगारों की आड़ में नहाने चली जाती हैं। सर्दियों में इस खाल जैसी नदी में पानी कम हो जाता है। खास कर नदी इस तरफ अधिक सूखी हुई है। नदी, गाँव की पूरी परिक्रमा लगा कर दक्षिण की तरफ चली जाती है। खिड़की से रोज जिन चट्टानों और नदी-पथ को देखता हूँ इधर सर्दियों में पानी न कुछ रह जाता है। नदी के पेटे में पानी क्रमशः सूख कर डाबरों में भरा रह जाता है और उपरान्त पेटे की काली चट्टानों में नदी के प्रवाह का भूरा-भूरा चिन्ह ही शेष रह जाता है। उन दिनों नदी में गाँव भर का कूड़ा जमा हो जाता है जिसमें गाँव के सूअर दिन भर थूँथें घुसाये घूमते रहते हैं। चट्टानी कगारों पर खड़ी नागफनी सर्दियों की ठण्ढी कथीर हवा में अपने लाल फलों के साथ उदास खड़ी रहती है। गाँव का प्रायद्वीप नागफनी के परकोटे के साथ नदी में कभी उतर जाता है तो कभी चढ़ जाता है। लाल चिंदियाँ, प्याज के छिलके, उपेक्षित सूप ऐसी जाने कितनी मृत चीजों को अपने में लिये नदी, जाड़ों में बड़ी उदास हो जाती है। घर से उत्तर की तरफ नदी में काफी पानी रहता है। वल्लभा रोज वहीं नहाने

जाती हैं। माँ के लिए घर पर ही पानी आ जाता है। बा, गन्ने के लिए चलती मोट से ही नहा लेते हैं। भिनसार तो नहीं होता, धूप निकल ही आती है जब हम नहाने जाते हैं लेकिन माघ की सर्दी बड़ी सूखी-सूखी सी होती है। रास्ते में अधिकांश किसान अपनी दोहरों में लिपटे होते हैं या फिर सस्ती, आसमानी या गुलाबी रंग की हिरावलों में होते।

वल्लभा कपड़ों की निगरानी के लिए बैठाल कर काली चट्टानों पर गोरी, फैली पगथलियों के साथ उतर जाती हैं। मैं प्रायः जिद करता हूँ कि नहाऊँगा लेकिन सर्दी के कारण नहाने नहीं दिया जाता। रोज वह मुझे नहाने के उपरान्त हाथ-मुँह धुला देती हैं। आज जब वह एकवस्त्रा हो नहाने के लिए बढ़ीं कि मैं बोला,

——नहीं, आज मैं भी तुम्हारे साथ नहाऊँगा।

——पागल हुए हो ? देखते नहीं कित्ती ठण्ढ है ?

——तो फिर इत्ती ठण्ढ में तुम क्यों नहाती हो ?

——खाना जो बनाना पड़ता है।

——नहीं, मैं भी नहाऊँगा। मैं रोज-रोज चड़स के पानी से नहीं नहाऊँगा।

वल्लभा ने शायद जिद टालने के ख्याल से कहा,

——अच्छा तो मैं नहा आती हूँ फिर नहा लेना।

——नहीं, मैं तुम्हारे साथ नहाऊँगा।

और नहाने के लिए उद्यत मुझे अपने पास खड़े देख वह विमूढ़ हो आयीं। मैंने कपड़े निकालते हुए कहा,

——तुम चलो, मैं आया।

——देखो, पानी बहुत ठण्ढा है।

मैं तब तक कपड़े निकाल वल्लभा के आगे चलने लगा। तेज ठण्ढी हवा में रोम-रोम फूल आया था। सीने पर दोनों हाथ रख गर्दन हथेलियों से छिपा ली थी।

——अगर तुम जिद करोगे तो फिर मैं अनहायी रह जाऊँगी।

मैं समझ गया था कि वल्लभा मुझे सिर्फ डरा रही हैं। मैं चट्टानों पर फलाँगता नीचे उतर रहा था। धूप, पानी पर प्रसन्न छितरी हुई जल को चमका रही थी। जल स्वच्छ से अधिक हरा लग रहा था। दूरी पर कुछ

और लोग भी नहा रहे थे । मैंने पीछे मुड़कर देखा कि बड़े विवश भाव से चट्टानों पर वल्लभा खड़ी थीं ।

—अब आओ न ?

भोर के आकाश में एकवस्त्र में सिमटी वल्लभा चट्टान पर खड़ी ऐसी लग रही थीं कि किसी भी क्षण या तो यह चट्टान पैरों के नीचे से हट जाएगी और वल्लभा आकाश में तिर उठेंगी या फिर कोई चील अभी झपट्टा मार कर उन्हें शेष आकाश में ले जाएगी । चट्टान पर खड़ी वल्लभा आकाश की अधिक लग रही थीं । नीचे उतरते परास्त भाव से अंतिम अस्त्र फेंकते हुए बोलीं,

—उदू ! अभी तेरी कच्ची देह है नदी के पानी से नहाएगा तो तबियत न खराब हो जाएगी ?

—नहीं, तुम मुझे नहलाओ ।

और कहते हुए बिना सोचे-समझे मैं नदी में कूद पड़ा । जल अधिक नहीं था लेकिन बहुत ठण्ढा था । मुझे हठात ऐसा करते देख वह सिटपिटाकर मेरी ओर लपकीं और मैंने वल्लभा का हाथ थामने को हाथ बढ़ाया कारण कि ठण्ढे पानी के कारण साँस ऊपर की ऊपर रह गयी थी, और मेरे हाथ के झटके से वह भी नदी में छप्प की आवाज के साथ गिरीं। जिस समय जल में मैं गिरा था एक क्षण को देह और संज्ञा सुन्न हो गये थे । पानी सीने से अधिक नही था । वल्लभा के तो कमर तक ही था । चट्टानों के कारण पानी गँदला नही था ।

—इस तरह गिरा दिया । अगर किसी चट्टान की नोक धँस जाती तो ?

और मैंने पानी में नीचे झाँकते हुए देखा कि वह कौन सी नोक हो सकती थी जो वल्लभा के पैरों में चुभ सकती थी । पानी में वल्लभा के दोनों गोरे पैर ऊपर आते से लग रहे थे ।

—मुझे तैरना सिखाओ ना ?

—इत्ते ठण्ढे पानी में ज्यादा न नहाओ । बस मैं थामती हूँ, एकाध डुबकी लगाओ और बाहर निकल कर झटपट कपड़े बदल कर वही बैठो, तो मैं भी नहा लूँ ।

—नहीं, मुझे तैरना सिखाओ और मेरे साथ नहाना पड़ेगा ।

—इत्ता बड़ा हो गया और कुछ भी समझ नहीं ।

—किस बात की ?

—इत्ते बड़े लड़के के सामने कोई नहाता है ?

—क्यों ?

—क्यों क्या, तेरा सिर ।

—लेकिन मैं तो तुम्हारे साथ नहाऊँगा ।

और मैंने वल्लभा को कमर से पकड़ लिया । एक क्षण तो वह विमूढ़ हो आयीं उपरान्त बोलीं,

—क्या पागल हो गया है ? छोड़ मुझे ।

वह मेरे पकड़े रहने के कारण खड़ी नहीं रह पा रही थीं । और अब हम दोनों ओर नदी में बढ़ आये थे । यहाँ चट्टानें नहीं थीं । बल्कि किचिर-किचिर करती बालू ही थी । जल की एक थोक सत्ता होती है और जब वह थोक समरसता हमें सम्पूर्ण रूप से घेरे रहती है तो एक अजीब विस्तार बोध होता है । गले-गले तक जल जब यहाँ से वहाँ तक हिलोलता हुआ बिछा होता है तो हम शेष से अनायास जुड़े हुए लगते हैं। संभवतः जल ही वह है जिसकी छुअन, देह की छुअन सी लगती है । कितने कोमल-चिकने ढंग से स्पर्शता है अंग को । वह अपने प्रकृतिगत दबाव से हमें ठेलता है और हम उससे जुड़े रहना चाहने के कारण उसे बाहुओं से ठेल कर उसी के हो रहना चाहते हैं । कितना मृसण यह प्रतिस्पर्श होता है जो किसी अन्य स्पर्श से उपमित नहीं हो सकता । जल में देह खिंच उठती है । हम स्वतः हो उठते हैं । वस्त्र तक अविभाज्य अंग हो जाते हैं । लेकिन यह समग्रता जल से बाहर होने पर अजीब संकोच देती है । वल्लभा का वस्त्र, जल उनकी देह से लपेटे दे रहा था। वस्त्र, देह हो गया था और वह देह के बोध से पूर्ण भिज्ञ हो रही थीं ।'

मैं उन्हें गले से थामने के लिए पानी पर उछलता हूँ । वह ऐसे थामे जाने पर झुक पड़ती हैं ।

—अरे छोड़, क्या डुबाएगा ?

—तुम तो कहती हो इत्ते से पानी में भी भला कोई डूब सकता है ?

—अच्छा बाबा, नदी में खड़े रहकर तुझसे बहस नहीं करूँगी । ले अब चल, हो चुका नहाना ।

—नहीं मेरे साथ डुबकियाँ लगाओ ।

—अच्छा घर चल, बुआजी से कहकर न डाँट पड़वाऊँ तो मेरा नाम नहीं । मुझे याद है इस बात का मैंने कोई उत्तर नहीं दिया था बल्कि वह आगे कुछ न कहकर डुबकियों में साथ दे रही थीं । घुली आँखें जब अपने को ढँकने के लिए पलकों को खोजती हैं और पलकों को चिपका देखती हैं तो उन्हें बड़ा अनावृत सा लगता है कि जैसे वे अनजाने ही उजागर हुई जा रही हैं, जो कि वे नहीं

चाहती थीं। वल्लभा की धुली आँखें भी बड़ी घबरायी-घबरायी सी पलकें खोजने में लगी थीं। जूड़ा बँधा था। एक-दो लटें भीग कर कपोल पर आ गयी थीं। गीले पल्लू में जूड़ा सहेजे हुआ था। साड़ी का पल्लू डरे बच्चे की तरह सीने से चिपका पड़ रहा था और जिसे वह रह-रह कर हटाने में लगी थीं लेकिन पल्लू था कि छिन भर को भी विलग नहीं रहना चाहता था।

—मैं तुम्हारे बाल जल में तिरते देखना चाहता हूँ।

—अब अगर तुम पानी से नहीं निकले तो मैं तुम्हें खूब मारूंगी यहीं पर।

—लो मारो।

और मैं यह कहते-कहते पानी में उनके दोनों पैरों को पकड़ने के लिए डुबकी लगा नीचे उतरने लगा। बालुओं और चमकती सीपियों में धुले, गीले, गोरे दोनों पैर मौन खड़े थे। सेवार का कोई हरा टुकड़ा भूला-भटका आसपास तिर रहा था। वे दोनों पैर ऐसे मौन हो मुझे देख रहे थे जैसे उन्हें विश्वास था कि कि मैं उन्हें देखने आऊँगा। मैं जिस तेजी से नीचे उतरा था मेरे हाथ उन चरणों पर जाकर ही टिकने थे और हुआ भी वही। मेरे छूते ही उनका पूजा-भाव टूट गया। वे ऐसे चौंके गोया किसी मूर्ति के संगमरमर के जड़े पैर जाने कितनी शताब्दियों से अपने मौन में थे और हठात आज उनका एकान्त भंग हुआ। वे जैसे इसके लिए कभी भी तत्पर न थे। वह एकान्त उन्हें सत्य हो चुका था। किसी अनएकान्त की कभी उन्होंने कल्पना तक न की थी। इसलिए उनके चौंकने में एक अजीब विवश, दैवी-व्यथा थी जिसे जल की साक्षी की भी अपेक्षा नही। . . .वे चौंकते ही चले गये। और हठात वल्लभा डुबकी लगा कर मेरे सामने के जल में बोधित हुई। हम एक-दूसरे को जलों के माध्यम से देख रहे थे। आँखें, जल को हटाकर जैसे सामने वाले को सम्पूर्ण देख सकने के लिए अकुला रही थीं। पता नहीं कैसे, अनजाने भी हो सकता है, वल्लभा का जूड़ा खुलकर तिरने लगा था। मैं पानी की पारदर्शिता में से हाथ बढ़ाता हूँ जैसे उन तिरते बालों को पुकार रहा हूँ। घबराकर सतह पर आता हूँ और ठीक मेरी बगल में ढेर सारे पानी को चीरते हुए भीगा सूर्योदय होता है। गीले बालों वाला वल्लभा का सूर्योदयी-मुख। मैं जाने क्या इस सूर्योदय से कामना करना चाहता हूँ. . .क्या वल्लभा, काकीमाँ की भाँति निर्वसन नहीं हो सकतीं? क्या मैं कभी भी माँ के कत्थई स्तन-चन्द्रमा मुँह में नहीं ले सकूँगा? माँ!!— मैं पुकार उठना चाहता हूँ कि मुझे अपने में समेट लो। मैं माँ से पृथक नहीं रह सकता। वल्लभा ने अपनी दोनों बाँहें फैला दी हैं। तट पर धूप खिल आयी थी।

काली मटकी के औटाये दूध में डली रोटियाँ खा रहा हूँ। पास ही माँ बैठी हुई वल्लभा से बतिया रही हैं। लौटने की बातें चल रही हैं। दीदी वापस लौट आयी हैं इसकी सूचना आज पिताजी ने भिजवायी थी। बड़ा ऊँचा सा देहाती चूल्हा है। ढेर सारी लकड़ियाँ सुलग रही हैं। आँच, चौके के फर्श पर पीली-पीली चमक रही है। और रघुबा खाना खा चुके हैं। मनुमाँ उधर कहीं हैं। आज शाम रघुबा और मनुमाँ में खूब झगड़ा हुआ है। बल्कि रघुबा ने मनुमाँ को मारा भी था। तब से वह बेर के उधर चबूतरे वाली जगह पर बैठी थीं। मैं अभी भी पूरी तरह आश्वस्त नहीं हूँ। अभी तक शाम मेरे दिमाग में बसी हुई है।

आज दोपहर में मनुमाँ घर पर नहीं थीं। जब वह शाम होते लौटी थीं तो कुछ उत्तेजित लग रही थीं। माँ, वल्लभा और मैं तीनों आँगन में बैठे अमरूद खा रहे थे। मनुमाँ आयी थीं और एक बार बड़ी अग्निदृष्टि से उन्होंने मुझे घूरा था और जाकर बेर के नीचे बैठ कर कुछ बड़बड़ाने लगी थीं। माँ ने अपनी इस छोटी भाभी से पूछा भी था कि क्या बात है ? लेकिन जब कोई

उत्तर नहीं मिला तो माँ ने उन्हें छेड़ना ठीक नहीं समझा। उसके बाद मैं और वल्लभा कमरे में थे कि रघुबा बाहर से बड़े उत्तेजित घर लौटे। माँ से उनकी कुछ बातें हुईं और बेर के पास बैठी मनुमाँ से रघुबा की झड़प हुई। मैं उत्सुकतावश बाहर निकल कर देखना चाहता था लेकिन वल्लभा ने मुझे रोक दिया। सहन की दीवार बीच में आ जाने के कारण मैं पूरा नहीं देख पा रहा था लेकिन मनुमाँ का हाथ झटकार-झटकार कर बोलना दिख और सुन पड़ रहा था। रघुबा आड़ में आ गये थे, कि तभी रघुबा का मारता हुआ हाथ दिखा। मनुमाँ का सिर का पल्ला गिर पड़ा। सफेद बाल का नन्हा सा जूड़ा बिखर उठा और अब वह जोरों पर चीखने लगीं। माँ जो कि अभी तक भीतर ही थीं रोना सुन कर उधर ही दौड़ीं।

—रहने दे रघु ! बहू पर हाथ नहीं उठाते।

—तुम बीच में मत पड़ो दीदी ! इस डाक्कन के मारे तो गाँव में रहना हराम हो गया है।

रघुबा की आवाज दबँग थी। वह बहुत अधिक दिखनौटे व्यक्ति थे। काफी प्रौढ़ा गये थे लेकिन ऊँचा डील-डौल, सघन मूँछें तथा गंभीर स्वर का सम्मिलित प्रभाव सामनेवाले पर बहुत अधिक पड़ता था। रघुबा वैसे शान्त प्रकृति के व्यक्ति थे। ठीक इसके विपरीत मनुमाँ थीं। रघुबा के मन में कुटुम्ब के लिए माया थी। अपने एकमात्र पुत्र की मृत्यु का उन पर घोषित कोई प्रभाव नहीं हुआ था जब कि मनुमाँ को देखकर कोई भी कह सकता था कि जैसे अभी कल ही उनके पुत्र की मृत्यु हुई हो। रघुबा के लिए आज भी पूरा संसार कुटुम्ब था जब कि मनुमाँ के लिए सब स्मशान था। मनुमाँ को कोई नहीं सुहाता था लेकिन रघुबा क्या कुटुम्ब, क्या गाँव किसी के लिए भी वह आधीरात में भी वैसे ही तत्पर रहते जैसे वह शिवाला हों। संभवतः इसी कारण बा भी अपने इस चचेरे छोटे भाई को अपने सगे भाई कनु से ज्यादा मानते थे। कनुबा के बारे में हम सब जानते थे कि पास के ही गाँव में वह अपने भरे-पूरे परिवार के साथ, फली-फूली खेती-बाड़ी के साथ रहते है लेकिन उनसे कभी कोई संबंध नहीं देखा-सुना।

मनुमाँ ने जब देखा कि ननँद बीच-बचाव करने के लिए आ ही गयी हैं तो वह अब तो और भी उच्चरित रूप में बड़बड़ाने लगीं। रघुबा कह रहे थे,

—तू उनके यहाँ क्यों गयी ? पटेल ने तेरा क्या बिगाड़ा है ?

—वह पटलन मेरा लड़का खा गयी। मैं उसके पूरे खान्दान को न खा जाऊँ

तो मेरा नाम नहीं। अरे वो छीतर पटेल की बहू है किस घमण्ड में ? छिनालको ऐसा खा जाऊँगी कि घर में रोने और दिया जलाने वाला न रहेगा। और इस बार मनुमाँ ने छाती-माथा पीटना शुरू कर दिया। रघुवा इस बीच बराबर मनुमाँ को 'धीमे बोल देवी !' कहते जा रहे थे और मनुमाँ उतनी ही तेज पड़ती जा रही थीं। रघुबा ने जब मनुमाँ को छाती-माथा पीटते देखा तो वह आपा खो बैठे और उन्होंने उन्हें तीन-चार तमाचे जड़ दिये। अगर माँ न रोकतीं तो पता नहीं रघुबा कितना और मारते। संभवतः रघुबा ने बहुत जोर से मारा था। मनुमाँ एक बार तो पीड़ा से चीखीं लेकिन उसके बाद वह पछाड़ खा कर बेर के चबूतरे पर गिर पड़ीं। माँ ने उन्हें सम्हालते हुए वल्लभा को पुकारा था कि, पानी ला तो वल्लभा !—और मुझे कमरे में अकेला छोड़ वल्लभा परेंडी की ओर लपकी थीं।

मैं भी जाना चाहता था लेकिन वल्लभा ने आरंभ में ही जिस तरह बरजा था उसके बाद साहस नहीं हो रहा था।

साँझ बीत चुकी थी। भीतर दालान में जैसे ही बा की आवाज सुनी तब चेत हुआ। वल्लभा के जाने के बाद जाने कहाँ से भय घिर आया था और मैं वैसा ही जड़ बना बैठा रहा जैसा कि वल्लभा मुझे छोड़ गयी थीं। यद्यपि अवचेतन दृष्टि से देख रहा था कि बेर वाले चबूतरे पर मनु माँ को घेर कर माँ और वल्लभा पानी के छीटे देकर चेत में लाने की चेष्टा कर रही थीं। बाहर के फीके-फीके सन्दर्भ में वे तीनों अपशकुन सी लग रही थीं। इसके बाद मैं अपने में ही जाने कहाँ था। कमरे में अँधेरा आ चुका था। बाहर पूर्णिमा का आकाश प्रकाश दे रहा था। बड़ा ही उदास तथा रीतापन पूरे घर में लग रहा था। बा की आवाज सुनकर मैं उन तक जाना भी चाहता था लेकिन पैर बठरा गये थे। मैं अपने ही पाथर को अनुभव कर रहा था। मैंने देखा कि वल्लभा इस बीच दो-तीन बार आयीं-गयीं भीतर की ओर तथा जिस बार वे कटोरे में दूध ले जा रही थीं तब उनकी डूबती आकृति मेरे मन में बड़ी देर तक बेर के

पेड़ की ओर जाती रही ।

मनुमाँ को दूध पिला वल्लभा ने लौट कर घर भर की ढिबरियाँ जला दीं। तुलसी जी का दीपक बाल, प्रणाम कर जब मेरे पास लौटीं और मुझे यथावत बैठा देखा तो झिड़क दिया ।

—अभी तक यहीं बैठे हो ? चलो भीतर । वहाँ बा हैं ।

एक अव्यक्त ठण्डापन हड्डियों तक में लग रहा था । नाखून तक ठराये से लग रहे थे । कमरे की खिड़की से आकाश का टुकड़ा झलका पड़ रहा था । मुझे अपनी ओर फटी आँखों से देखते हुए देख कर बोलीं ',

—मैं सब समझती हूँ । कहीं कुछ नहीं है । चल उठ ।

सच ही, अब तक मैं जैसे सोच ही नहीं रहा था । संभवतः इसीलिए न व्यक्त भय ही था न किसी प्रकार का उद्वेग ही । लेकिन वल्लभा ने 'कहीं कुछ नहीं है' कह कर जैसे बंद कमरे की सारी खिड़कियाँ-दरवाजे हठात खोल दिये । फलस्वरूप सहसा तेज हवा, ठण्ढ, सोचना सब शुरू हो गया । जाने क्यों भय के साथ एकान्त अँधेरा, पीपल का हरहराना, टूटी मस्जिद की लूली मीनारें क्यों संयोजित है ? क्या जहाँ कोई नहीं होता वहाँ भय होता है ? लेकिन जहाँ कुछ नहीं होता वहाँ तो शून्य विराजा होता है । तब क्या शून्य ही भय है ? लेकिन शून्य तो कोई स्थिति नहीं । संभवतः इसीलिए भय की भी कोई स्थिति नहीं, भावदशा होती है । तभी तो हमारे भयद मन को जब कोई सहला देता है तो लगता है हमारे गाछ की प्रत्येक पत्ती पर सोनाली धूप दिपा उठी है । ठीक इसका विपरीत भी होता है । जैसे भयाक्रान्त हुए नहीं कि मन का गाछ अपनी प्रत्येक सोनाली धूप के साथ ऐसा मुरझा जाता है कि जैसे उसे कभी रस प्राप्त ही नहीं हुआ और आक्षितिज केवल अन्धकार लहराने लगता है ।

वल्लभा मुझे अपने से सटाये लिये चली, एक बाँह से मैं घिरा भी हुआ हूँ। भीतर जहाँ शंकर की मूर्ति है जहाँ दीवार में एक शीशा जड़ा हुआ है । शीशे के ठीक ऊपर दीया जल रहा है । शीशे में दीया दुहरा उठा है । लौ कैसे निःशब्द, मृसण, हौले हिलती है । भभक में भी कोई वाणी नहीं होती । शीशे की लौ मिलकर दूसरी आँख पूरी हो जाती है । मन में दीवार घूम जाती है । जो दो लौ पहले ऊपर-नीचे थीं अब वे पीत विशालाक्ष बन जाती हैं । इतने बड़े नेत्र मानवीय नहीं हो सकत । रोज रात को इन्हीं विशालाक्षों को मनुमाँ देखती होंगी और इतने बड़े घर के अँधेरे सुनसान में नाचते हुए, केश खोले मनुमाँ रोती होंगी. . .मैं भय से थरथरा उठता हूँ । वल्लभा मेरा थरथराना बूझती हैं और रान्नीघर के अपने पीढ़े

पर बैठते हुए अपने सीने से मुझे चिपका लेती हैं। मेरे भटके मन को एक आकाश मिल जाता है। कैसा ऊना-ऊना आकाश है न ? इसे ही तो माँ कहते हैं। माँ का ऐसा ऊना आकाश आँखों को कैसा रोटियों की तरह सेंकता है। आँखें ठीक ऐसे ही गरमाने लगती हैं जैसे पृथ्वी में पड़े बीज को धरती अपने ऊनेपन से गरमाती है। और वह उदास बीज जाने किस ऊदर्ध्व शक्ति, उत्साह के साथ अपने चारों ओर के पाशों को चीर कर ऊपर, बहुत ऊपर समग्र वेग से बढ़ता है। और जिस क्षण वह अपनी प्रथम ऊँचाई को आकाश में उछालता है तब धूप, क्षितिज, आकाश, नक्षत्र सब आश्चर्य चकित होकर इस एकान्त विजय को देखने लगते हैं। वल्लभा इसी तरह मेरी भी धरती है। मेरे नेत्र, मेरा स्वत्व सब कुछ उनकी देह को चीर कर, फोड़ कर फूट निकलेगा। बस, वल्लभा ऐसे ही माँ बनी रहे।

खाना खाकर दूध पीकर अभी मैं निर्णय करता ही हूँ कि आया मैं यहीं रान्नीघर में वल्लभा और माँ के भोजन करने की प्रतीक्षा करूँ या जाऊँ इसके पूर्व ही वल्लभा ने आदेश दिया कि मैं या तो बा के पास जाकर तब तक बैठूँ या फिर कमरे में जाकर लेट रहूँ। मैं समझ ले जाता हूँ कि वल्लभा मुझे क्यों जाने को कह रही हैं। जिस तरह कल सवेरे घर लौट जाने की बातें की जा रही हैं उसके पीछे आज वाला मनुमाँ का काण्ड बहुत बड़ा कारण है। और इस बारे में ये मेरे सामने बातें नहीं करना चाहती हैं।

खिड़की दक्षिणाभिमुख है लेकिन पूर्णिमा कोण बनाती कमरे में छिटकी हुई थी। प्रायः दोपहर में इसी खिड़की के किनारे बैठकर वल्लभा और मैं कस्बा, कस्बे का दिन, गाड़ियों से उड़ी धूल से गंदी हुई धूप, बढ़ई का लोहे के पहियों को गोल अरींठ पर गरमाना, कुम्हार का गोल घूमता पहिया, बबूल की फेंसिंग पर सूखते कलीदार

रंग-बिरंगे घाघरे जाने क्या-क्या दोपहर भर देखते होते हैं। ऐसी ही संबंधहीन नितान्त वैयक्तिक घटनाएँ असम्पृक्ता घटती हैं। सब अपने में मात्र निरी होती हैं लेकिन किस प्रकार ये अनजाने ही संयोजित होकर कस्बा, कस्बे का दिन या गाँव, गाँव का दिन बन जाते हैं। क्या हम जानते हैं कि हमारे जरा से हाथ हिलाने से भी एक दिन को रूप मिल रहा होता है ? शाम होते ही दिन ठण्ढा जाता है। लोग लौट जाते हैं घरों में। बाहर तब कहीं कुछ नहीं होता। इस समय गाँव की बाहरी रिक्तता पर चाँदनी प्रशस्त है। दिन के प्रकाश में बड़ी समग्रता लगती है लेकिन चाँदनी में निरा अनिर्वचनीय एकान्त भाव होता है। मन निरापद नही है लेकिन निरवलम्ब हो वल्लभा की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। माँ और वल्लभा रान्नीघर में मनुमाँ की तथा कल के जाने के बारे में बातें कर रही हैं।

दरवाजे में जड़ी सी वल्लभा दिखती हैं। नहीं जानता क्यों, लेकिन वल्लभा मेरे लिए समस्त माया है। वह जैसे ही पास आकर खिड़की की तिरछी चाँदनी मुँह पर लेकर बैठती है, मैं पूछता हूँ,

——नन्दन की माँ तो झाँझन पहनती हैं, बड़ा सा टीका लगाती हैं, माँग में रोली भरती है और सलमे-सितारे की साड़ी में दुर्गा लगाती हैं तब मेरी माँ ऐसा क्यों नही करतीं ?

अपने गले से झूलते हुए मुझे अपने से सटा वह ओस भीगा कमल हो जाती है। मैं नहीं समझ पाता हूँ कि जो मेरी माँ हैं, चाहे वह माँ हों या वल्लभा वे अधूरी माँ क्यों लगती हैं ? सम्पूर्ण माँ-दुर्गा क्यों नही लगतीं ? क्यों ये एक सीमा के बाद सूनी-सूनी सी लगती हैं ? क्या मेरी माँ सूनी ही रहेंगी ? नन्दन की माँ मेंहदी की फुलकारी हथेलियों में करती हैं। बड़ी रची हुई हथेली दूसरे दिन सवेरे होती है उनकी। जब वह सवेरे हाथ धोकर हथेलियाँ फैलाकर दिखाती होती हैं तो मन करता है कि इन्हें अपने गालों पर रख कर खूब रोऊँ। माँ की हथेलियाँ ऐसी रची हुई हुआ करती हैं या सूनी-सपाट ?

——तुम मेरी माँ हो। मैं अपनी माँ के पैरों में बड़ी भाभी से भी अधिक सुन्दर पाजेब देखना चाहता हूँ। काकीमाँ की मेंहदी की फुलकारी से भी खूब अच्छी हथेलियाँ तुम्हारी होनी चाहिए।

और पता नहीं इन वल्लभा को भी मेरी माँ की तरह जाने क्यों रोना आ जाता है। मैं उनकी ठोढ़ी छूकर पूछता हूँ,

——बताओ, क्या बात है ?

वह कुछ क्षण वैसे ही मौन रहती हैं, उपरान्त यही कह पाती हैं,

—मैं अपने उद्दू के लिए सारी मर्यादा तोड़ सकती हूँ।
—मर्यादा क्या ?
—जो तू कहेगा वही करूँगी। तू ही तो मेरा बालकृष्ण है। जैसे तू रखेगा, रहूँगी। तुझमें मेरी गति है।
—मैं नहीं समझा।
—तेरे लिए एक दिन सब शृंगार करूँगी, बस ??
—नहीं, रोज-रोज।
और बड़े ही स्पष्ट रूप में उनकी आँखों ने अपनी विवशता प्रकट की लेकिन तब मेरी समझ से वह परे था। मैं मात्र उनका हिलता सिर ही देखता रहता हूँ।
—कल घर चल रहे हैं ?
—हाँ।
कमरे में जो तिरछी, छोटी सी चाँदनी आयी हुई थी अब वह लौटी जा रही थी।

[पिता ।

एक शब्द मात्र ही नहीं, सम्बन्ध भी है इसे जानने के लिए मुझे अनेक वर्षों की प्रतीक्षा करनी पड़ी। उन्हें तब जान सका जब बा नहीं रहे, तब वह बाध्य हुए घर को सहेजने-समेटने के लिए। लेकिन आरंभ में पिता मेरे लिए एक व्यक्तिवाची बोध चिन्ह से अधिक नहीं रहे। उनके साथ एक दूरी का ही अनुभव होता। यद्यपि भयद दूरी नहीं। अधिक से अधिक तटस्थ ही कह सकते हैं।

हम जानें या न जानें लेकिन हम किसी क्रम के प्रतिफल ही होते हैं।

एक दोपहरी है।

वही ऊपर वाला कमरा है जहाँ बक्से, किताबें, जंग खायी तलवारें आदि हैं। उन लकड़ी के बक्सों में से एक जो बहुत बड़ा है उसमें ढेर सी किताबें ही किताबें ठँसी पड़ी हैं। जिनमें चित्रों वाली किताबें भी हैं। मैं इस समय जिस लालच में ऊपर

गया हूँ वह इन चित्रों वाली किताबों का ही है। नन्दन इन दिनों कहीं बाहर गया है इसलिए ये साहसिक यात्राएँ नितान्त मेरी अकेली हैं और मैं इन्हें बहुत महत्व देता हूँ। चित्र मुझे अपने साथ कहीं दूर ले जाते हैं। कभी-कभी रमण-दादा की खिड़की से दिखती नयी सड़क पर जाती हुई मोटरों को जब मैं देखता हूँ तो मुझे बराबर यह लगता रहा है कि वे मोटरें जाने कहाँ जाती हैं। जरूर ही वहाँ जाती होंगी जहाँ यह घर, गोबर लिपी दीवारें, काकी-माँ वगैरा कुछ नहीं होगा। बल्कि बड़ा झील का सा उन्मुक्त होगा। बड़ी खुली-खिली धूप यहाँ से वहाँ तक होगी। और प्रत्येक मोटर के जाने के साथ जैसे ही जाने को होता हूँ कि मोटर इतनी सपाटे से गुजर जाती है कि मैं आन्दोलित पीछे छूट गयी धूल और उसके अम्बार की भाँति ऐंठ कर, गुड़ीमुड़ी होकर, दुखी, मनस्तापित होकर वहीं छिटक कर पड़ा रह जाता हूँ। कोई गति इस जड़ता को अपने साथ नहीं ले जाना चाहती। लेकिन किताबों के ये चित्र सब से अधिक सगोत्री लगते हैं। इनमें की शांत बहती नदी, पर्वतमाला अपने रंगों में इतनी सजीव लगती हैं कि मैं उस चित्र में स्वयं को किसी घाटी में चलता देखता हूँ। मैं नहीं जानता कि मिसीसीपी नदी कहाँ है लेकिन फिर भी मैं उसके किनारे टहलता हूँ। इसलिए ये चित्र, ये किताबें, यह बक्सा, ये दोपहरियाँ, यह एकान्त, उपलब्धि से लगते हैं। 'इंगलैण्ड का एक कस्बा' यह चित्र मुझे घण्टों प्रिय लगता है। इसमें एक बग्घी पर बैठे हुए कुछ बच्चे जा रहे हैं। निश्चय ही उनमें से एक मैं होता हूँ। कौन सा ? दाहिना वाला। साथ दौड़ता कुत्ता मुझे ही तो देख सकता है।

इसी बक्से में से एक दिन एक कागज में लिपटा स्याही से बना एक रेखाचित्र मिलता है। एक बड़ा सा गमला बना है जिसमें शाखा-प्रशाखाएँ फूटी हुई हैं। उसके नीचे शीर्षक है 'वंशवृक्ष'। मैं नहीं समझ पाता हूँ। मैं उसे उठाकर अलग रखना ही चाहता हूँ कि एक जगह अपना तथा दीदी का नाम देखकर चौकता हूँ। ठीक अपने नाम के पास पिता का नाम इच्छाशंकर लिखा देखता हूँ। पिता के नाम के पास ही चाचाजी का नाम सूर्यशंकर लिखा है। उनके नाम के नीचे उन चाचाजी का नाम था, जो अब नहीं रहे--रत्नशंकर। इन तीनों नामों के पास बा का नाम लिखा है--लज्जाशंकर। इस नाम के पास कोई किन्हीं भवानी शंकर का नाम था और यह नाम भी किन्हीं किरणशंकर के नाम की शाखा में से फूटा हुआ था। अब इतने

अधिक नाम तथा अपरिचितों के थे कि मैं नहीं समझ पाता हूँ। लेकिन मुझे जिज्ञासा होती है। इसे मैं ठीक से सहेज कर रख देता हूँ। मुझे विश्वास है कि दीदी इस बारे में जरूर जानती होंगी।

दीदी और हम 'वंशवृक्ष' देख रहे हैं।

दीदी का ज्ञान मुझ से बहुत अधिक इतना ही कहा जा सकता था कि वह यही बता सकीं कि इसमें हमारे कुल के लोगों के नाम हैं।

—लेकिन इससे क्या होता है ?

—इससे पता चलता है कि कब-कब, कौन-कौन हुआ। अब देख न, बा के पिता का नाम था भवानीशंकर। बा के बड़े पिता का नाम था किरण शंकर।

—तो नाम जान लेने से क्या होता है ?

—इससे यह पता चलता है कि हमारा कुल कितना प्राचीन है। यह देख इसमें दस पीढ़ियों के नाम हैं। जाने कितने लोग हमारे ही कुल के हैं।

—लेकिन दीदी इन्होंने और क्या किया ?

—क्या मतलब ?

—मेरी किताब में है न दशरथ जी के चार लड़के थे। रामचंद्र जी ने रावण मारा इसलिए सारे लोगों ने उनकी प्रशंसा की। वोऽऽ बुआ जी कहती थीं कि लोगों का नाम अच्छे काम करने से होता है। क्या हमारे कुल में किसी ने भी अच्छा काम नही किया ताकि उनका नाम होता ?

—पता नही तेरी इस खोपड़ी में जाने कैसी-कैसी बातें आती हैं।

मैं दीदी को बहुत प्यार करता हूँ लेकिन पता नहीं वह मेरी जिज्ञासा कभी नहीं शांत कर पाती इसलिए वह मेरे अच्छे खासे सिर को खोपड़ी ही कहा करती हैं।

जो इतिहास मैं सुना रहा हूँ उसे माँ ने लेटे हुए आधी-आधी रात तक कई बार में सुना कर पूरा किया है। दीदी बड़े ही उदास भाव से अपने बिस्तरे में लेटी रहतीं। पता नहीं उन्हें फिर क्यों पेट में वही रोग है जो पहले हुआ था। वह इस बार जब अपने ससुर के पास जीजाजी के साथ गयी थीं तब बिल्कुल भली-चंगी थीं लेकिन

लौटीं तो फिर बीमार। इस बार उनकी बीमारी को लेकर सब अधिक गंभीर लग रहे थे। बा तो जैसे एकाएक ही दस बरस और बुढ़ा गये थे। अब उन्हें कम भी दिखने लगा था। अँधेरा होते ही वह दीवार का सहारा ले कर चलने लगे थे। रोज सवेरे वह मंडी जाया करते थे लेकिन अब वह सूर्य को अर्घ्य देकर बाहर के चबूतरे पर या कचहरी में गाव तकिये के सहारे मौन-उदास हो बैठ जाते हैं। अन्यथा उन्हें चुपचाप बैठे पहले कभी नहीं देखा। पहले उनकी वाणी में शासन का भाव निरन्तर रहता था लेकिन अब जब कभी वह मुझे या किसी और को पुकारते हैं तो लगता है ताँबा तिड़क गया है। ताँबे का वह भरा-भरा सा स्वर अब नहीं है वरन उसमें हल्की करुणा या कहना चाहिए याचना आ गयी थी।

खंभे पर बलती चिमनी के मंद आलोक में रात का सन्नाटा बहुत निकट लगता। और माँ के पेट पर हाथ रख इतिहास सुनता हूँ।

—तेरे बा के बा थे किरणशंकर देसाई। वह गुजरात के भावनगर के राजा के राजपंडित थे। उनके पुत्र का नाम था भवानीशंकर।

—लेकिन माँ! किरण शंकर-बा के पिता का नाम क्या था?

—मुझे नहीं मालुम।

—वे किरणशंकर बा तुम्हारे क्या लगते थे?

—तेरे बा के बा मेरे भी तो बा हुए।

—फिर क्या हुआ?

—बा के पिता का नाम भवानीशंकर देसाई था। वह भी राज पंडित थे।

—राजपंडित क्या?

—राजा जिससे धर्म-कर्म, पूजा-पाठ आदि करता-करवाता है उसे राजपंडित कहते हैं।

—तो क्या बा भी राजपंडित थे?

—यह भी वही काम करते तो रोना किस बात का था रे?

—क्यों नहीं बने?

—बीच में ज्यादा टोकने से बात टूट जाती है। हाँ, तो बा के दो बड़े भाई थे और एक छोटा भाई।

—कौन कनुबा?

—हाँ, कनुबा छोटे भाई हैं। हम तीन बहनें थीं। इस प्रकार भवानीशंकर देसाई की सात सन्तानें थीं।

मुझे अभी तक याद है कि माँ को कथा-वार्ता सुनाना जितना प्रिय था तथा जितना

अच्छा आता था वैसा किसी दूसरे को नहीं आता था। वह कथा सुनाते हुए कभी-कभी मीरा या सूर का पद भी बीच में गुनगुनाने लगती थीं।

तो, जो इतिहास वृत्तान्त उन्होंने सुनाया आज उसके अधिकांश रंग धुंधले पड़ गये हैं केवल घटनाएँ याद हैं जिन्हें तृतीय-पुरुष शैली में ही कह सकना संभव है कि भवानीशंकर ने अपने पुत्रों को संस्कृत वेद-शास्त्र आदि में निपुण कर देना उचित समझा। लज्जाशंकर के एक बड़े भाई ने उन दिनों नये-नये बसने वाले यूरोपियनों से सूरत में, भड़ौंच में काली मिर्च और तम्बाकू का व्यापार करना शुरू कर दिया और वह क्रमशः एक बड़े व्यापारी बनकर सूरत में ही बस गये। दूसरे बड़े भाई ने अपने पिता की गद्दी सम्हाल ली लेकिन शेष दोनों लज्जाशंकर और कनुशंकर ने किसी भी प्रकार की शिक्षा ग्रहण नहीं की। सब भाइयों में कनु ही अधिक डील-डौल वाले थे। इसलिए घर वालों ने एक दिन सुना कि कनु फौज में भर्ती हो गया। पिता भवानीशंकर ने सुना तो कपाल ठोक लिया, लेकिन क्या करते? इधर लज्जा आवारा होते जा रहे थे। दिनभर गाना-बजाना और खेतों-नदियों के किनारे वंशी बजाते फिरना। गरबा के दिनों में, रासलीलाओं में नाचने-गाने के लिए लज्जा पूरे गुजरात में प्रसिद्ध थे। जब कोई पिता भवानीशंकर से इसकी चर्चा करता तो बेचारे शर्म से गड़ जाते। डरते कि कहीं राजा साहब के कानों तक यह चर्चा न पहुँच जाए। और एक दिन दरबार लगा हुआ था। संवत छप्पन के अकाल के दिन थे। चारों ओर त्राहि-त्राहि मची हुई थी। दो बरसों से पानी की एक बूंद नहीं गिरी थी। धरती ने आँखें फाड़ दी थीं। आये दिन गोरू सूखे नदी-नालों में पानी और घास की तलाश में दम तोड़ रहे थे। लगान की उगाही तो दूर लोगों को क्या खिलाया जाए की समस्या थी। हजारों लोग कस्बों, नगरों की ओर टूट रहे थे। आबादियाँ उजाड़ होती जा रही थीं। भावनगर राज्य के सामने भी संकट उपस्थित था। दरबार खत्म होने पर राजा साहब ने राजपंडित से कहा कि सुना है आप के लड़के और किसी पटेल की लड़की में बड़ा प्रेम है। चारों ओर बड़ा 'यश' फैला हुआ है। राजपंडित भवानीशंकर अपराधी की भाँति सिर झुकाये सब सुनते रहे। यह नहीं कि उन्हें इस बारे में नहीं मालुम था लेकिन वह समझे थे कि लड़कपन है, कोई खास बात नहीं।

बसन्त-पंचमी हो चुकी थी। गाँव में सकता पड़ा हुआ था। फसलें थीं ही नहीं जो कटतीं। चारों ओर भाँय-भाँय फैला हुआ था। हाँ आकाश जरूर फाल्गुना रहा था लेकिन इन दिनों धरती फूलवती हो जाया करती थी, पर आज बिल्कुल विपरीत था। लज्जा चाँदनी में लेटे हुए सूखी नदी के किनारे खिन्न थे। क्या यह वही गाँव था जिसकी धरती सोना उगलती थी ? गाँव के काफी किसान रोजी-रोटी की तलाश में जा चुके थे। रहे-सहे भी जाने ही वाले थे।

सूखी नदी के भूखे किनारों पर चाँदनी फटी मलमल सी छितरी हुई थी। नदी के सूखे पेटे में मरी आँखों सी सीपियाँ चमक रही थीं। अकाल के नृसिंह ने जैसे अपने नाखूनों से पेट फाड़ दिया हो, इस तरह चारों ओर लग रहा था। उनका मन नहीं लग रहा था। पास ही वंशी रखी थी। बजाने के लिए फूँक दी लेकिन वह भी प्यासी धरती हो रही थी। दो-एक स्वर जरूर उठे लेकिन वे भी भूखे-प्यासे लगे और लगा कि जैसे नदी की कगार चढ़ते-चढ़ते वे भी भेड़ों-बकरियों की तरह एक बार काँपे और फिर दम तोड़ बैठे। झल्लाकर लज्जा ने वंशी दूर फेंक दी।

वंशी लुढ़कती नीचे नदी के पेटे में पहुँच गयी। उन्हें घबराहट हो रही थी। यह वही महीना है जब गाँव-गाँव में होली की तैयारी में ढोलक गमकती है, मंजीरें ठनकती हैं, डंडे खेले जाते हैं। मेड़ों और खेतों में मिलन होता है लेकिन आज ??

दो बरस पहले की होली याद हो आयी। पटेल की लड़की लाजो से उनके प्रेम के वे कैसे मीठे दिन थे। रोज इसी नदी किनारे, मेड़ों पर अपनी पाँच जोड़ बाँसुरी लेकर बैठ जाते और फूँका करते। गाँव-गोयरे तक बाँसुरी की पुकार सुनायी पड़ती थी। और इसी पुकार ने तो लाजो को बदनाम किया। लेकिन लाजो को न सहेलियों की ठिठोलियों की पर्वाह, न लोगों के नाम धरने की चिन्ता थी। वह तो छन्द की तरह उछलती हुई अपने लज्जा के पास पहुँच ही जाती। उसी लज्जा के पास जिसने गरबे के दिनों में कृष्ण बन कर, माच में गीत गा-गाकर उसका मन मोहा था। उस बरस होली में लज्जा, केसर रंग भरी पिचकारी लिये घर-घर, गली-गली, खिड़की-खिड़की लाजो को खोजते रहे थे और जब वह कहीं नहीं मिली थी तो कैसे उदास हो कर यहाँ इसी नदी-तट पर आकर बैठ गये थे। अलसी कैसी फूली पड़ रही थी। वंशी और पिचकारी दोनों से ही चिढ़ हो गयी थी। जिस लाजो के लिए उन्होंने अपने पिता के कुल में बट्टा लगाया था, इतनी बदनामी मोल ली थी जब वही नहीं थी तो सब व्यर्थ था। कि तभी किसी ने उनके शरबती हुए कुर्ते पर तान कर पिचकारी मारी और घंटियाँ टुनटुना दीं।

—कौन ? लाजो ?

---नहीं, राधा ।

और सच ही वह राधा थी और वह कनु थे । अपनी कनुप्रिया को ऐसे समय प्राप्त किया जब कि वह हताश हो गये थे। वह निहाल हो उठे। लज्जा रँग उठे, लाजो लाल हो उठी जब लज्जा ने उसे बाहुओं में भर लिया । लज्जा रूठे, लाजो ने मनाया ।

---तुम्हें कैसे मालुम कि मैं यहाँ हूँ ?

---तुम्हारी मुरली मुझे बदनाम जो करके रहेगी ।

---दिन भर कहाँ थीं ?

---क्यों ?

---होली थी न । घर-घर खोजा ।

---बन-बन नहीं खोजा ? बड़े होली वाले आये, धुत् !!

लेकिन राधा जैसे परकीया थी स्वकीया नहीं । वैसे ही लाजो को भी अपने कनु की स्वकीया नहीं होना था । दोनों की बदनामी बढ़ती जा रही थी । पटेल चुप था जानता था कि इसमें उसकी इतनी हेठी नही है जितनी कि राजपंडित की । और उसी बरस जैसे-तैसे करके राजपंडित ने पटेल को समझा-बुझा लाजो का विवाह बैसाख में करवा दिया । लज्जा बेचारे क्या करते ? कट कर रह गये । गाँव और प्रदेश अकाल में यों ही उजड़ चुका था और अब मन भी उजड़ चुका था । बैसाख के बाद अनेकों बार इस नदी-तट आये, उन अमराइयों में गये, प्रतीक्षा की कि संभव है किसी ओट से लाजो निकल ही पड़े और वह फिर सनाथ हो जाएँ । गरबे वाला मोरपंख शहतीर में खुँसा बड़े अनमने भाव से उन्हें देखता रहा कि क्या फिर कभी कनु न बनोगे लज्जा ? वे राहें छोड़ दीं, वे संकेत-स्थल बिसरा दिये । प्रत्येक पगडंडी पर लाजो की पदचाप का भान होता । उन्होंने तो सब को छोड़ दिया था लेकिन उन्हें तो किसी ने नहीं छोड़ा था न ?

~

आज वह जिस उदास भाव से यहाँ बैठे थे उसमें परास्त भाव भी था । पिता की मृत्यु को दो माह हो चुके थे व्यापारी भाई सूरत में रह कर बिल्कुल अलग हो ही चुका था । पिता की गद्दी पर बैठे भाई ने सारी जायदाद हड़प ली और यह मुँह ही ताकते रह गये पिता मरने के पूर्व जेठ में ही उनका भी विवाह कर गये थे । इस विषम परिस्थिति में तथा अकाल की भयंकरता में सिवाय रोजी-रोटी की तलाश में दूसरों की तरह वह भी निकल पड़ें के अतिरिक्त कोई चारा

नहीं था। केवल यही बहन,मणि(जिन्हें मैं माँ कहता हूँ)विधवा थीं और पिता की छत्रछाया उठ जाने के बाद केवल लज्जा ही उनके अभिभावक रह गये थे। इस प्रकार लज्जा पीठ पर लोटा-डोर टाँगे अपनी नवविवाहिता तथा इस बहिन के साथ गुजरात छोड़ने के लिए बाध्य हुए। भूखे-प्यासे डूँगरियाँ और पठार पार करते हुए लज्जा अनिश्चित दिशा एवं भविष्य की ओर बढ़ रहे थे। कहाँ ? यह कौन जानता था ? उनकी भाँति, बल्कि उनसे भी अधिक उजड़कर सैकड़ों लोग अन्न की खोज में घर, देस सब छोड़ कर चले जा रहे थे। बीस-बाईस बरस के खुद, अठारह बरस की विधवा बहिन और सोलह बरस की पत्नी के साथ बिना कुछ सोचे-विचारे चले जा रहे थे। वह तो केवल यही जान रहे थे कि जहाँ इतने आदमी जा रहे हैं वैसे वे तीन भी सही। अब वह न राजपंडित के कुल के पुत्र ही थे और न किसी कुल विशेष की कुलीनता ही उनके साथ है। गूजर और बंजारे, कुर्मी और गड़रिये जहाँ रात डेरा डालते ये तीनों भी किसी पेड़ की छाया में पड़ रहते। कई सप्ताह की इस भूख-प्यास की यात्रा का अन्त अब उन्हें दिखायी दे रहा था क्योंकि मालव के हरे-भरे पठार क्षितिज में लहलहाने लगे थे। और जिस दिन क्षिप्रा-माता के तट पर उनका परिवारिक सार्थ पहुँचा उस दिन गंगा-दशहरा था। उस दिन क्षिप्रा से वह प्रतिश्रुत हुए थे कि अब वह आजन्म इस प्रदेश के होकर रहेंगे। महाकाल रक्षा करें।

मालवा।

उनकी कर्मभूमि बनी। एक जोट, लोटा-डोर तथा अपने छोटे से पुरुषार्थ के अलावा क्या था उनके पास उन दिनों ? तीन दिन महाकाल की नगरी में रह कर वह उत्तर मालवा की तरफ बढ़े। अब उनके लिए कोई काम हेय नहीं था। ऊँट वालों के ऊँट, खेतवालों के खेत रखाते और गाँव के बाहर पड़े रहते। इस तरह वह इस कस्बे में पहुँचे। उन दिनों यह कस्बा नहीं था पर गाँव भी नहीं था। कपास, आलू की खेती तथा अफीम की फसल ही प्रमुख पैदावार थी। लोगों के खेतों में दोनों ननद-भावज काम करतीं और रुई की जीन में लज्जा

काम करने लगे। किसी तरह दिन कट रहे थे कि (मेरे पिता) इच्छाशंकर का जन्म हुआ। शुरू में तो इच्छाशंकर को पीठ पर बाँध कर ही दोनों खेतों में काम करतीं लेकिन जब इच्छा बड़े हुए तो आम की डाली में जोट का झूला बना लिटा देतीं और वे काम किया करतीं। तीनों के लिए जीवन-मरण का प्रश्न था। जिन दिनों यह सब काम न होता तो तीनों जंगल से लकड़ी-कंडे बीन लाते और बेच कर पैसा पैदा करते। इतने कठोर परिश्रम का फल यह हुआ कि चौधरन की बावड़ी के पास गाँव के बाहर जो उनकी झोंपड़ी थी अब वह जीन के सामने नागनाथ की गली में आ गयी। लजा ने इस बीच दो-एक गायें भी खरीद लीं। इस प्रकार दूध बेचने, जीन में काम करने तथा माल (जंगल) से लकड़ी का भारा बनाकर बाजार में बेचने तक में कोई व्यक्तिक्रम नहीं आने दिया। जुआर की रोटी जो कि पहले लहसुन की चटनी और कच्ची प्याज के साथ खायी जाती थी अब वह मूँग की दाल के साथ खायी जाने लगी। जो भी काम मिलता या होता लज्जाशंकर उसकी ओर भूखे प्राणी की तरह लपकते थे। जाड़ों में ईख पेरने पहुँच जाते। घर पर ननद-भावज ने अब चरखों पर सूत कातना शुरू कर दिया था। इच्छाशंकर के लिए दूध का प्रबंध हो ही गया था इसलिए शुरू-शुरू में अफीम देकर उन्हें आम की डाली वाले झूले में सुला दिया जाता था इसलिए वह सींक-सींक होते जा रहे थे, वही अब दूध पीकर बनने लगे थे। इस बीच सूर्यशंकर का भी जन्म हो गया था। इतने कठिन परिश्रम का फल यह हुआ था कि लक्ष्मी की पायलें हौले-हौले सुनायी पड़ने लगी थीं। और आठ बरस के बाद लज्जा ने मालवा की भूमि से अपना स्वेद-संबंध स्थापित कर ही लिया--दो बीघा जमीन खरीदी।

अब वह खेतिहर मजूर न रह कर किसान हो गये थे। गायों के साथ भिण्ड-मुरैना की एक दस-सेरी भैंस भी थान से आकर बँध गयी थी। सवेरे-सवेरे आँगन में दूध लेने वाले ग्राहकों की भीड़ लगी रहती। अब ननद-भावज को गोरुओं की सेवा तथा चरखे से ही फुर्सत नहीं थी इसलिए बाहर का काम छोड़ दिया। घर में अब तीसरा लड़का रत्नशंकर और आ गया था।

परिवार के तीनों बड़े सदस्यों की इच्छा थी कि दोनों बड़े लड़कों को पढ़ाना चाहिए। परिस्थिति ने उन्हें मजूर-किसान कर दिया था लेकिन हैं तो वे ब्राह्मण और वह भी राजपंडित का कुल। भले ही आज लोग न जानें लेकिन कल जब उज्जैन-इन्दौर के उनके रिश्तेदारों को पता चलेगा तो क्या कुल-वंश की नाक रह जाएगी? इसीलिए तीनों इस अवस्थिति से उबरने के लिए जी तोड़ परिश्रम

करते आ रहे थे। कल जब लड़कों का ब्याह-शादी होगा तब किस मुँह से जाति-वालों से लड़की माँगेंगे ? और इच्छा तथा सूर्यशंकर जो कि 'शंकर' पुकारे जाते थे, पढ़ने जाने लगे। चूँकि कस्बे में कोई स्कूल नहीं था इसलिए पास के एक बड़े कस्बे में, जो कि छह मील दूर था, भर्ती करवा दिया।

अभी आधी रात ही रहती कि बच्चों की माँ उठ पड़तीं और बच्चों के लिए दूध की दशमी-भाजी तैयार करने में लग जातीं। बच्चे सवेरे ही चल पड़ते तब जाकर दस बजे स्कूल पहुँच पाते और घर लौटते में रात के आठ बज जाते। रोज बारह मील की पैदल यात्रा आसान नहीं थी। लेकिन और कुछ सम्भव भी तो नहीं था। लज्जाशंकर रोज सोचते कि किसी सवारी का प्रबन्ध कर दिया जाए। ननद-भौजाई चूल्हे की आँच के सामने या चरखा कातते हुए विचार करतीं कि कुछ ऐसा हो जाता कि बच्चों को रोज बारह मील का आना-जाना न करना पड़ता। अभी शंकर घर की परिस्थिति को ठीक-ठीक नहीं समझते थे लेकिन इच्छा न केवल इसे समझते ही थे बल्कि उनकी उदास आँखें देखकर लगता था जैसे अभी से वह उन्हें तोड़ गया है। स्कूल से लौटने पर जरा भी आराम न कर इच्छा या तो अपने बापू (पिता) का गोरुओं के सानी-पानी में हाथ बँटाने लग जाते या दिन भर के कते सूत को चरखी पर चढ़ाने में बुआ का हाथ बँटाने लग जाते। माँ जब खाना बनाती होतीं तो वह अपनी नवजात बहन उमा को लोरियाँ गाकर सुलाने लग जाते। लेकिन इसके विपरीत शंकर बस्ता फेंक बिना कुछ खाये-पीये ही रतन (रत्नशंकर) को साथ ले नागनाथ वाले सामने के मैदान में अँधेरे में अपनी पतंग उड़ाते रहते या गोशाले की ऊँची दीवार की काई खोदने पहुँच जाते। कोई टोकता तो कहते कि यह हरी मखमल है और इसे पूरे घर में बिछाऊँगा ताकि घर में मखमल का फर्श हो जाएगा। आये दिन शंकर को लेकर लज्जाशंकर को पास-पड़ोस से लड़ाई करनी पड़ती थी। इच्छा से शंकर की नहीं बनती थी लेकिन रतन तो शंकर से भी दो कदम आगे था। जब दोनों भाई दिन में स्कूल गये होते तो रतन लोगों की

आँख बचा कर पीछे वाले अखाड़े में पहुँच जाता जहाँ नारायण राव के साथ डण्ड-बैठक मुग्दर भाँजना, लट्ठ चलाना सीखता रहता। पिता लज्जाशंकर कभी-कभी रतन को पीट देते। उन्हें लगता कि जिस साहसिकता एवं पुरुषार्थ के साथ आज वह यहाँ पहुँचे हैं उसे इच्छा पूरी तरह समझता है, शंकर समझता है लेकिन वह लापरवाह है मगर यह रतन तो बिल्कुल ही आवारा निकल रहा है।

हर बरस लज्जाशंकर अपनी खेती-बाड़ी बढ़ाते जा रहे थे इसलिए उन पर काम का बोझ भी बढ़ता जा रहा था। दोनों भाइयों को स्कूल जाते हुए चार बरस हो गये थे। इच्छा ने इस बीच डबल-परीक्षाएँ देकर हिन्दी मिडिल पास कर लिया और पिता की सहायता के ख्याल से बिना किसी को बताये एक दिन स्कूल छोड़ दिया। सब को उस दिन बड़ा बुरा लगा।

——लेकिन बापू ! आप मेरी चिन्ता न करें। हम सब मिल कर अब शंकर और रतन को पढ़ाएँगे। रतन स्कूल जाने लगेगा तो सारी आवारागर्दी भूल जाएगा।

बुआ ने एक बार फिर जोर लगाया कि इच्छा को जरूर पढ़ना चाहिए। जहाँ तक घर-गृहस्थी का है, तो वह तो अब पहले से कहीं अच्छी हो गयी है। बोलीं,

——देख इच्छा ! मैं यह बात नहीं कहना चाहती थी लेकिन याद रख कि तू पढ़-लिख जाएगा तो सारा परिवार खड़ा रह सकेगा। तू घर का बड़ा लड़का है। यह शंकर ?

इच्छा जानते थे कि बुआजी शंकर से प्रसन्न नहीं हैं। वह किसी की नहीं सुनता। बड़ा दबंग है। बात-बात में जवाब देता फिरता है। लेकिन इससे क्या ? बापू जितना और जिस तरह खट रहे हैं उसमें यह कैसे संभव था कि वे सिर्फ स्कूल ही जाते रहें।..और इच्छा की जगह अब शंकर और रतन स्कूल जाने लगे। बरस बीतते-न-बीतते इच्छा ने एक तरह से अपने पिता की सारी जिम्मेदारी ले ली। उसे देख कर कौन कह सकता था कि यह हिन्दी मिडिल पास होंगे।

इच्छा बैल हाँकते रहे, गाय-भैंसों का दूध दुहते रहे और दोनों भाई स्कूल जाते रहे। अब आये दिन शंकर इस बात पर झल्लाते कि वे लोग रोज बारह मील पैदल नहीं चल सकते, घोड़ी खरीद दें। पहले तो लज्जा बहुत बिगड़े लेकिन जब इच्छा ने समझाया कि जब सारा समय पैदल आने-जाने में ही बीत जाएगा

तो भला ये पढ़ेंगे कब ? इसलिए जरूरी है कि कुछ प्रबंध किया ही जाना चाहिए।

—लेकिन इच्छा ! ये दोनों शैतान आये दिन घोड़ी पर से गिरेंगे और हाथ-पैर तोड़ते रहेंगे ।

—इसलिए बापू ! अच्छा तो यह हो कि बुआ इन दोनों को लेकर वहीं रहें और मैं हाट के दिन सामान पहुँचा आया करूँगा । न घोड़ी होगी और न ये दोनों हाथ-पैर तोड़ेंगे ।

और उस रात माँ ने अपने इस बड़े बेटे के लिए बहुत ही पतली-पतली जुआर की रोटियाँ सेंकी । खूब दूध औटाया और चुराकर रखी हुई खाँड से आज दूध मीठा किया । माँ रोटियाँ बनाते हुए परस रही थीं और इच्छा खा रहे थे ।

—क्यों रे, शंकर-रतन के लिए तो तू पुरखों की तरह बातें करता है लेकिन तू भी क्यों नहीं पढ़ने चला जाता ? जब बुआजी जाएँगी ही तो तू भी पढ़ ले ।

—जिजी ! तू नहीं जानती कि मैं उन जरा-जरा से बच्चों में लट्ठ जैसा गँवार लगता हूँ । और सच्ची बात तो यह है जिजी ! कि मुझे ये किताबें ज्यादा समझ में भी नहीं आती थीं ।

—झूठा कहीं का ।

—सच । तेरे सिर की सौगंध ।

—अच्छा, रहने दे ये सौगंध-वौगंध ।

—देखना जिस दिन शंकर और रतन खूब पढ़ जाएँगे तब मैं बा की तरह अपने राजा का राजपंडित बनूंगा । और उस दिन तू देखना मैं दुशाले और पालकी से कम बात थोड़े ही करूँगा ।

—कभी दुशाले-पालकी देखे भी हैं ?

—क्यों ? देखे क्यों नहीं ? रोज ही तो सेठ बिरदी चंद दुशाले-पालकी में घूमने निकलते हैं ।

माँ-बेटे दोनों ही हँसते रहे ।

—ये तूने आंज दूध में क्या डाला जिजी ? सुवाद ही नहीं आता । गुड़ नहीं था क्या ?

—सक्कर है रे ।

—देख जिजी ! ये सक्कर-वक्कर शंकर-रतन को ही दिया कर । मैं जब गाँव-गाँव भटकूँगा तो सक्कर से मेरी आदत न खराब हो जाएगी ?

—तू गाँव-गाँव काहे भटकेगा रे ? बोल तो ?

—अरे बन्दोबस्त होने वाला है ।

—बन्दोबस्त क्या ?

—जमीन की पैमाइश सरकार करवाने वाली है । वो जो गिरदावर साहब के यहाँ दूध जाता है न उन्होंने मुझे बुलवाया था और कहने लगे कि अगर मैं इसमें काम करने लग जाऊँ तो सब ठीक हो जाएगा । घोड़ा मिलेगा, जरीब मिलेगी, भत्ता मिलेगा, तनख्वाह मिलेगी. . .

—बस, बस रहने दो तेरा यह मिलेगा-मिलेगी । मुझे कुछ नहीं चाहिए। इतना तो भटके, क्या और भटकना बाकी है ? जित्ता भगवान ने दिया वही बहुत है ।

—देख जिजी ! तू बापू को नही जानती। बापू राजपंडित के बेटे हैं। वह चोट खाये हुए हैं । उन्हें वह सब चाहिए जो उनके भाइयों ने उनसे छीन लिया है । उनमें साहस है । और हमारा सब का कर्त्तव्य है कि उनका हाथ बँटाये । तू नहीं जानती अभी उन्हें जमींदारी खरीदनी है । मकान खरीदना है। समाज में प्रतिष्ठित होना है । वह अपने लड़कों का सिर ऊँचा देखना चाहते हैं । इसीलिए तो आज वह बीस बरसों से तुम लोगों के साथ खट रहे हैं ।

और माँ अपने बेटे की बातें कुछ समझते, कुछ न समझते सुनती रही । हाथों की लोई अनजाने ही गोल होती रही और रोटियाँ सिकती रहीं । इच्छा हाथ धो जिस समय आले की चिमनी ऊँची कर रहे थे तो माँ ने देखा कि बेटा, जुआर के भुट्टे के इतना ऊँचा हो गया था । वह फसलवाली धरती की तरह कस उठीं ।

और उधर बुआ सूर्यशंकर, रत्नशंकर को लेकर कस्ब में रहने चली गयीं तथा इधर इच्छा ने सरकारी घोड़ी के पायदान में बन्दोबस्त का पीला बस्ता सम्हालते हुए पैर रखा । जरीब की आवाज हो रही थी । पिता लज्जाशंकर जानते थे कि इस पाँच रुपये की पटवारगिरी से उन्हें अच्छा नहीं लग रहा है लेकिन अपने इस बेटे की समझदारी के लिए मन में न केवल आदर ही रखते थे बल्कि नमित भी थे कि जिस सामाजिकता को वह खो बैठे थे उसे किसानी के स्तर

तक अभी वह ला सके थे उसी को इस पुत्र ने सरकारी नौकरी के स्तर तक पहुँचा दिया था। छोटी बहन उमा ने अपने बड़े दादा की आरती की और जिस समय बेटे की घोड़ी आँगन से निकली माँ दरवाजे की आड़ से रोते हुए देखती रही। गोशाले से सड़क मुड़ती थी। इच्छा का पीला बस्ता, जरीब, घोड़ी और कत्थई रंग का साफा, बंद गले का कोट देर तक उनकी आँखों में तिरता रहा। घर अब सूखे हुए कपड़े सा लग रहा था। जो पानी, कपड़े को भारी बनाये हुए था वह हठात उड़ गया। और कपड़ा बड़ा उड़ा-उड़ा सा सूखा निकल आया। घर में अब था ही कौन ? लज्जाशंकर, उमा और गृहलक्ष्मी पत्नी।

प्रत्येक दिन का अर्थ होता है, महत्व होता है। यद्यपि हममें से अधिकांश इसे नहीं जानते इसीलिए किसी विशिष्ट रोज का उनके निकट कोई अर्थ नहीं होता। लेकिन ऐसे अनेक रोज जब मिल कर समग्रता ग्रहण कर लेते हैं और विगत बन जाते हैं तब हमें लगता है कि उन अपदार्थ दिनों का क्या इतना प्रभाव था कि हमें वह ऐसा बना गया ? लेकिन यह सही है कि ऐसा ही है। और यह सत्य चाहे और कोई जानता रहा हो या नहीं मगर लज्जाशंकर प्रत्येक दिन को एक देवता ही मानते रहे हैं इसीलिए प्रत्येक दिन वह उस जगह से आगे ही बढ़ने की चेष्टा करते रहे हैं। इसीलिए खेत चार बीघा हुए, आठ बीघा हुए और देखते-देखते अपने पुरुषार्थ से अब वह बीस बीघा जमीन, चार सामन और दस-बारह गाय-भैंसों वाले एक सम्पन्न किसान कहे जा सकते थे। अब सवेरे-शाम हाली-मवाली कुट्टी, खल, चारा-चंदी, बीज आदि के लिए खड़े दिखते। शंकर अँग्रेजी मिडिल पास कर चुके तो सरकार की तरफ से उन्हें तहसीलदारी मिलने लगी लेकिन इच्छा ने शंकर को आगे पढ़ाने के लिए सब को उत्साहित किया। और बुआ शंकर तथा रतन को लेकर गवालियर चल दीं। इसी बैसाख

में बड़ी जोर-जबरदस्ती के साथ इच्छा का विवाह कर दिया गया। अब लज्जा-शंकर केवल पिता ही नहीं रहे ससुर हो गये थे। अब उन्हें विश्वास हो चला था कि जो वह चाहते हैं वह अब संभव दिख रहा है इसलिए चिन्ता हुई कि कल जब शंकर और रतन सरकारी बड़े अफसर बन जाएँगे तो क्या इस घर में रहेंगे ? और उन्होंने बड़ी सतर्कता से लेन-देन का व्यापार शुरू किया। उन्होंने जो भी काम शुरू किया उसे पूरी समझ-बूझ एवं सतर्कता से किया। वह एक दिन घर से निष्कासित आये थे, प्रदेश छोड़ कर आये थे और केवल पुरुषार्थ का सहारा था। इसलिए जब उन्हें भी साहूकारा करते लोगों ने देखा तो तरह-तरह का प्रलोभन देने पचीसों पहुँचे। लेकिन समय ने उन पर जो लीक छोड़ दी थी वह इतनी अमिट थी कि वह कैसी ही विषम या प्रलोभन की स्थिति में केवल मुसकराते रहते थे। वह साझे के न व्यापार, न खेती किसी में भी विश्वास नही करते थे। शायद इसीलिए उन्हें कभी धोखा नहीं खाना पड़ा। लेकिन सामने वाले पर यह कभी प्रकट नहीं होने देते थे कि उसकी बात का उन पर कोई प्रभाव नहीं हुआ है। जब कभी वह किसी से इस तरह की बातें करते होते थे उस समय वह अपने खेत, मकान, परिवार सब की बड़ी सतर्कता से निगरानी वहीं बैठे-बैठे करते रहते। उन्हें वे दिन भूले नहीं थे जब यहीं वह चौधरन की बावड़ी के निकट एक फूस की झोपड़ी में खेतिहर मजूर के रूप में काम किया करते थे। कल तक ये ही सेठ साहूकार, किसान आदि उनके मालिक के रूप में थे और आज वह तेजी से प्रगति करते हुए सामाजिकता का लगभग आधा रास्ता तय कर चुके थे। लेकिन उनके व्यवहार में न अतिशय विनम्रता, न अहंकार कुछ भी नहीं था। वह भरे हुए पात्र की तरह प्रत्येक हवा का उसके औचित्य के अनुरूप उत्तर दे देते।

जब लोगों ने देखा कि उनका बड़ा लड़का बन्दोबस्त में हो गया है। मँझले को तहसीलदारी मिली लेकिन वह आगे अँग्रेजी पढ़ने गया है गवालियर तथा छोटा भी उसी रास्ते पर है तथा वह खुद खेती, दूध और लेन-देन से पैसा पैदा कर रहे हैं तो उन्हें ईर्षा होने लगी। और अब पेशबंदियाँ की जाने लगीं। उन्होंने एक छोटी-मोटी जमींदारी खरीदनी चाही तो सेठ बिरदीचंद बीच में कूद पड़े। वह यद्यपि इस जिले के सबसे बड़े जमींदार भी थे। उन्हें उसकी आवश्यकता नहीं थी लेकिन लोगों ने भड़काया कि कल जब लज्जाशंकर के लड़के राज्य के इने-गिने पढ़े-लिखे आदमियों में हो जाएँगे तथा अफसर बन जाएँगे तब यह महाशय कस्बे में किसी और को रहने देंगे ? और सेठ बिरदी-

चंद ने जमींदारी की नीलामी बोली चौगुनी करवा दी। लज्जाशंकर ताड़ गये। लेकिन वह यह भी समझ गये कि अगर इस दाँव में वह पीछे हट जाते हैं तो हमेशा के लिए दबा दिये जाएँगे। माना कि उनकी पूँजी गाढ़ी कमाई की है और वह उसे इस प्रकार की मिथ्या सामाजिकता के पीछे नहीं उड़ा सकते थे लेकिन अब हेठी होने की बात थी। आज तक उन्होंने जो कुछ किया था उस पर किसी का ध्यान नहीं गया था इसलिए लोगों ने करने दिया था लेकिन अब जब वह और आगे बढ़ना चाहते हैं तो कुछ लोग मोर्चाबंदी किये हैं। और आठ सौ रुपये की जमींदारी के उन्हें पूरे चार हजार गिनाने पड़े। सेठ बिरदीचंद को इस का कतई विश्वास नहीं था कि कल तक का यह साधारण किसान उनके बराबर में बोली बोल कर उनका कौर छीन ले जाएगा। जब कि पंडित लज्जा-शंकर देसाई घर से इस बात की तैयारी कर के गये थे अगर सब कुछ भी बेच देना पड़ा तो वह बेच देंगे लेकिन यह जमींदारी खरीद कर ही रहेंगे।

जिस समय जमींदारी खरीदकर वह घर लौटे उन्हें अत्यन्त प्रसन्नता, सन्तोष तथा शांति थी कि जिस गृहस्थी की गाड़ी को वह छप्पन की अकाल की भूखी-प्यासी फटी-पथरायी धरती पर से खींच कर लाये थे आज उसे किसी मजबूत, विश्वस-नीय भूमि पर खड़ा कर सके। वहीं उन्हें यह भी लगा कि वह वृद्ध हो गये हैं। उनके कंध दर्द करने लगे हैं यद्यपि वह अभी पैंतालीस वर्ष के ही थे।

जिस समय वह घर पहुँचे पत्नी और बहू ने देखा कि पति और ससुर के मुख पर विजय और थकान के दो जल स्पष्ट झलक रहे हैं। वह बहुत प्रसन्न थे कि आज उनकी लाज रह गयी थी, वर्ना क्या होता ? लोग क्या कहते कि बड़े चले थे जमींदार बनने। कल तक दूसरों के खेतों में आलू गोड़ते थे, घोसी का काम करते थे और जरा सा पैसा क्या हुआ कि जमींदार बनने चले थे। चूहे को चिंदी क्या मिली बजाज बनने चला था। वह समझ ले गये कि अब उन्हें चाहिए कि दो-चार बरस मौन साध कर रहें। विरोध स्वतः इस बीच शांत हो जाएगा।

इस बीच उनके कई सगे-सम्बन्धी भी आसपास के क्षेत्र में आकर बस गये थे। छप्पन के अकाल में वह तो अकेले ही आये थे लेकिन उनकी जाति के ब्राह्मणों पर ईश्वर का ऐसा प्रकोप हुआ कि गुजरात छोड़ कर जिस समय यह विशाल ब्राह्मण-सार्थ क्षिप्रा के तट पर पहुँचा तो वह बारह सौ परिवारों का प्रदेश-निष्कासित ब्रह्म-समुदाय था।

लेकिन सहसा एक सम्पूर्ण जाति इतने बड़े सामूहिक रूप में किस प्रकार उन्मूलित हो गयी ? इसका कारण यह था कि यह ब्राह्मण-वर्ग मूलतः गुजराती नहीं

था । इसके एक सहस्र पूर्वज व्यक्तियों को गुजरात का प्रतापी राजा मूलराज सोलंकी उन्हें कान्यकुब्ज (कन्नौज) से आमंत्रित कर ले गया था । बात यह थी कि मूलराज उच्चवर्गीय क्षत्रिय नहीं था और वह कोई यज्ञ सम्पन्न करना चाहता था । गुजरात में उन दिनों नागर ब्राह्मणों का बोलबाला था । नागरों ने सोलंकी के यज्ञ में पुरोहित बनना अस्वीकार कर दिया । सोलंकी चिढ़ गया और उसने ब्राह्मणों में श्रेष्ठ कान्यकुब्जों को पौरोहित्य के लिए निमंत्रण दिया । इस प्रकार कन्नौज से एक सहस्र कान्यकुब्ज गुजरात पहुँचे । सोलंकी का यज्ञ सम्पन्न हुआ और इन उदीची दिशा से गये कान्यकुब्जों को उसने राज-सम्मान दिया । लेकिन मूलराज सोलंकी के मरने के साथ ही इन उदीची से आये ब्राह्मणों को नागरों का मुकाबला करना पड़ा । जो सुविधाएँ मिली थीं वे फिर ले ली गयीं । काफी वर्षों तक नागरों के साथ उनका यह संघर्ष चलता रहा जिसमें ये पराजित हुए । और जैसे ही छप्पन का अकाल पड़ा ये फिर सार्थ बना गुजरात छोड़कर मालवा में आ बसे । इसलिए इस ब्राह्मण वर्ग की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति विपन्न रही । यह वर्ग अपने मूल प्रदेश से बहकर अभी तक कहीं जम नहीं पाया था । इनमें गुजरात-प्रवास के भी संस्कार आ गये थे इस प्रकार ये ब्राह्मणों में विशिष्ट हो गये । मालवा में उन्हें शरणार्थी बनकर आना पड़ा था । नगरों में आय के स्रोत पहले ही मराठों-राजपूतों के हाथ में थे । वहाँ कुछ संभावना ही नहीं थी इसलिए इनके सामने वही पौरोहित्य का सहारा था लेकिन पूरी जाति का निर्वाह तो इस प्रकार नहीं हो सकता था इसलिए अकाल में आये दूसरे कुर्मियों एवं किसानों की भाँति ये भी गाँवों में फैल गये । यह उन्हीं दिनों हुआ जिन दिनों लज्जाशंकर अपना परिवार लिये क्षिप्रा के किनारे पहुँचे थे । अपने इन संबंधियों एवं ज्ञाति-बन्धुओं के बारे में वे तभी जान सके जब उनकी किंचित सामाजिकता बनी । जब चौधरन की बावड़ी को छोड़ वह नागनाथ की गली में आकर रहने लगे तभी नन्दन का परिवार, शेखर का परिवार, पुराणी-बा आदि उनके कुटुम्बीजन भी एक-एक दो-दो, करके आ बसे । लेकिन इस सामूहिक प्रवास की स्मृति में आज तक उज्जैन में इस जाति के ब्राह्मणों के सामूहिक भोज का नाम 'बारेसी' अर्थात् बारहसौ ही पुकारा जाता है । आज इस अंचल में ये इससे कहीं अधिक हैं लेकिन प्रतीक रूप में इनके भोजों को यही पुकारा जाता है ।

पुराणी-बा उनके साढू थे । यह जमींदारी खरीदने के पूर्व उनसे उन्होंने परामर्श किया था कि खरीदें या नहीं ? और पुराणी-बा ने ज्योतिष के द्वारा उन्हें बता दिया था कि यह जमींदारी उनके लिए अशुभ नहीं होगी । इसीलिए लज्जाशंकर सेठ बिरदीचंद को यह जमींदारी कभी नही खरीदने देते ।

जमींदारी खरीद कर जब वह घर पहुँचे सास-बहू चरखे पर सूत कात रही थीं । बहू उठकर भीतर चली गयी । उनकी पत्नी ने हाथ-पैर धोने के लिए जल की कलशी सामने रख दी । पत्नी का कलेजा धक-धक कर रहा था । वह जानती थी कि गत कई दिनों से इस जमींदारी को लेकर पति के मन में संघर्ष चल रहा है । बल्कि किसी सीमा तक वह इसे जीवन-मरण का प्रश्न तक बना बैठे थे । हाथ-मुँह धोकर बड़ी-सी दालान में डली बँगवई पर बड़ी ही गहरी साँस छोड़ते हुए, तकिये पर सिर टिका अधलेटे हो कर मौन झूलने लगे । पत्नी को लगा कि इनके मुँह से तो नहीं लगता कि सौदा हार आये, लेकिन चुप क्यों हैं ?

—क्या हुआ ?

—क्या होना था ?

—क्या कुछ नहीं होना था ? तब फिर इतने परेशान क्यों रहे ?

—इच्छा की जिजी ! आज भगवान ने मेरी लाज रख ली ।

—तुमने खरीद ली न ?

—मैंने नहीं, तुमने खरीदी ।

इच्छा की माँ बड़ी ही शान्त, पति-परायणा स्त्री थीं । न कभी बड़ा बोलतीं और न बड़ी बात की कामना ही करतीं । क्योंकि बचपन में सौतेली माँ ने उनके मन में जो डर पैदा कर दिया था वह हमेशा-हमेशा के लिए उनके मन में पैठ गया । पति उनसे कहीं अधिक सुन्दर-स्वस्थ । उस पर राजपंडित का कुल । उन्हें अपने इस सौभाग्य पर जीवन भर विश्वास न आया । साथ ही डरती रहतीं क्योंकि विवाह के तुरन्त बाद ही जो-जो यातनाएँ पति, परिवार को गुजरात से लेकर मालवा तक भोगनी तथा उठानी पड़ी उसके कारण वह और सिमट गयीं । उन्हें लगा कि जैसे इतना बड़ा अकाल उनके ही पापों के फल से आया तथा पति को जो घोर कष्ट हुआ उसकी वही निमित्त हैं । इसलिए वह सदा बेंतकी तरह थर-थर काँपा करतीं । यद्यपि लज्जाशंकर बहुत बदल चुके थे । उनके बारे में जो 'यश' गुजरात में था उससे वह बिल्कुल भिन्न हो गये थे । न अब उन्हें अपने रूप, स्वास्थ्य, कुल का घमण्ड ही रह गया था और न ही वह तुनुक-मिजाजी तथा अक्खड़पन जिसके लिए प्रसिद्ध थे । किसी सीमा तक वह चरित्र-

हीन माने जाते थे । और पत्नी को विवाह के पूर्व पति का यह सारा 'यश' सुनने को मिल चुका था । इसलिए वह शुरू दिन से ही अपने को अपदार्थ मान कर ही इस कुल में आयी । जिस दिन विवाह के बाद कुल की देवी की दीपक दिखाया गया उन्होंने मन-ही-मन प्रार्थना की कि वह कैसी भी विषम स्थिति क्यों न आये कभी मुँह नहीं खोलेगी । शायद इसीलिए गत बीस वर्षों में न कभी लुगड़े के लिए, न काँचली (चोली) के एक टुकड़े के लिए ही पति से कहा । वह भी सुनती रहीं कि पुराणी-बा के साथ उनकी बड़ी बहन इसी कस्बे में आ गयी हैं लेकिन अपनी तरफ से उन्होंने एक बार भी न कहा होगा कि दीदी से जाकर मिल आऊँ । लेकिन उन्हें शिकायत का मौका स्वयं न तो पति ने ही और न ननद ही ने कभी दिया । उन के पास क्या है, क्या नहीं है इसकी पूरी जिम्मेदारी ननद पर थी । चूँकि ननद का अपना कोई नामलेवा तक नहीं था इसलिए उनकी कोई कामना तक नहीं थी । लेकिन लज्जाशंकर जहाँ अपने परिवार के लिए सोचते थे वहाँ बहन के लिए भी वह कोई ऐसा पक्का प्रबन्ध कर देना चाहते थे कि कल से अगर कुछ अशुभ हो-हुआ जाए तो अपनी इस बहन को निराश्रित न होना पड़े । इसलिए वह बिना किसी को बताये बहन के परिश्रम की रकम एक तरफ जमा करते जा रहे थे ।

जब पति ने कहा कि मैंने नहीं तुमने खरीदी, तो वह कैसी भर आयीं कि क्या ऐसे पति से डरा जाना चाहिए था ? उन्हें अपने पर ही पश्चाताप होने लगा कि वह मेघ सदृश इस पति को कभी नहीं पहचान पायीं । क्वाँर लग चुका था । तीसरा प्रहर बीते देर हो गयी थी । घर के सामने ही खुले से आँगन के पार बड़ा-सा नागनाथ का मैदान था जहाँ एक बड़े से चबूतरे के सिरे पर दीवार में नागनाथ की मूर्ति बनी हुई थी । जिसके लोबान आदि की गंध दिन भर आया करती । धूप उस दीवार पर अंतिम बार के लिए चमक रही थी ।

——मैं क्या तुमसे अलग हूँ ?

आज बड़ी हिम्मत कर के पत्नी ने यह बात कही । वर्ना पति से बात करने का सम्बन्ध होता है उन्हें यह याद नहीं आता । उन्हें आशा हुई कि देखें पति उनकी बात का क्या जवाब देते हैं । लेकिन पति ने उनकी ओर बस देखा, भर । और वह अपनी प्रौढ़ देह में भी जवान हो उठीं । वह आज ही पहचान सकीं कि पति जब किसी को

वास्तव में देखते रहे होंगे तो वह देखना कितना सुन्दर होता रहा होगा । उन्हें भी लाजो के प्रेम का पता था । कहीं उन्हें लाजो से सहज नारी सुलभ ईर्षा हुई । साथ ही अपने भाग्य को कोसा भी कि हाय, इस पति ने क्यों नहीं आज के पूर्व कभी ऐसा देखा ? आज जब वह अपनी प्रौढ़ देह में भी रोमांचित हो सकती हैं तब भला यौवन के प्रथम में देखा होता तो क्या होता ? और अपना पति ही उन्हें कामदेव का अवतार लगा ।

—मैं जरा पुराणी जी के यहाँ तक हो आऊँ ।

—भोजन कर के जाओ ।

—आज मैं बहुत, बहुत सुखी हूँ इच्छा की जिजी ! . . . .अभी लौट कर आता हूँ ।

और सच तो यह था कि वह पुराणी-बा के यहाँ न जाकर कहीं और जा रहे थे । वह पत्नी से झूठ बोले थे ।

रात ।

लज्जाशंकर देर से तो नहीं पर जल्दी भी नहीं, घर लौटे । घर से निकल कर सीधे गोवर्धननाथ जी के मन्दिर पहुँचे । दिवाली के अन्नकूट के लिए पचास रुपयों की 'सेवा' बोल आये । इसके बाद वह कन्हैया सुनार के यहाँ पहुँचे । कई दिन पूर्व वह कान की दो जोड़ बालियों के लिए कह आये थे । आज सवेरे, शाम तक दे देने के लिए तकादा भी कर आये थे । जिस समय वह उन्हें लेकर चले, इतने प्रसन्न थे कि उन्हें याद आया कि शायद लाजो के प्रेम के दिनों में ही वह इतने प्रसन्न रहा करते थे । लेकिन आज की प्रसन्नता उनके पुरुषार्थ की प्रसन्नता थी । साथ ही वह भाग्य के प्रति भी आभारी थे । वर्ना उनकी बहन का परिवार (अर्थात नन्दन का परिवार) भी देखते-देखते कैसे छिन्न-भिन्न हो गया था । बहन बेचारी पिछले बरस चल बसी । बहनोई को अपने एक मात्र लड़के लोकनाथ (नन्दन के पिता) की चिन्ता ही नहीं थी । वह दिन भर मंडी में लोगों के रुपये, कौड़ियों में भँजाते रहते और जो चार-आठ आने मिलते उससे सन्तोष कर लिया करते । बहनोई से कई बार कहा

कि रावलजी ! न हो साझे में कोई छोटी-मोटी दूकान ही कर लो पर रावल जी महाराज मनमौजी जीव थे। अपनी बड़ी लड़की लक्ष्मी का ब्याह वह पत्नी के सामन ही कर चुके थे। लड़के की चिन्ता करना वह मर्द का काम नहीं समझते थे। अपने भानजे लोकनाथ के लिए वह चिन्ता करते थे लेकिन रावल जी के गुस्से के कारण चुप ही रहते थे। इसका नतीजा यह हुआ कि लोकनाथ पढ़ नहीं सके और दस-बारह के होते, न होते वह एक दूकान पर मुनीमी के लिए बैठा दिये गये। मामा लज्जाशंकर ने सन्तोष की साँस ली।

रात।

लज्जाशंकर लौटे तो आज पहली बार लगा कि घर खाली है। वैसे घर बहुत बड़ा नहीं था। आँगन और सहन के अलावा भीतर दो बड़े-बड़े कमरे थे। बाहर की तरफ दाँये-बाँये एक-एक छोटा कमरा था। वैसे घर कच्चा ही था। हाँ, पीछे की तरफ बाड़ा था जहाँ गाय-भैसें बँधती थीं। जगह तो खूब थी लेकिन कस्बे के बीच देहात का घर था। आसपास लोगों के कस्बे जैसे नये-पुराने घर बने थे, बनते जा रहे थे। अच्छे घर के लिए उनकी भी कामना थी लेकिन इस इच्छा को अभी वह टालते आ रहे थे। और आज जब यही घर उन्हें खाली-खाली सा लगा तो बड़ा अजीब लगा। बँगवई पर उनका बिस्तरा लगा था। वह बारोंमास यहीं सहन में बँगवई पर ही सोते हैं। उन्हें भी आज लगा था, शाम को पत्नी से बातें करते हुए कि उन्होंने अपने मन की बात कभी इससे नहीं की। जो कुछ संघर्ष किया, मन्सूबे बाँधे, पुरुषार्थ किया उसमें उनकी बहन अधिक भागीदार थी लेकिन इसमें दोष किसका? संभवतः उनका भी उतना नहीं क्योंकि उन दिनों वह इससे क्या कहते? क्या पूछते? कितनी अजीब है न, कि सास बन गयी लेकिन सासपना नहीं आया। बहू को बिल्कुल उमा की तरह मानती है।

पति को लौटा देख पत्नी बाहर निकली। लज्जाशंकर ने पगड़ी, दुपट्टा टाँगा और अँगरखे की कस खोलते हुए कहा,

—तुम लोगों ने खा-पी लिया?

—आज क्या हो गया है तुम्हें? खुशी में कायदा भी भूल गये, क्या?

—नहीं भाई! मेरे कारण तुम न खाओ और तुम्हारे कारण बहू न खाये और बहू के कारण उमा न खाये और उमा के कारण...।

उमा का नाम आते ही पत्नी बोलीं,

——अरे हाँ, तुम्हारे जाते ही गामोठ महाराज आये थे।

——क्यों ? फिर कोई उधार की बात करने आये थे ?

——नहीं तो। और मुझसे क्यों करते ?

——नहीं, मुझसे करते। अरे, ताऊ की बुआ के फूफा के चचेरे भाई तुम्हारे हैं कि मेरे हैं वह ?

——आज तुम सच ही बहुत प्रसन्न हो न ?

लज्जाशंकर का मन हो आया कि पत्नी को सीने से लगा लें। वह निश्चय ही ऐसा करते लेकिन बरबस उन्हें ठेस लगी। आज पहली बार उनका ध्यान गया कि पत्नी का एकवस्त्र भी कितना मैला तथा जीर्ण है। बीघों में फैला उनका पुरुषार्थ जैसे दिया तले अँधेरा बनकर उनकी पत्नी के मैले एकवस्त्र में उनका उपहास कर रहा था।

——क्या कपड़े-वपड़े नही है ? किसकी शादी-ब्याह के लिए सहेजे रखती हो ?

——जमींदारी आयी नहीं कि कपड़ों की चिन्ता होने लगी ?

जवाब तो देते लेकिन बहू ने दरवाजे की साँकल बजा कर सूचित किया कि थाली परस दी गयी है।

आज उन्हें हर चीज खटक रही थी। जैसे यही लो कि इतने बड़े घर में चिमनी का प्रकाश कितना कम होता है। बात उन्होंने पास में बैठी रोटियाँ परसती पत्नी से नहीं कही वरन रोटियाँ बेलती बहू से कही,

——क्यों बेटा ! चिमनी की रोशनी से घर में कितना कम प्रकाश होता है न ? मैं रोज तुम्हें चिमनी के प्रकाश में जब रामायण पढ़ते देखता हूँ तो लगता है कि इस तरह तो तुम्हारी आँखें बड़ी जल्दी खराब हो जाएँगी।

बहू ने घूँघट की आड़ से ससुर जी को देखा। यह बहू, वासन्ती, उज्जैन के सुकुल कुल की थी। वासन्ती, इस घर के शांत वातावरण की संज्ञा बन कर ही आयी थी। वर्ना उज्जैन की लड़की, और वह भी 'भागसीफला' की ? राम कहो। भगवान न करे घर में कोई वहाँ की लड़की आये। पूरा कुटुम्ब अड़का (छुआ) जाए। पत्थर से शादी कर दो लड़के की लेकिन भागसीफला वालों की लड़की लाकर फजीहत कराना है। लज्जाशंकर जिस समय यह सम्बन्ध कर रहे थे पास-पड़ोस सभी ने कहा कि इच्छा जैसे गऊ लड़के के गले में साक्षात चुड़ैल बाँधना हो तो यह रिश्ता करना लेकिन लज्जाशंकर अपने साढू भाई पुराणी जी की बात और भगवान की बात एक समझते थे। पुराणी जी ने कहा था,

—देख भई लज्जा ! वासन्ती में खोट नहीं है, हाँ उसकी माँ को सुकुल जी की माँ ने ऐसा परेशान किया कि बेचारी गले में फाँसी लगाकर मर गयी। तुम तो जानते ही हो महादेव सुकुल को। सवेरे से स्टेशन पहुँच गये। दो-चार यजमान पकड़े और दिन भर रामघाट-भैरोंगढ़ में पूजा, क्रियाकर्म करवाते फिरे। साँझ को भाँग पीकर गोपाल मंदिर में जा बैठे। आधी रात घर लौटे। अब घर में चाहे चूहे लोटें या मालपूआ तैयार हो, उनसे कोई सम्बन्ध नहीं।...लेकिन मैं चाहता हूँ कि इच्छा के लिए यह लड़की सुकुल से माँग लो। भागवान है।

और जब इच्छा की बरात लेकर लज्जाशंकर उज्जैन गये थे तो किसी को प्रसन्नता नहीं थी। स्वयं इच्छा की माँ भी यह संबंध नहीं चाहती थीं लेकिन वह थीं ही क्या ?

और आज वही वासन्ती उमा से अधिक बेटी थी।, इच्छा से अधिक सास-ससुर की दुलारी थी। पति की बात सुनकर पत्नी ने कहा,

—तो बहू के लिए कोई चाँद घर में ला दो।

—हमारी बहू किसी चाँद से कम है ?

वासन्ती ससुर की प्रसन्नता अच्छी तरह बूझ रही थी।

—अरे हाँ, वो गामोठ महाराज क्यों आये थे ?

—उमा के लिए वर खोजा है उन्होंने।

—होगा कोई पोथी-पत्रा वाला।

—जी नहीं। कह रहे थे नरसिंहगढ़ वाले राजपुरोहित के खान्दान में कोई लड़का है।

—हमें वहाँ नहीं करना।

—क्यों ?

—अरे वो लड़का मैं जानता हूँ। वो उन राजपुरोहित जी का भतीजा है। लड़का वैद्यकी करता है, बस।

—तो क्या बुराई है ?

—अरे, कुछ और भी होना चाहिए।

—क्या होना चाहिए और ? जब इच्छा की शादी की तब बहू के घर वालों ने तो नहीं कहा कि इन देसाइयों के पास दो-चार बीघा खेत और गाय-भैंसों के अलावा क्या है ?

—लेकिन उमा अभी है ही कितनी ?

—ना बाबा, लड़की को मैं यों ही कितनी-उतनी कह कर नहीं उड़ा सकती। भादों की नदी का क्या भरोसा ?

——लेकिन गामोठ महाराज को ऐसा क्या मीठा है ?
——तुम्हें तो उन पर हमेशा शक रहता है। एक बार बेचारे पचास रुपये क्या नहीं दे पाये कि हमेशा के लिए अपना पानी ही खो बैठे।
——हाँ भाई, घुटना पेट की ओर ही मुड़ता है। भले ही पेट कैसा ही हो, भाई जो ठहरा, भले ही ताऊ की बुआ के फूफा के. . . .।
और अपनी बात अधूरी छोड़ हँसते हुए उठे खड़े हुए। सास और बहू दोनों ने ससुर के विनोद को संभवतः पहली बार देखा, सुना और समझा भी।

——मैं कहता हूँ यह आज पैर पलोटने क्यों बैठी हो ?
——जमीदार जो हो गये।
जीवन में पहली बार इतनी निश्चिन्तता से लज्जाशंकर अपनी बँगवई पर पैर पसारकर सोये थे। वे मूलतः विलासी प्रकृति के व्यक्ति थे लेकिन जब दुःसमय आया तो किसी को विश्वास नही रहा होगा, और तो और स्वतः को भी कि वह सहसा विलास के चीवर को देखते-देखते फेंक कर बड़े विदेह भाव से कमर कस कर समर के लिए खड़े हो जाएँगे। उनकी बहन देखती ही रह गयी थीं कि क्या यह वही लज्जाशंकर हैं जो दिन-दिन भर नदी-तट पर बैठे हुए सिवाय बाँसुरी फूँकने के और कुछ नहीं करते थे ? और अब किसी भी पक्के किसान से पंजे लड़ा सकते हैं। लेकिन आज पहली बार लगा कि वह इसी सुख और निश्चिन्तता के लिए ही तो गत बीस बरसों तक न दिन को दिन समझा और न रात को रात——तब भला आज ऐसे लेटे हैं तो क्या बुरा है ?
——तो तुम भी तो जमींदारिन हो गयी।
——जमींदारिन का भाग मेरा नही।
——क्यों ?
——क्यों क्या ? बस, मैं जानती हूँ कि नहीं।
——अच्छा मेरे पास आओ।
——क्या बात है ?
——सुनो तो।
——अरे पगला गये हो क्या ? भीतर बहू सोयी है।
——ओ हो, तो मैं कौन तुम्हें खाये जा रहा हूँ। जरा अपना कान बढ़ाओ।

—कौन सी बात कहोगे ?

—यह तुम अपने कान से ही बाद में पूछ लेना ।

—ना बाबा, जाने क्या फूंक दो ।

—मैं नहीं जानता था कि तुम ऐसा अच्छा तुर्की-बतुर्की जवाब-सवाल कर लेती हो ।

—कभी जानने की कोशिश ही नही की ।

बात मर्म की थी, सही भी थी और लज्जाशंकर को लग भी गयी । सच, संघर्ष ने कभी यह मौका ही नही दिया कि पत्नी को प्रेम भी दिया जाना चाहिए इस बारे में सोचते । वह लज्जित हो गये । सिरहाने रखी बालियों की ओर उठा हुआ उनका हाथ अनजाने ही ठहरा रह गया । पत्नी को भी लगा कि पता नहीं आज जब कि पति इतने प्रसन्न थे उसने पहली बार मौका मिलते ही शिकायत करनी शुरू कर दी । अपने को ही धिक्कार उठी कि पता नहीं पति ने क्या सोचा होगा । बेचारे जीवन भर इसी एक सुख और निश्चिन्तता के लिए ही तो बैल की तरह खटे और आज जब सुख का वह क्षण आया तो यह अपने दुखड़े सुनाने बैठ गयी—छिः, छिः ।

—हाँ, वह कान वाली क्या बात थी ?

—गंगा !

लज्जाशंकर ने आज पहली बार पत्नी को उसके नाम से पुकारा और वह भी अपराध भाव से । पत्नी समझ ले गयी । वह और भी विनम्र होती हुई बोली,

—आज तुमने मुझे पुकारा तो । सच मानो, मुझे तीनों लोक की सम्पदा मिल गयी ।

—मुझसे भूल हुई गंगा !

—लेकिन दोष किसी का नही है, मैं जानती हूँ ।

और पत्नी के सूने कानों में जाने कितने बरसों बाद बालियाँ झूल उठी । बालियाँ थी कि कानों में पुतलियाँ बनी नाच रही थीं ।

—यह बहू के लिए हैं, ठीक रहेंगी न ?

पत्नी ने देखा कि पति केवल स्वतः ही सुखी नही हुए हैं, परिवार के लिए भी सुखी हुए हैं ।

—कल इच्छा आएगा न ? हाट है ।

—हाँ । क्यों ?

—बच्चों को दिवाली पर आने के लिए लिखवा दूं । ठीक है न ?

—आज तो तुम हर काम पूछ-पूछ कर रहे हो ।

—इसलिए कि समझदारी के काम तो अब शुरू हो रहे हैं। कल तक खेत गोड़ने और गाय-भैंस दुहाने में तुमसे क्या पूछता ?

—बड़े चतुर हो।...तो फिर उमा के लिए....

—हाँ भाई, नरसिंहगढ़ चला जाऊँगा। राजपुरोहित का कुल है।

—तो बात अब समझ में आयी।

—हाँ और क्या, देर से ही बात और व्यक्ति पहचान पाता हूँ।

लगते फाल्गुन के लगन निकले और उमा का ब्याह हो गया। उन्हीं गर्मियों में सूर्यशंकर ने मेट्रिक पास किया। सारे राज्य में धूम मच गयी। पूरे राज्य में गिनती के व्यक्ति थे जो मेट्रिक पास थे। अखबार में फोटो छपा और रातोंरात पंडित लज्जा-शंकर देसाई कस्बे ही नहीं राज्य भर में जाने लगे। सेठ बिरदीचंद, तहसीलदार सभी उन्हें बधाई देने आये। जिस सेठ पूनमचंद की जीन में बीस बरस पहले वह मजूरी करते थे वह भी उन्हें बधाई देने आये। छोटा रत्नशंकर भी अंग्रेजी मिडिल पास हो गया था। सरकार ने अपने राज्य के इस मेट्रिक पास विद्यार्थी को छात्रवृत्ति देकर अफसरी की शिक्षा दी और जिस दिन सरकारी घोड़े पर बैठ कर सूर्यशंकर परेड वाले मैदान पर पहुँचे ही थे कि पूरे कस्बे में तहलका मच गया था। सूर्यशंकर आ रहा है यह तो पिता को मालुम था लेकिन बीमार होने के कारण स्वयं बेरछा रेलवे स्टेशन तक न जा सके थे। इच्छा को दमनी देकर भेजा था। लेकिन लज्जा-शंकर यह भूल गये थे कि अब उनका लड़का जिलाधीश हो गया है। उन्हें लिवाने के लिए तहसीलदार पूरे साजो-सामान के साथ बेरछा में उपस्थित था।

जिस समय सूर्यशंकर ने बँगवई पर लेटे पिता के चरण छुए, पिता का कण्ठ भर

आया। उन्हें अपने भाग्य पर विश्वास नहीं हो रहा था कि जो वह देख रहे हैं, जो सुन रहे हैं वह सच है।

—शंकर !

—बापू !

—क्या तू सच ही....?

—सब आप, माँ और बुआ के आशीर्वाद हैं।

दरवाजे के पीछे खड़ी माँ और बुआ उसी शंकर को देख रही थीं जो बचपन में इसी सामने के नागनाथ के मैदान में देर रात तक पतंग उड़ाया करता था। साथ में आये तहसीलदार आदि दूसरे लोगों की सहन में भीड़ थी। इच्छा ने सब के बैठने का प्रबन्ध कर दिया था। लोग लज्जाशंकर से उनकी बीमारी के बारे में चिन्ता प्रकट कर रहे थे। और वह अत्यन्त विनम्र हो कर सब की बातों का जवाब दे रहे थे ;

और अब घर तीन भागों बँट रहा था। बुआ को तो रत्नशंकर के साथ वापस गवालियर जाना था ही। शंकर के साथ उनकी माँ जाएगी। शंकर की तैनाती नीमाड़ जिले में हुई। यहाँ पिता लज्जाशंकर और बहू ही रह गये। इच्छाशंकर अपनी जरीब, घोड़ी और बन्दोबस्त का पीला बस्ता लिये गाँव-गाँव भटक ही रहे थे।

बेरछा तक पूरा देसाई-परिवार, लोकनाथ का परिवार तथा पुराणी जी का परिवार सभी गये। सवेरे उज्जैन तरफ की गाड़ी में शंकर और पत्नी को रवाना किया तथा शाम को भोपाल तरफ की गाड़ी में रत्नशंकर और बहन को रवाना किया। रात जब घर पहुँचे तो उस दिन घर जितना उन्हें खाली लगा था आज वह खाने दौड़ रहा था। उन्हें नहीं पता था कि लक्ष्मी आती है तो बहुत-कुछ छिन भी जाता है। अब वह एक प्रतिष्ठित व्यक्ति थे लेकिन उनका परिवार उनसे छिन गया था। घर में वह और बहू ही थे। पूरा-पूरा दिन हो जाता बातें किये को। बहू समय पर साँकल बजा कर रोटी बन गयी की सूचना दे देती और वह 'ब्रह्मार्पण' करके अपने ही गस्से की आवाज सुनते हुए खाते रहते। हाट के दिन इच्छा भी आ जाते तब

जरूर घर में वाक्य सुनायी पड़ते । वर्ना ग्वाला नियम से सवेरे आता और ढोरों को माल में ले जाता । हाली-मवाली बँधे-बँधाये ढंग से आते और हल, बीज आदि चीजें लेकर चले जाते । अब उन्हें उत्साह नहीं लगता । पार्वती नदी के पास एक अच्छी जमींदारी बिक रही थी । लोगों ने कहा कि ले लो लेकिन उनका मन ही नहीं करता था । क्या होगा ? एक लड़का गाँव-गाँव घूमता है । दूसरा लड़का नर्मदा किनारे जा बैठा, तीसरे का भी क्या भरोसा ? अफसर बन गया तो चंबल किनारे पहुँच जाए । तब फिर किसके लिए यह सिर दर्द मोल लें ?

लेकिन लोकनाथ बोले कि मामाजी ! दुअन्नी भर मैं भी ले लूँगा उसमें से, आप ले लें । और लज्जाशंकर ने सिर्फ भानजे के पैर भी जम जाएँ सोच कर बीस कोस दूर की यह जमींदारी खरीद ली । इस बार नयी बन रही जीन का बोहरा मालिक इसे खरीदना चाहता था लेकिन पंडित लज्जाशंकर देसाई को जब बोली लगाते देखा तो वह सिटपिटा गया । नतीजा यह हुआ कि पहली बार आठ सौ के जो चार हजार देने पड़े थे इस बार पाँच हजार के उन्हें तीन ही हजार देने पड़े ।

इस बीच बहन बराबर शंकर का विवाह कर देने पर जोर डाल रही थीं । और जाति की जो भी लड़की आती शंकर उसे नापसन्द कर देते । नतीजा यह हुआ कि लोग भड़क गये । लज्जाशंकर के सामने समस्या थी । वह जानते थे कि शंकर बचपन ही से तेज मिजाज का रहा है तब भला अब वह नाक पर मक्खी बैठने देगा ? लेकिन इस बार बरसों के बाद पंडित लज्जाशंकर देसाई ने ऐसी गलती की कि पुत्र और पिता में जीवन भर के लिए शत्रुता हो गयी । यदि ऐसी भूल इच्छा के मामले में या उमा के मामले में की होती तो कोई बात नहीं थी लेकिन शंकर जैसे प्रखर व्यक्ति के मामले में गलती हुई । सूर्यशंकर, जो जेठ के सूर्य की भाँति तपने वाले व्यक्ति थे, भला कैसे क्षमा करते ? और वह भूल यह थी कि एक अत्यन्त साधारण गरीब घर की लड़की के लिए वचन दे बैठे । लड़की वाले ने आकर लज्जाशंकर और उनकी पत्नी के पैरों पर पगड़ी रख दी । लज्जाशंकर में अभी भी दया-माया थी । पैसे के प्रति वितृष्णा नहीं तो मोह तो था ही नहीं इसलिए बिना किसी दान-दहेज के लड़की ले बैठे । शंकर को दान-दहेज की पर्वाह नहीं थी लेकिन ब्याह के दूसरे दिन जब सुहागरात के लिए वह गये तो जिस फुँफकारते हुए रूप में वह तुरन्त लौट आये उसे देख कर लज्जाशंकर और पत्नी दोनों डर गये । उन्हें भी धोखा हुआ था । लड़की केवल असुन्दर ही नहीं थी बल्कि माता के दागों से चेहरा भयंकर लगता था । लेकिन अब क्या हो सकता था ? अभी मोड़ (सेहरा) और कंकण भी नहीं छूटा था कि शंकर अपने जिले के लिए चल पड़े । माँ ने पैर पकड़

लिये थे, बुआ ने लाख समझाया कि मेहमानों से अभी घर भरा है, सब को चले जाने दो लेकिन शंकर, एक वेग की भाँति प्रवह होकर ही रहे। उनके इस विद्रोह में उनकी भाभी अर्थात इच्छा की पत्नी और रत्नशंकर ने साथ दिया। वासन्ती ने देवर जी का दूसरा ब्याह करने की सलाह दी लेकिन शंकर तब तक विन्ध्या उतर चुके थे। मेहमान इस पंचायत में साक्षी नहीं रहना चाहते थे सो सब समय के पूर्व ही चले गये। अभी लज्जाशंकर कुछ निर्णय करें कि अब क्या किया जाए इसके पूर्व ही शंकर के एक पत्र ने एक लकड़ी के दो टुकड़े कर दिये कि आप अपनी इस बहू को अपने मायके हमेशा के लिए भेज दें, मैं आजन्म इन्हें बीस रुपये महीना दूँगा तथा मेरे दूसरे विवाह की कभी चर्चा मत करिएगा।

और देसाई वंश में पहली बार शोक छाया। लज्जाशंकर के लिए जाति में मुँह दिखाना मुश्किल हो गया। बेचारी पत्नी ने तो खाट ही पकड़ ली। रत्नशंकर मेट्रिक कर चुका था। अब वह इन्टर में था। बोर्डिंग में रह सकता था इसलिए तय हुआ कि बुआ जाकर शंकर के पास रहें। और एक बार फिर गाड़ी चरमरा कर चल निकली। शंकर के ससुर ने जब देखा कि लड़की को बिना ले जाये मुक्ति नहीं तब वह चुपचाप उसे ले गये। लज्जाशंकर को लगा कि अब पानी वास्तव में गहरा हो गया है।

लज्जाशंकर नहीं जाना चाहते थे पर पत्नी ने जिद की कि पिछला सिंहस्थ भी वह न जा सकी थीं इसलिए इस बार जरूर जाएँगी। और पत्नी तथा बहू को लेकर लज्जा दमनी में चले। इच्छा घोड़ी पर रहे। तय हुआ कि निशान का नहान करके के लौट आएँगे। कारण कि एक मराठा सरदार फड़नवीस की जायदाद बिकने वाली थी। वह उसे देख आये थे। लोकनाथ को भी जरूरत थी। एक हिस्सा उसे दे देंगे बाकी रख लेंगे। जायदाद की हालत अच्छी तो नहीं थी लेकिन जगह खूब थी तथा मौके की थी। वैसे सेठ केसरीमल और यति महाराज दोनों उसे खरीदना चाहते थे लेकिन लज्जाशंकर ने उन्हें राजी कर लिया था। वे दोनों यह सोचकर चुप रह गये कि जिलाधीश सूर्यशंकर पता नहीं किस दिन इस जिले में ही आ जाएँ और तब मुश्किल हो। ऐसी स्थिति में क्यों न भलाई ले लें ?

लेकिन सिंहस्थ में पहुँच कर आज-कल करते-करते बीस दिन हो गये। वह क्या जानते थे कि वह किस विपदा के लिए यहाँ ठहराये जा रहे हैं। सिंहस्थ के मेले में हैजा फैल गया। लज्जाशंकर और इच्छा शंकर घर के लिए भागें-भागें कि सास-बहू दोनों चल बसीं। लज्जाशंकर के हाथों के तोते उड़ गये। जो कभी सोचा नहीं

था वह इस अविश्वसनीय ढंग से होगा और वह भी ऐसे हठात्—और लज्जा बॅगवई पर बैठ कर फूट पड़े । इच्छा के निकट पिता, साक्षात कर्म, धैर्य और साहस के प्रतीक थे । आज जब उन्हें ही इस प्रकार रोते देखा तो वह जड़ हो गये । लेकिन लज्जा अपनी पत्नी को नही बहू को रो रहे थे । वासन्ती इस घर के कई सीत-पाले झेल चुकी थी । उन्हें विश्वास था कि जिस दिन वह घर सम्हालेगी उस दिन भी यह घर, यह कुल उसी तरह फलता-फूलता रहेगा जैसा कि गंगा के जमाने में हुआ । लेकिन यह तो गजब ही हुआ था कि गंगा और वासन्ती दोनों एक साथ कैसी निर्ममता के साथ चली गयीं, सब को अनाथ कर गयीं ।

और बहन ने अगत्या घर सम्हाला । प्रश्न था कि इच्छा का दूसरा विवाह पहले कर दें या रत्नशंकर का ? जब बुआ ने रत्नशंकर को समझाया तो वह मान गये । यह उनके बी० ए० का प्रथम वर्ष था । वह देखने-सुनने में भी सब से अधिक सुन्दर एवं प्रभावशाली थे । उनमें इच्छाशंकर और सूर्यशंकर दोनों का मिश्रण था । वह प्रखर अवश्य थे लेकिन आँखों मे शील भी था । दोनों भाइयों से उनमे अन्तर यह था कि वह साहसी थे लेकिन सूर्यशंकर की भाँति दुस्साहसी नहीं थे । वह विनम्र थे लेकिन इच्छाशंकर की भाँति भीरु नही थे । इसीलिए परिवार की परिस्थिति समझ कर वह विवाह के लिए तैयार हो गये और गर्मियों में रत्नशंकर का विवाह हो गया । लेकिन बुआ और लज्जाशकर यह भी जानते थे कि रत्नशंकर तो किसी दिन बड़ा अफसर होकर चला जाएगा तो उसकी बहू भी चली जाएगी तब यह घर कौन सम्हालेगा ? इसलिए इच्छा का दूसरा विवाह अनिवार्य है और इच्छा इस बार फिर उज्जैन ही से आचार्य घर की लड़की ले आये ।

कुछ दिनों पूर्व घर की जो चूलें तक हिल गयी थी वे फिर जम गयी और लज्जाशकर ने किंचित शांति का अनुभव किया । इस बीच वह फड़नवीस वाली जायदाद के मामले में ढीले पड़ गये थे क्योंकि उन्हें लगा कि जिसे खरीदने के पूर्व यह

हालत हो गयी उसे खरीद कर क्या होगा ? लेकिन इस बार बहन ने नहीं माना । मणी ही ने अभी तक उनका पूरा साथ दिया था । वह उनके तेजस का नारी रूप थी । और लज्जाशंकर ने आठ हजार में वह जायदाद खरीद ली । खरीदते समय ही उत्तर ओर का हिस्सा जो नेरे के पार पड़ता था उसे लोकनाथ रावल के नाम करवा दिया तथा दक्षिण ओर का हिस्सा जो गुफावाले मंदिर की तरफ पड़ता था उसे बहन के नाम कर दिया । मणी पहले तो कुछ नहीं समझीं लेकिन जिस दिन देसाई परिवार अपने इस नये घर में पहुँचा और बरसों से बंद पड़े कमरों में जब पहली बार दीपक जलाया गया तो भाई लज्जाशंकर ने बहन के नाम जो रुपये जमा किये थे, वे तथा मकान की रजिस्ट्री दोनों सामने रख दिया ।

—ये किसलिए दादा ?

—मकान और पैसा किसलिए होता है ?

—लेकिन मैं विधवा, इनका क्या करूँगी ?

—पैसे से दान-पुण्य किया जाता है ।

—लेकिन मकान !

—मान ले मणि ! किसी दिन मैं न रहा और लड़के न मानें...

—दादा ! शंकर और रतन की तो नहीं कहती पर मेरा इच्छा बना रहे और... अभी तुम क्यों न रहोगे ? नाती-पोते कौन खिलाएगा ? उमा के ससुर की चिट्टी आयी है कि उमा के...

—सच ? कब ?

—इसी माघ में दिन पूरे हो रहे हैं । मैं उसे बुलवा रही हूँ ।

—लेकिन यहाँ तुम अकेली क्या कर सकोगी मणि ?

—क्यों ? लड़की का पहला जापा (गर्भ) है. क्या समुराल में होगा ? लोग माजने में नहीं थूकेंगे ? पहला जापा तो मायके में ही होता है ।

—लेकिन कैसे-क्या होगा ?

—अरे तुम क्यों चिन्ता करते हो ? इच्छा की बहू है, रतन की बहू है ...

—लेकिन अभी ये तो बच्चियाँ हैं ।

—तो लोकनाथ की बहू तो बच्ची नहीं है । उनका घर सहेजते-सम्हालते मैंने पसीना एक किया है तो किस दिन के लिए ?

—तुम जानो ।

—मैं तो जानूंगी ही । लेकिन एक बात सुन लो ।

—क्या ?

––यह घर जो मुझे दिया है यह मेरा ही है न ?
––केवल वही नहीं, यह भी तेरा ही है मणि !
––ना, मैं किसी दूसरे मतलब के लिए पूछ रही हूँ ।
––कौन सा मतलब ?
––आज नहीं, फिर कभी बताऊँगी ।

और उमा का लड़का ऐसा भाग्यवान हुआ कि उसके पिता को राजपुरोहित जी के मरने पर राजपुरोहिती मिली और मामा रत्नशंकर बी० ए० में प्रथम श्रेणी में पास हुए । लज्जाशंकर ने बड़े ही गाजे-बाजे के साथ जमाई और लड़की को नाती के साथ बिदा किया । एक प्रकार से यह दुहरा उत्सव था । इस मकान में आने, तथा नाती के होने की प्रसन्नता थी । उमा अपने भाई रत्नशंकर के आने तक रुकना चाहती थी लेकिन अपनी ससुराल सें वही सब कुछ थी इसलिए उसे घर लौट जाने की जल्दी थी, साथ ही रत्नशंकर परीक्षा के बाद ही सरकार के साथ दक्षिण की यात्रा पर गये हुए थे । लज्जाशंकर सचमुच ही भाग्यवान थे क्योंकि वे ही प्रथम व्यक्ति थे कि उनका लड़का ही राज्य का एकमात्र बी० ए० पास व्यक्ति था । निश्चय ही वह शंकर से भी बड़ा अफसर बनेगा । एक बार फिर लज्जाशंकर अपनी गृहस्थी के वटवृक्ष की नयी फलती-फूलती शाखाओं में प्रशस्त एवं विराट हो रहे थे । यद्यपि कुछ प्रमुख शाखाएँ सूख गयी थीं लेकिन वंशवृक्ष धरती में जड़ें जमा चुका था । बहन ने यह भी सूचना दी कि इच्छा की बहू के भी पैर भारी हैं । उन्हें सब कुछ प्राप्त था केवल शंकर का ही शूल बराबर खटकता रहता था लेकिन इस बारे में वह बिल्कुल निरीह थे ।

लेकिन इस बीच एक ऐसी घटना घटी कि जो लज्जाशंकर को दस बरस बुढ़ा गयी । वह उसके बाद ऐसे चुप हुए कि लोग पहचान नहीं पाते थे कि यह वही लज्जाशंकर हैं जो अपनी काठियावाड़ी पगड़ी, पतली मूँछें, दुपट्टे और अँगरखे में तनकर चला करते थे । रंग भी एकदम सँवराय गया । और वह घटना थी रत्नशंकर की मृत्यु । तार से केवल यही सूचना आयी कि समुद्र में बह गये । जिस समय तार आया घर पर वह अकेले ही थे । वह इच्छा के बारे में सोच रहे थे कि क्यों यह इतना वीतरागी है ? क्यों नहीं यह उनके कारोबार में हाथ बँटाता ? लेकिन इच्छा से कोई बात कहलवा लेना विगत को लौटालना

था। इच्छा में न कामना ही थी, न वांछा ही। वह एक स्वीकृत सन्तोष थे जो विवशता के परिणाम थे। लेकिन वह विवशता क्या थी इसे और कोई नहीं जानता, क्योंकि कभी भी इच्छा ने उसे व्यक्त या आभासित तक नहीं होने दिया। तो, डाकिया जिस समय तार लेकर आया उन्हें अज्ञात में ऐसा लगा कि कोई अपशकुन घटा है। और उन्होंने अत्यन्त भारी मन से तार ले लिया। तार इसलिए भी नहीं खोला कि वह 'इंग्रेजी' में होगा और उसे किसी से पढ़वाना ही होगा। किससे पढ़वाएँ ? इस बारे में कुछ भी निर्णय न कर सके। कुछ देर तो वह असंपृक्त बने बॅगवई पर बैठे रहे। अपरान्ह धूप सेरी से जा चुकी थी। तीसरे प्रहर की शांति सेरी में व्याप्त थी। बहन और बहुएँ लोकनाथ के घर पर थीं। सोचते-सोचते 'कचहरी' में सहसा उन्हें घना अँधेरा लगने लगा और चौंक कर जैसे ही सचेत हुए तो उन्हें यह बड़ा सा घर पहली बार भयावना लगा। उन्होंने कपड़े पहने। दरवाजा उढ़काया और लोकनाथ के घर खबर दी कि वह अभी आते हैं और तारघर की ओर बढ़ गये। तारबाबू जैसे उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्हें आते देखा तो कुर्सी छोड़ खड़े हो गये।

––जरा तार पढ़वाना था।

लज्जाशंकर का प्रयोजन वह जानते थे लेकिन सहसा कुछ न कह सके।

––हाँ, हाँ, बैठिए।

तार आगे बढ़ाते हुए पूछा,

––क्या लिखा है ? कहाँ से आया है तार ?

––अब बात यह है कि तार वगैरा से पूरी बात तो पता नहीं चलती है।

––कौन सी पूरी बात ? आप बात तो बताइए ? क्या शंकर का तार है ?

––जी नहीं।

––तो फिर नरसिहगढ़ का होगा।

––जी नहीं, तार मद्रास से आया है।

––रतन का है ? क्या लिखा है ? रुपये मँगवाये हैं क्या ?

और जिस समय तार बाबू ने बताया कि रत्नशंकर नहीं रहे उस समय लज्जा-शंकर की सारी इन्द्रियाँ जैसे पत्थर की हो गयी थीं। पहले तो सुना ही नहीं। या सुना तो समझ ही नहीं सके। और समझे भी तो सम्बन्ध नहीं स्थापित कर सके। और सम्बन्ध स्थापित कर सके तो अनुभव नही कर सके। और अनुभव कर सके तो उसकी तीव्रता को नहीं जान सके। केवल यही लगा कि एक

बड़ी सी चट्टान थी जो टकरायी और दर्द, पीड़ा के अनुभव के पूर्व ही अचेत कर गयी । और अचेत तो मुक्ति ही है, चेतनजित । लेकिन चेतना लौटते ही उन्होंने सबसे पहले अपने को समेटा और तारघर से रवाना हुए । उन्होंने बरबस कुछ काल तक के लिए बिल्कुल सोचना स्थगित कर दिया था । सोमवारा बजार होते हुए वह सीधे नदी की तरफ बढ़े । वह किसी तरह रुद्रेश्वरी मंदिर पहुँच जाना चाहते थे । जिस समय सड़क छोड़ वह नदी के पेटे वाले ढलान की तरफ बढ़े, धूल ही धूल उड़ रही थी । जंगल से ढोर लौट रहे थे । उनकी गलघंटियाँ चारों ओर वातावरण को जगा रही थीं । औरतें पानी के बेवड़े लिये नदी से आ रही थी । वातावरण में इतनी धूल थी कि गले में भर उठी । लेकिन वह खाँसी दावे हुए थे । और जब इतनी बड़ी बात वह दाबे हुए थे तब भला ऐसी खाँसी की क्या बिसात ? और थोड़े दिनों से भले ही वह इस धूल के अभ्यस्त न रहे हों मगर कभी यही धूल उनके अन्तर तक में समा जाती थी । वह इसी धूल से ही बने थे । नदी की कगार खूब हरी तथा गहरी थी । बंबई-आगरा सड़क का बड़ा सा पुल बड़ी ऊँची महराबों में खड़ा था । वह जब यहाँ आये थे तब यह पुल और सड़क दोनों बन रहे थे । कुछ दिन यहाँ भी काम किया था । और क्षणान्त में पूरा जीवन नाच उठा । सड़क बड़ी ऊँचाई पर से होकर जा रही थी । वह उसकी चढ़ाई चढ़ गये । चारों ओर का सब कैसे नीचा हो गया । सड़क पर पहुँच कर दखा कि नदी, नदी का जल, माधोघाट, पानी पीते ढोर, गगरे माँजती औरतें कितने नीचे रह गये थे । सड़क बेंत की तरह सीधी दौड़ती हुई नदी पर खिंची थी । दूसरी ओर रुद्रेश्वरी का श्वेत मंदिर अपनी एकान्त भव्यता में मौन खड़ा था । इस मंदिर का जीर्णोद्धार उनके ही प्रयास से हुआ था । सड़क से नीचे उतरकर वह मंदिर में पहुँचे । उन्हें आया देख पुजारी ने स्वागत करना चाहा । वह दरी लेने गया लेकिन उन्होंने अबोले ही रह कर हाथ से मना कर दिया । पता नहीं कभी-कभी मौन में आदेश की इतनी बड़ी शक्ति होती है कि उसका उल्लंघन सामने वाला पूर्वापर संबंध कुछ न जानते हुए भी नहीं कर पाता ।

पहले उन्होंने दर्शन किया । देवी अपने पूजादीप के साथ शांत आसित थीं । थोड़ी देर निर्विकार ही खड़े रहे । दुर्गापाठ मन ही मन करते रहे । उसके बाद जाने कैसे पूछ बैठे ,

—माँ ! क्या यह सच है ? क्या तुम्हें मुझ से अधिक आवश्यकता थी रतन की ? उसके बजाय क्या मुझे नहीं बुला सकती थीं ? माँ !!

और आँखों में जल छलछला आया ।

वह बढ़े और देवी पर एक ताजा फूल लाकर चढ़ाया, उपरान्त हाथ जोड़े विनम्र, हो बैठे रहे । उन्हें विश्वास था कि देवी उत्तर देंगी ।

——माँ ! उसकी बहू का अब क्या होगा ? क्या कहा ? अपना-अपना भाग्य ? लेकिन सब को क्या कहूँगा ?

इस तरह वह अपने से ही बुदबुदा रहे थे और उत्तर में जैसे स्वतः बोल भी रहे थे ।

पर अब वह अपने से कुछ सोचना चाह रहे थे और वह मंदिर के पीछे की तरफ निकल आये जो कि नदी की तरफ पड़ता है । नदी की क्षीण धारा करवत की तरह रूप लेती मुड़ी हुई थी । पार नदी की मिट्टी में कुम्हारों के चाक, ईटें, खपरा आदि सूख रहे थे । नदी के मोड़ के वहाँ स्मशान था जहाँ कि इस समय कोई चिता चल रही थी । स्मशान के टिन-शेड में कुम्हारों के गधे बँधे हुए थे । इस पार, ठीक मन्दिर के नीचे काली चट्टानों के बड़े-छोटे ढूहों में से एक कँकरीली गरवट बड़ी विनम्रता के साथ बचती-बचाती भिक्षाभाव सी चली जा रही थी । पार के पेड़ों के ऊपर तक साँझ का पहला सन्नाटा था । पूर्व का आकाश धुले नील बिल्लौरी सा फैला हुआ था ।

वह चाहने लगे कि कोई इस समय यहाँ हो जिससे वह बातें कर सकें क्योंकि वर्ना जो बात बारंबार घिर रही थी वह उन्हें टुकड़े-टुकड़े कर रही थी । रतन अब नहीं रहा ? मगी, इच्छा, शंकर और. . .जब रतन की बहू को मालुम होगा कि वह अब नहीं रहा. . .तो ??

और उन्हें लगा कि कैसे एक-एक करके लोग अब जाने लगे हैं । कभी इसी तरह ये आये भी थे । कैसे जवान-जवान जा रहे हैं जबकि अभी वह बैठेही हुए है।. . .रतन ! ! . . .आज पहली बार अपना ही एक अंश खोकर कैसे मणि खोये सर्प की भाँति विवश हो गये थे । सीने में जाने कैसा लग रहा था जैसे जिस दिन रतन गया है उस दिन के बाद के सारे दिन मिटा दें और हमेशा-हमेशा के लिए उस दिन के बाद कोई दिन ही न होने दें । विश्वास नहीं हो रहा था कि रतन आज खो गया । घर जाते जाने कैसा डर लग रहा था । वह थोड़ी देर बाद के कुहराम की कल्पना से सिहर रहे थे । उनका बस चलता तो वह सीधे यहाँ से कहीं दूर चले जाते, ऐसे कि जिसमें रतन की बहू तथा दूसरे सारे लोगों का आर्तनाद न सुनायी पड़े । लेकिन यह कैसे हो सकता है ? जिनका हँसना आपको भला लगे जब उन्हें रोना आये तो क्या उससे सुनने गैर आएगा ?

वह भी तो एक अंग है। भले ही कितना ही, कैसा ही पीड़ाजनक क्यों न हो, सभी को एक न एक दिन सामना करना ही होता है। और मान लो दूसरे के आर्तनाद से बच भी जाएँ लेकिन स्वत: अपने आर्तनाद से कैसे बचा जाए ? क्या उन्हें स्वयं यह दर्द नहीं चीरे डाल रहा है ? एक आर्तता वह होती है जो सुनायी पड़ती है, उसका अनुपात तथा सीमा होती है लेकिन जो आर्तता गूँगी होती है वह असीम तथा सहनहीन होती है। वह भोक्ता की नितान्त अपनी होती है। वह केवल भोगने के लिए होती है। ऐसा भोग, जलता पत्थर होता है जो किसी भी जल से शान्त नहीं होता।

अँधेरा हो गया था। देवी की पूजा हो रही थी। वह भी आरती में सम्मिलित हो गये। तुलसीदल और आचमन ले वह बिना किसी और व्यवधान के सड़क पर हो लिये। चतुर्थी का चंद्रमा हलका फूट आया था। कस्बे के लिए सडक मुड़ी और वह भी मुड़ लिये। स्कूल की इमारत की नीव चाँदनी के क्षीण आलोक में धुँधली दिख रही थी। इस के लिए उन्हें भी पाँच सौ रुपये चन्दे का देना पड़ा था। स्कूल के आगे नागफनी का वन खड़ा था जिसमे से होकर एक गरवट दलदल के सूखे ढूहों में से ऊँची-नीची राह बनाती बिछी थी। इधर से जाने पर सीधे घर पहुँचा जा सकता है लेकिन बड़ा वीरान पड़ता है। वह हरायपुरा से होते हुए नागनाथ के मैदान के सामने पहुँचे। उनका पुराना घर अब ढोरों के लिए तथा बीज-अनाज का भंडार कर दिया गया है। नीमवाड़ी से होते हुए यति महराज के घर के सामने वह जिस समय पहुँचे गली मे बड़ा अँधेरा था। यति महाराज की ऊँची कुर्सी वाली हवेली अँधेरे मे सिर ताने खडी थी। उन्हे लगा कि चबूतरे पर टहलते यति जी कही पहचान लें वर्ना व्यर्थ ही बातें चलेगी और फिर संवेदना प्रकट की जाएगी। इसलिए वह सिर नीचा किये चुपचाप बढ़ गये। पीपल के पास से सेरी के सिर पर जलती लालटेन दिखने लगी। पचमसिह का खँडहर, हवेली की टूटी दीवारों के साथ चाँदनी में अजीब भुतहा लग रहा था। वह समझ गये कि कुछ ही क्षण में उन्हें एक नारी कंठ की ऐसी चीत्कार का सामना करना है जो उन्हें जीवन भर के लिए तोड़ जाएगी। पूरे कुटुम्ब, परिवार का सम्मिलित रोदन...और...घर सामने था...वही घर, जिसे अर्जित करने के लिए इतने बरस संघर्ष किया, वही इस समय ऐसा लग रहा था कि यदि न होता तो..??

और शांति का जन्म हुआ। वंश बढ़ा लेकिन परिवार के कई सदस्य अब खण्डित हो चुके थे । लज्जाशंकर ने सोचा था कि अब इस चौथेपन में आकर कुछ विश्राम, कुछ निश्चिन्तता आएगी लेकिन जीवन की गति उनके सारे पुरुषार्थ को अस्वीकार करती लग रही थी । तभी तो शांति की माँ प्रभूति रोग से छह माह में ही चल बसी । और इस तरह एक पुत्र, दो बहुएँ और पत्नी को खोकर उन्हें लगा कि पुरुषार्थ की भी सीमा है । शंकर की बहू मायके जा चुकी थी । रतन की बहू के मायके वाले शांति की माँ की मृत्यु के बाद अपनी जवान बेटी विधुर जेठ के सामने नहीं रख सकते थे इसलिए रतन की बहू भी चली गयी । जिस घर को बनाने में लज्जाशंकर का पूरी जवानी, प्रौढ़ावस्था खट गयी आज वही स्मशान की भाँति हो गया । घर में छह-आठ महीने की पोती तथा वृद्ध भाई-बहन ही रह गये । इच्छा ने स्वभावगत निर्विकारिता को और साध लिया । उन्हें देखकर कोई नहीं कह सकता था कि उन पर क्या बीती है । वह नियमतः उसी प्रकार बन्दोबस्ती के सरकारी काम में सिर नीचा किये बझे थे । जब सुख के दिन आये थे तब भी वह हर्षातिरेक से फट नही पड़े थे और आज

परिवार के बड़े से हण्डे का सारा पानी खौलकर उड़ गया था तब भी किसी ने उन्हें सिर धुनते नहीं देखा ।
लेकिन घर और कुटुम्ब की अभिभावना की कठिन समस्या तो पिता लज्जाशंकर के सामने थी न कि इच्छाशंकर के सामने । दोनों वृद्ध भाई-बहन ने परामर्श किया कि यह घर किसी बहू के बिना कैसे सम्हलेगा ? क्यों नहीं शंकर को समझाया जाए कि न हो पहली बहू को ही बुला ले और यदि बिल्कुल ही मन फट गया है उससे तो क्यों नहीं दूसरा विवाह कर लेता ?

और जब गर्मियों में दो दिनों के लिए शंकर आये तो पिता तथा बुआ ने आँसू भरी आँखों से विनय की कि जमा-जमाया घर, बरसों की मेहनत जमीन-जायदाद सब बारोंबाट हो जाएगा बेटा ! जिद न करो, न हो दूसरा ब्याह कर लो । जाति की जिस लड़की को पसन्द करोगे उसी से कर दिया जाएगा । पर शंकर, अपने तेज, प्रखरता एवं जिद के सामने किसी को कुछ न समझने वाले व्यक्ति थे, बोले, आप लोगों को वंश डूब जाने की चिन्ता है लेकिन जब राजा रामचन्द्र का वंश नहीं रहा, मुगलों का वंश नहीं रहा तब हम-आप की बात ही क्या है ? जहाँ तक शांति का प्रश्न है मैं उसके लिए कोई नौकरानी रख देता हूँ
—लेकिन बेटा ! तू क्यों नहीं ब्याह कर लेता ?
—बुआजी ! पत्नी अभी बैठी है कैसे विवाह कर सकता हूँ ?
—क्यों ? क्या मर्द दूसरा ब्याह पहली के रहते नहीं करते हैं ?
—मैं इस बात को सिद्धान्ततः गलत मानता हूँ और फिर बेचारी रतन की जवान बहू भी तो घर में है ।
—तुझे रतन की बहू से क्या लेना-देना ?
—यही कि आप लोग पहले उसका विवाह कर दें उसके बाद मैं कर लूँगा ।
—क्या ??
और बुआ की आँखें इतनी फैल आयीं कि जैसे भूत देख लिया हो । लज्जाशंकर वितृष्णा में उठ गये । बुआ जड़ बनी वृक्ष हो गयीं । केवल एक अस्पष्ट बोध जो दिमाग में ठक-ठक कर रहा था वह यही था कि शंकर को छेड़ना, साँप के बिल में हाथ डालना था । लज्जाशंकर विवश थे । आज उन्हें अपना सारा पुरुषार्थ व्यर्थ लग रहा था । जो किया वह छिन्न-भिन्न होने के लिए अकुला रहा

था तथा जिनके लिए किया उनकी दृष्टि में उसका कोई विशेष अर्थ या सन्दर्भ नहीं लग रहा था। जिसे जो चीज शुरू से ही प्राप्त या उपलब्ध होती रहती है उसे वह सहज मानता है। उसका मूल्य किसी दतौन से अधिक नहीं होता। शंकर स्वयं पुरुषार्थी थे तथा जब उन्होंने होश सम्हाला उस समय तक लज्जा-शंकर तथा देसाई-परिवार एक व्यवस्था तथा सामाजिकता अर्जित कर चुका था। यह नहीं कि सूर्यशंकर उन लोगों में से थे जिन्हें जीवन का राजपथ सहज उपलब्ध हो जाता है और किसी सीमा तक ऐसे व्यक्ति या तो निरे मूर्ख होते हैं या फिर चालाक। सूर्यशंकर इन दोनों में से एक भी नहीं थे पर उन्हें अपने पर आत्मविश्वास, अहं की सीमा तक था। इसीलिए वह निकट से निकट व्यक्ति को गड़ते थे। जबकि वह अत्यन्त सरल तथा निश्छल भी थे। लेकिन उन्हें कुल मिलाकर बिगड़े हुए ही कहा जा सकता था। कहीं न कहीं दिखावे में उनका विश्वास था इसलिए विधवा-विवाह वाली बात भी उन्होंने उसी मनोवृत्ति के कारण कही थी। अन्यथा क्या वह नहीं जानते थे कि हिन्दुओं में और वह भी खासकर ब्राह्मणों में कभी विधवा-विवाह हुआ है ? रतन की बहू के पुनर्विवाह की बात अपना गला छुड़ाने के लिए ही कही थी यह कहना सूर्यशंकर के साथ ज्यादती करना होगा। कारण कि वह अपने परिवार में सबसे अधिक जागरूक थे। खासी दुनिया देखे हुए थे। विभिन्न प्रदेशों के नौकरीपेशे के लोगों से उनका काम पड़ता था। काफी से अधिक पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ते थे जिसका असर उनके सामाजिक दृष्टिकोण पर हुआ। अतएव रतन की बहू की बात के पीछे आंशिक सैद्धान्तिक सत्य भी था। और जब सूर्यशंकर को कोई न मना सका और तो और बुआ के लड़के लोकनाथ रावल, जिनसे उनकी मैत्री ही अधिक थी, भी जब हार गये तो लज्जाशंकर और उनकी बहन के सामने एक मात्र जो मार्ग शेष था वह यह कि किसी तरह इच्छा का फिर तीसरा विवाह किया जाए। बात यद्यपि सबके निकट हास्यास्पद थी लेकिन क्या किया जाता ? बेचारे इच्छाशंकर, समर्पित व्यक्ति, क्या कहते ? उनके लिए सब नियम था। जब पिता और बुआ ने उनकी ओर से सोच-विचार कर निर्णय लिया और उन्हें मात्र बता दिया गया तब भी उनमें न चिन्ता, न व्यग्रता, न उत्कण्ठा कुछ भी नहीं हुआ। बस, जैसे किसी ने बता दिया हो दो सब्जियों के अलावा भी तीसरी यह सब्जी बनने जा रही है। और कोई भी व्यक्ति भला इस तरह की सूचना सुनकर कोई व्यग्रता आदि व्यक्त करता है ? बस, उसी तरह इच्छाशंकर ने कोर्ट-कचहरी जाते हुए अपनी लाल जूतियाँ पहनते हुए बुआ के मुँह से जब यह बात सुनी तो वह मात्र एक

फीके-फीके दीये से जाने कहाँ उदास-उदास से देखते रहे। बुआ को लगा कि उनकी बात किसी एकान्त साँझपाखी सी उस फीकी साँझ में कहीं खो गयी। नहीं।

इच्छाशंकर जड़-भरत नहीं थे पर एक अव्यक्त विवशता उनमें हमशा के लिए घर किये हुए थी। संभवतः इसका कारण यह था कि जिस समय उन्होंने आँखें खोलीं देसाई-परिवार खौलता जल था। वैसे भी पहली सन्तान बड़ी अनिर्णीत होती है। वह उत्सुकता ही अधिक होती है। इसीलिए पहली सन्तान को यदि किसी भी प्रकार उपेक्षा मिली तो वह कछुआ हो जाती है। यहाँ तक कि वह दूसरों के सामने तो दूर अपने ही सामने अपने पंजे फैलाना तक भूल जाती है। इच्छाशंकर के साथ भी यही हुआ। पता नहीं उनके मन में यह बात भी रही होगी कि कर्त्तव्यवश जो पढ़ना छोड़ बैठे थे—उसी के कारण अब वह जीवन भर यह बन्दोबस्ती का बस्ता थामे एक बँधी लीक पर चलते चले जाएँगे। बहुत हुआ तो अन्तिम दिनों में गिरदावर हो जाएँ, बस। दो-दो पत्नियाँ तथा रतन जैसे भाई, जिसे वे बहुत प्यार करते थे तथा वह भी अपने 'इच्छादादा' के लिए उत्सर्ग तक हो सकता था, को जब वह खो बैठे तो उनमें का रहा-सहा साहस भी साथ छोड़ बैठा और एक मूक कायर बन जाने में ही निष्कृति या श्रेयस समझा। उन्हें छोटी से छोटी बात का भी विश्वास नहीं रह गया। वह किसी के द्वारा एक गिलास जल दिये जाने पर भी वैसे ही भारवत हो जाते जैसे देव-कृपा हो। तभी तो पिता लज्जाशंकर ने जिन दिनों खेत, जमींदारी तथा यह मकान खरीदा तो उनमें कोई उत्साह नहीं था। स्वयं उनकी माँ ने कहा था कि अब गाँव-गाँव बस्ता और जरीब लिये घूमने की क्या आवश्यकता है? पिता का हाथ बँटाये और जमींदारी देखे-भाले। लेकिन इच्छाशंकर बिल्कुल पर-भाव से अपने परिवार के बढ़ते वैभव को देखते रहे। उन्हें लगता कि जैसे उस वैभव में उनका कोई अधिकार नहीं है। ऐसे व्यक्ति कम होते हैं। अपने होने की किसी प्रकार की उद्घोषणा अपने कैसे भी निकट के व्यक्ति के सामने तक नहीं करते। कमरे में अनायास कोई धूप का टुकड़ा कहीं आकर बैठ

जाता है तो वह अविभाज्य रूप तो नहीं बन जाता है न ? बड़े ही निर्व्याज भाव से वह धूप का टुकड़ा असंपृक्त कहीं चला जाता है । यह संन्यास भाव इच्छाशंकर में चिढ़ा देने की सीमा तक था । बुआ की सूचना को जूतियाँ पहनते सुना और अस्पष्ट तथा अव्यक्त रूप में रास्ते भर बात की जुगाली करते रहे । और सूर्यशंकर ने जब सुना कि 'इच्छादादा' तीसरा ब्याह करेंगे वर्ना कुल डूब जाएगा तो सहसा वह ऐसे प्रखर हुए कि एक बार चाहा कि सब को खण्ड-खण्ड कर दें । बड़े कुल वाले आये । सबसे ज्यादा वितृष्णा अपने दादा पर हुई जिनके लिए कभी भी उनके मन में पहले ही आदर-भाव नहीं था, इस बार तो मन हुआ कि कह दें कि शरम नहीं आती चालीस बरस की बुढ़ौती में वर की पोशाक पहन कर घोड़े पर चढ़ कर किसी के द्वारे तोरण मारते अच्छा लगेगा ? लेकिन वह जानते हैं न कि दादा तो बिलकुल ही गोबर-गणेश है । बैठा दो, बैठ जाएँगे, लिटा दो, लेट जाएँगे । पता नहीं दादा की नसों में खून है भी कि नहीं ? और जितना ही अधिक वह सोचते उतने ही उग्र होते जाते—फलस्वरूप बिना किसी पूर्व सूचना के हठात वह दो दिनों में ही वापस लौट पड़े । उन्हें रोकने की चेष्टा करने बुआ गयीं तो शंकर की आग्नेय दृष्टि से वह भस्म होते-होते बचीं । शंकर को यह घर, यह लोग संस्पर्शहीन लगे । और अपने जिले तक पहुँचते-पहुँचते तक तो उन्होंने तय किया कि अब वह इस घर में कभी नहीं लौटेंगे ।

कैसा ही दर्द, कैसा ही शून्य शाश्वत नहीं होता । प्रकृति और जीवन निर्मम होते हैं बल्कि कहना चाहिए किसी सीमा तक निर्लज्ज । विगत कितनी जल्दी अस्वीकार बन जाता है । उन दिनों तो लगता है कि जैसे इसके भार से हम खण्ड-खण्ड हो जाएँगे ।

लेकिन हम स्वयं ही कालक्रम में अपने को ही झुठलाते हुए बदल जाते हैं । कैसा ही, कोई भी सम्बन्ध या व्यक्ति यदि छूट गया है तो जीवन उसके प्रति भावुकता में विश्वास नहीं करता है । रत्नशंकर जो कभी देसाई-कुल की मणि मान जाते थे, अब वह अधिक से अधिक निस्पृह चर्चा भर रह गये थे । रत्नशंकर की अनु-

परिस्थिति स्वीकृता हो चुकी थी। लेकिन हाँ, लज्जाशंकर अब दूध जले हो गये थे साथ ही छाछ को फूंक-फूंक कर पीना भी सीख गये थे। सूर्यशंकर की बातों से उतना आश्चर्य नहीं हुआ, वह समझ गये कि उनकी सार्थकता अब स्वतः बने रहने की ही हो गयी है, बना सकने के दिन चले गये। यह दाय, पुत्रों ने ले लिया है, विशेषकर सूर्यशंकर ने। वह क्या कहते ?

और जब सूर्यशंकर ने सुना कि इच्छा दादा ने तीसरे विवाह की अनुमति दे दी है तब उन्हें कितनी वितृष्णा हुई। संभव होता तो वह अपने दादा को ऐसी सुनाते कि कान के कीड़े झड़ जाते। वैसे उन्होंने बहुत कुछ कहा भी लेकिन जो वह कहना चाहते थे क्या वह कह सके ? और किससे कहते ? सामनेवाला जब ऐसा श्रोता मिल जाए जो किसी भी, कैसी भी बात पर प्रतिक्रियाहीन न हो तो कोई भला ऐसी जड़ता से कब तक लड़ सकता है ?

—सुना आप विवाह करने जा रहे है।

भोजन कर के इच्छाशंकर ने कपड़े पहन नौकरी पर जाने के लिए अपना पीला बस्ता उठाया ही था कि सूर्यशंकर ने कमरे में प्रवेश करते हुए पूछा। सूर्यशंकर ने अभी भोजन वाला अपना सोला (रेशमी वस्त्र) तक नहीं बदला था, बल्कि दाँत कुरेदते हुए वह इसीलिए जल्दी-जल्दी आये थे कि कहीं दादा निकल न जाएँ। कोट का ऊपर का बटन बन्द करते हुए इच्छा समझ ले गये कि शंकर क्या चाहते है। लेकिन वह क्या उत्तर दें ? उनके पास स्वयं जब कोई उत्तर नही, केवल इसी बात का ही नहीं वरन किसी भी बात का नही तब भला शंकर क्या अपेक्षा करते है ? उन्होंने तो जीवन से ऐसा मूक समझौता किया था कि दोनों को हमेशा के लिए एक दूसरे के सामने मौन ही रहना था। इच्छा ने जब कामना तक करना छोड़ दिया था तब भला किसी भी बात का विरोध, और वह भी पिता की बात का, उनके लिए अकल्पनीय था। शंकर जो चाहें समझें लेकिन वह भला अपने परिवार के संघर्ष को तथा पिता के महान योग को कैसे अस्वीकार कर सकते है ? तभी तो पिता ने जमींदारी खरीदी, बेची; मकान खरीदा, बेचा; शंकर ने विरोध किया पर इच्छा ने कभी चूं तक नहीं की। वह पिता को बूझते हैं। पिता ने जिस अदम्यता के साथ पुरुषार्थ किया उसको स्वरूप देने का उन्हें पूरा अधिकार था। दूसरे किसी को उनका विरोध करने का अधिकार नही है। पिता, कुल के सर्वेसर्वा है। यदि उनकी इच्छा है कि उन्हें तीसरा विवाह करना है तो

वह कभी भी उलट कर नहीं पूछने वाले हैं कि क्यों ? जब कि शंकर हर बात में पिता से तर्क करते हैं बल्कि कहना चाहिए बराबरी करते हैं। यह फड़नवीस वाली जायदाद खरीदते समय शंकर ने कड़ा विरोध किया। पिता का मन बुझ गया कि आखिर वह किसके लिए यह सब कर रहे हैं ? रतन रहा नहीं। शंकर को इसकी पर्वाह नहीं और इच्छा ?? जैसे वह गोद आया हुआ लड़का हो। न कभी किसी बात में अपनी मर्जी बताता है, न यह कि क्या होना चाहिए।

—शंकर ! पिताजी की आज्ञा का पालन...

—यह क्यों नहीं कहते दादा ! कि अभी आप ही का मन नहीं भरा।

इच्छाशंकर केवल आहत भाव से, निरीह हो शंकर की ओर देखने लगे गोया यदि तुम्हें कड़ी बात कह कर सन्तोष होता हो तो कह लो; लो, मैं खड़ा हूँ।

तभी लज्जाशंकर खखारते हुए आये। दोनों पुत्रों को मौन खड़े देख वह समझ ले गये कि शंकर ने इच्छा से अवश्य कुछ पूछा है। शंकर को अपने पिता तथा बड़े भाई दोनों से चिढ़ हो आयी।

—बापू !

लज्जाशंकर मिर्जई की तन्नी कस रहे थे। केवल उन्होंने बात सुनने के लिए जिलाधीश पुत्र की ओर देखा तथा अपना काम करते रहे।

—मैं आज ही चला जाऊँगा।

—क्या छुट्टियाँ खत्म हो गयी ? अभी तो शायद तुम्हारी छुट्टियाँ शेष नहीं हुई।

—हाँ, लेकिन इन्दौर रुकता हुआ जाऊँगा।

—अच्छा। मोटर तो तीन बजे जाती है न ? मैं जग झालानी जी के यहाँ जा रहा हूँ। आ जाऊँगा। इच्छा !

इच्छाशंकर अभी तक मौन बने खड़े थे, बोले,

—जी !!

—तुम तो शायद शंकर के जाते समय नहीं रह सकोगे न ?

—हाँऽऽ...

—ठीक है। आज ही पुराणी जी से सब पूछ कर खबर कर दी जाएगी। शंकर ! फागुन में छुट्टियों का प्रबन्ध कर रखना, समझे।

शंकर को लगा कि पिता अपने निर्णय के सामने किसी को महत्व नहीं देते। उन्हें अपने बड़े भाई पर दया आयी कि यह कैसे व्यक्ति हैं—मिट्टी के माधो, जहाँ बैठा दो लुढ़क पड़ेंगे।

तीसरे प्रहर सूर्यशंकर को विदा कर लज्जाशंकर पुराणी जी की तरफ निकल गये। ये साढ़-भाई उनके मित्र ही अधिक थे। कुछ दिन पूर्व ही पुराणी जी की पत्नी की मृत्यु हुई थी। अब वह पूर्णरूपेण भजन-अध्ययन में रत रहते। वह पहले भी किसी के यहाँ नहीं जाते थे और अब तो संकल्प था कि कहीं नहीं जाना। पहले लज्जाशंकर के कारण उनके यहाँ हो आते थे लेकिन स्वभाव से वीतरागी ही थे। पत्नी ही उन्हें थोड़ा-बहुत सांसारिक बनाये हुए थी। जैसे ही पत्नी नही रहीं पुराणी जी ने रहा-सहा अपने को और भी समेट लिया। नित्य पार्थिव पूजन तथा अध्ययन-चिन्तन यही उनकी दिनचर्या थी। ज्योतिष उनका शौक था लेकिन इसमें उनकी इतनी ख्याति फैल गयी थी कि आये दिन कोई न कोई राजा-महाराजा का संदेसा लिये चला आता। लेकिन पुराणी जी ने कहीं नहीं जाने का अपना व्रत किसी भी मूल्य पर नही तोड़ा। लज्जाशंकर उनके न केवल सम्बन्धी ही थे बल्कि बालमित्र थे। उनकी बात वह कभी नहीं टालते थे इसलिए लज्जाशंकर भी प्रायः धर्मसंकट में पड़ जाते थे। देवास महाराज की पालकी पुराणी जी के दरवाजे पर तीन दिन तक पड़ी रही पर वह टस से मस न

हुए। वे लोग लज्जाशंकर के पास गये कि महाराजा साहब पुराणी जी से मिलना चाहते है, उनकी कुछ सेवा करना चाहते हैं। लज्जाशंकर पुराणी जी को समझाने भी गये कि जब इतने सम्मान के साथ लिवा जा रहे हैं तो क्या नहीं हो आते ?

—देख भाई लज्जा ! ब्राह्मण का धन उसका तेज है जिसे वह त्याग से, तपस्या से प्राप्त करता है। मुझे न राज-सम्मान चाहिए, न राज्याश्रय। जितने का पात्र हूँ भगवान उतना दे देते हैं। सिद्धनाथ आचार्य ने भगवान को समर्पण किया है अब भला इन राजा-महाराजाओं की क्या चिन्ता ? राजा को अपना भविष्य घर बैठे मालूम करना है, सो सुन ले लज्जा ! उसका भविष्य लिख कर पालकी में दुशाला ओढ़ाकर भिजवा रहा हूँ।

—दुशाला ओढ़ाकर ?

—अरे तो राजा का भविष्य है कि मजाक ?

और सचमुच ही दुशाला ओढ़ाकर (में रखकर) राजा का भविष्य पुराणी जी ने भिजवा दिया तथा अपनी दक्षिणा कहलवा दी कि आपके राज्य में ग्यारह ब्राह्मणों को श्रद्धानुकूल दक्षिणा दे दीजिएगा, लेकिन पुराणी जी नहीं ही गये।

जिस समय लज्जाशंकर पुराणी जी के यहाँ पहुँचे वह उस समय अतिरिक्त पाठ-पूजन में लगे हुए थे। वैसे अपराह्न में वह प्रायः पढ़ते रहते हैं या कभी लज्जाशंकर के आ जाने पर गपशप किया करते हैं।

थोड़ी देर लज्जा उनके ऊपर वाले कमरे में बैठे प्रतीक्षा करते रहे। जीने पर पदाहट हुई। लज्जा ने देखा कि वह सीधे सन्ध्या करके ही चले आ रहे हैं।

—लज्जा ! मैं अभी तुम्हारे बारे में ही पूजन करते सोच रहा था।

—क्या ?

—देख भाई ! एक तू ही है जिसकी मुझे चिन्ता रहती है। कुछ बात बता दूँ वर्ना कल मान लो न रहा मैं तो तुम्हें कष्ट हो।... इच्छा का ब्याह इसी फाल्गुन में कर डाल।

—लेकिन लड़की ?

—लड़की भी बता दूंगा। लेकिन देख, बहुत आशा मत करना। तुम्हारे एक ही पौत्र होगा। और उस लड़के की जन्मकुण्डली भी बना दी है।

—कौन से लड़के की ?

—तुम्हारे पौत्र की।... और इस लड़के के जन्म के बाद बहू नहीं रहेगी तुम्हार

कुल में स्त्रियों का काल रहेगा। यह मैं इसलिए कह रहा हूँ कि बहू आने पर तुम जाने क्या-क्या आशाएँ बाँधने लगो, और बाद में दुःख हो।

—लेकिन जिस बात के लिए इच्छा का विवाह करना चाहता हूँ...

—देखो लज्जा ! तुमने जितना पुरुषार्थ किया उसका फल तुम्हें मिला लेकिन यदि तुम सोचते हो कि आने वालों के लिए भी ऐसी पुख्ता नींव धर जाओ कि कहीं कुछ अन्यथा न हो, तो यह तुम्हारी भूल है। पानी में कितनी मजबूत नींव धरना चाहते हो, बताओ ? मैंने तुमसे पहले ही कहा था कि देखो यह फड़नवीस वाली जायदाद न खरीदो पर तुम्हें तो लोभ हो आया कि इतनी सस्ती जायदाद फिर मिलेगी नहीं। फल तुम देख ही रहे हो। होनी को कोई टाल नहीं सकता भाई ! खैर...तो लड़की के बारे में पूछ रहे थे न तुम ?

—पुराणी दादा ! मैं बस एक बात पूछना चाह रहा हूं।

—अच्छा पूछो, लेकिन बस एक ही बात।

और श्री सिद्धनाथ आचार्य पद्मासन लगाकर खिड़की की राह सुदूर कहीं देखने लगे।

—मैं जो यह सब कर रहा हूं वह कहीं व्यर्थ तो नहीं हो जाएगा ?

—जब तुमने संघर्ष किया था तब यह प्रश्न क्या अपने से किया था ?

—नहीं।

—क्यों ?

—इसलिए कि तब अपने पुरुषार्थ पर सम्पूर्ण विश्वास था।

—और अब ?

—अब लगता है कि परिस्थितियाँ साथ नहीं दे रही हैं।

—भला इससे अधिक स्पष्ट संकेत भगवान और क्या दे सकते हैं ? लज्जा ! सूर्य को भी अस्तंगामी होना पड़ता है तब, हम तो साधारण लोग हैं। तुमने अपने पुत्रों को जैसा पढ़ाया-लिखाया वह उदाहरण बन गया है। अब यदि तुम उन्हें जीवन भर अपनी अँगुली थमा कर चलाना चाहोगे तो कोई भी सन्तान इसे सहन नहीं करेगी।

—लेकिन इच्छा...

—इच्छाशंकर की बात छोड़ो। वह सन्तोषी है। वह कभी भी अपने बारे में नहीं सोचेगा, जब तक तुम हो वह अनुसरण ही करेगा लेकिन सूर्यशंकर स्वयं एक शक्ति है। यद्यपि रत्नशंकर सब में अद्वितीय था। यदि उसकी आयु होती तो लज्जा ! उसके ग्रह ऐसे प्रबल थे कि बस, किन्तु...

—तो फिर दादा ! यह जो जमीन-जायदाद का बखेड़ा किया करता हूँ वह समेट लूं ?

—मैं कहता हूँ लज्जा ! अब अधिक न फैलाओ। एक पौत्र के लिए व्यर्थ की झंझटें न करो। और क्या पता उसे तुम्हारा यह सब काम ही न आए।

—क्या कहा ?

लज्जाशंकर चौके। वह जानते थे कि पुराणी दादा यों ही कोई बात नही कहते हैं।

—मैंने सिर्फ यह कहा कि उस लड़के के समय तक देश, काल, परिस्थितियाँ सब बदल जाँएगी। तुम्हारा कर्तव्य पुत्रों तक सीमित है। जो पौत्रों की चिन्ता करता है उसके जैसा अभागा कोई नहीं क्योंकि तीसरी पीढ़ी में तो देवता तक बदल जाया करते हैं लज्जा ! हम मनुष्यों की क्या बात है ? अरे, अब भगवत-भजन करो और सारी बातों को अपने नियम से चलने दो।

लज्जाशंकर को पुराणी जी ने स्पष्ट संकेत दे दिया था कि उनके पुरुषार्थ की सीमा आ गयी है। नये व्यक्तियों को नये मार्गो पर जाने पर कुछ भी कहना, बाधा देना है। और नया जल बाधा नहीं स्वीकारता।

विवाह। इच्छाशंकर का तीसरा विवाह। सभी के लिए उत्साह से अधिक कर्तव्य था लेकिन यह कर्तव्य भी न सूर्यशंकर, न उनकी परित्यक्ता पत्नी और न रतन की विधवा किसी ने निभाने की आवश्यकता नहीं समझी। नयी बहू का स्वागत, देव-रानी होने पर भी लोकनाथ की पत्नी ने जेठानी बन कर किया। इस घर में यह पहली (और संभवतः अन्तिम) बहू थी। जब बहू कुंकुम के रक्तचिह्न अंकित करती घर में प्रविष्ट हुई तो लज्जाशंकर सारी चेतावनियों के बावजूद भी अपने को यह विश्वास दिलाते रहे कि यह गृहलक्ष्मी है जो कुल-लक्ष्मी बन कर छिन्न-भिन्न होते देसाई-परिवार को सहेज लेगी क्योंकि ऐसे साँचे में ढले छोटे-छोटे शुभ-चरणों की छाप तो किसी भी बहू की नहीं थी। इस बहू के आने पर बड़ा विश्वास आया जैसे कहीं दीपालोक हुआ। बड़ा अँधेरा था लेकिन एक दीप ने कैसा विश्वास जगा दिया न ? मनसायनहीनता भर उठी। रोज घर के तार पर बहू की नयी धोती सूखते देख कर घर बड़ा भरा-भरा सा लगने लगा जैसे एक बहू ही कितने सारे लोग होती है न ?

ऐसे क्षणों को व्यक्ति अनादि, शाश्वत, चिरन्तन जाने क्या-क्या मान लेता है और निश्चिन्त हो जाता है। यदि लज्जाशंकर भी मान बैठे तो कुछ गलत तो नहीं था। जीवन के इस उत्तरकाल में वह आज के पहले कभी इतने सन्तुष्ट नहीं थे यद्यपि पुराणी जी की बात कभी-कभी उभर आती और वह गोमुखी में माला फेरते हुए कामना करते कि भगवान उन्हें या उनकी बहन दोनों में से किसी को या दोनों को ही उठा ले लेकिन पुत्र का जो घर बसा है वह न उजड़े। कैसी सुपात्र बहू मिली कि शांती को भी अपने नन्हे आँचल में बस समेटे ही रहती है। जैसे शांती कोई दीपशिखा हो और कोई आँधी चारों ओर इस ताक में हो कि अवसर मिलते ही बुझा दे।

दोनों वृद्ध भाई-बहन अपनी सन्ध्या करते हुए अपने-अपने ढंग से चिन्तित थे।

—दादा !

—क्या ?

—पुराणी दादा कह रहे थे कि इस जायदाद का दक्षिणी हिस्सा शुद्ध नहीं है उसे किसी धर्मार्थ में दे दो।

—बिल्वपत्र के उधर जो हिस्सा पड़ता है उसे शिवशंकर ठाकुर खरीदना चाहते हैं, कहते हैं कि उनका परिवार बड़ा है, उन्हें जगह की तंगी है।

—ठीक है, तो दे दो।

—लेकिन क्या बेचने के लिए जायदाद खरीदी थी मणि ?

—लेकिन जिनके लिए खरीदी उन्हें जब चिन्ता न हो तो ?

—क्या मतलब ?

—इच्छा को तो किसी भी बात की आवश्यकता नहीं। शंकर खुद ही समर्थ है। और कौन है ?

—क्यों ? शांती है। कल और भी होंगे।

—अरे तो जिनके होंगे वे जानेंगे। क्या जीवन भर का सबका ठेका ले रखा है तुमने ?

—ठेका ही समझ ले मणि ! जब संसार बसाया है तो उसका निर्वाह भी करना ही पड़ेगा।

—मैं कहती हूँ कि बुढ़ौती में तो कुछ तीरथ-व्रत कर-करा लो। जीवन भर तो घर-गिरस्ती के चक्कर में रहे।

—मैं भी सोचता हूँ कि दो-चार गाँव की जमींदारी रख कर बाकी की बेच दूँ।

—लेकिन अभी बेचने-बेचने का नाम न लेना।

—क्यों ? तुम ही तो अभी कह रही थीं कि किसके लिए यह जंजाल फैलाये हुए हूँ।

—मुझे तो शंकर पर कभी-कभी गुस्सा आ जाता है। कैसा निर्मोही है यह।

—जब अपना परिवार नहीं होता तो आदमी ऐसा ही हो जाता है। तभी तो कभी-कभी मेरे मन में आता है कि यह जमीन-जायदाद की झंझट खतम कर दूँ तो इच्छा को बाद में भुगतना न पड़े नहीं तो सच मानो शंकर पर मेरा भी विश्वास नहीं है।

—हाँऽऽ यह तो है किन्तु आज नहीं तो कल देखना वह विवाह कर लेगा तो और सब ठीक हो जाएगा।

—तब तुम उसे नहीं जानतीं। महा जिद्दी है। टूट जाएगा पर झुकेगा नहीं।

—अरे लड़का है और फिर इतने बड़े पद पर है, थोड़ा बहुत जिद्दी होना स्वाभाविक ही है। लेकिन दिल का बुरा नहीं है। उसे किसी बात की कामना नहीं है बस, थोड़ा सा अड़ियल है। अरे हाँ, बहू के पैर भारी हैं।

—सच ?? कितने दिन हुए ?

—बस, अब शुरुआत ही समझो।

—तो उसके मायके वालों को खबर करनी होगी।

—कर देंगे, लेकिन मैं तो जाया यहीं करूँगी।

—लेकिन वे लोग मानेंगे ?

—मानें चाहे न मानें।

—चलो यह तुमने बड़ी शुभ बात सुनायी।

—हाँ शुभ तो है ही।

—नहीं मैंने एक बात और सोच कर यह कहा।

—क्या ?

—अगर लड़का हुआ तो बद्रीनाथ को छोड़ तीनों धाम की यात्रा पर हम और तुम चलेंगे।

—हम उधर यात्रा पर चले चलेंगे तो लड़के की देखभाल कौन करेगा ?

—करेंगे वो जिनका लड़का होगा। हमें क्या करना ?

—पता है वे लोग कितना कुछ करेंगे। और बहू भला लड़के का लालन-पालन कर सकेगी ?

—अभी तो तुम कह रही थी कि इस बुढ़ौती में तीरथ-व्रत कर लें जीवन भर तो इस गृहस्थी के चक्कर में हो गया।

---हाँ, यह तो ठीक है पर मँझधार में बाल-बच्चों को छोड़कर भगवान के पास जाएँगे तो वे नहीं पूछेंगे ? भगवान के द्वार भी निश्चिन्त हो कर ही जाना चाहिए ।

लज्जाशंकर समझ ले गये कि औरत चाहे कोई हो कभी सीधे रास्ते से नहीं चलेगी। आप से कहेगी कि तुम जिस मार्ग पर हो वह ठीक नहीं लेकिन यदि आप उस मार्ग को छोड़ दें तो खुद उस मार्ग पर चलते हुए कहेगी कि इस तरह मार्ग छोड़ देना कहाँ की ठीक बात है ? नारी मन से उर्ध्वरेता होती है लेकिन देह से वह इतनी सायुज्य होती है कि परिवार के बिना सोची ही नहीं जा सकती ।

इच्छाशंकर ने कभी भी परिवार वालों को, संभव है स्वयं को भी, कभी अपनी उपस्थिति का भार नहीं अनुभव होने दिया। वह जिस निःशब्द भाव से बाहर से आते या जाते हुए जूतियाँ पहनते-निकालते रहे हैं वह इसी बात का द्योतक रहा है कि कोई भी उनके होने को किंचित भी महत्व न दे। जब उनकी माँ थीं तब भी वह जिस अनासक्त भाव से भोजन करते थे उसमें वह सौतेले पुत्र ही अधिक लगते थे। दाल में नमक कम है या है ही नहीं अथवा उन्हें क्या प्रिय है जब इस बारे में स्वयं उसकी माँ अपने इस पुत्र से कुछ नहीं कहलवा सकी तो बेचारी यह तीसरी पत्नी या बुआ-माँ क्या कहलवा पातीं ?

ब्याह के बाद पहली रात को ही अपनी इस तीसरी पत्नी से जो बात और व्यवहार किया वह उनके बुझे व्यक्तित्व का ही सूचक था।

कमरे में ढिबरी के मंद प्रकाश में बैठी उनकी नयी पत्नी को देखकर उनके मन में अपने प्रति वितृष्णा हुई। वह अब चालीस के हो रहे थे जब कि पत्नी मुश्किल से अभी अठारह वर्ष की थी। यद्यपि इच्छा को देख कर कोई उन्हें चालीस का नहीं समझ सकता था। खूब भरी देह, गौर वर्ण तथा स्वस्थ काठी। अधिक से अधिक तीस के ही लगते थे पर मन से वह पचास के ऊपर ही थे लेकिन उनका

मन किसे पता था ? पिता दूसरी ही धातु के थे, बुआ-माँ ने जीवन भर उन्हें लाड़ दिया था किन्तु उससे उनका सम्पूर्ण पात्र तो नहीं भरा जा सकता था न ? माँ बेचारी जी ही नहीं सकी। शंकर जिसे वह बहुत मानते रहे और जिसके लिए उन्होंने अपनी पढ़ाई-लिखाई छोड़ी आज वह कहीं अपने को बहुत बड़ा समझने लगा है। रतन, जिसे वह पुत्र की तरह स्नेह करते थे। कितना होनहार तथा शील-वान था कैसे चिड़िया की भाँति उड़ गया न ? उस पर उन्हें कितना विश्वास था और वह भी उन्हें कितना मानता था... उसके बाद पहली पत्नी वासन्ती कैसी समझदार थी। कितना उन्हें समझती भी थी।... हाँ तब तक वह अपने चारों ओर एक पाल, एक मर्यादा अनुभव करते थे। कितनी ही निष्क्रिय थी पर एक आशा थी कि उन्हें भी किसी के लिए जीना है। वह भी उत्साह के साथ गाँव-गाँव दौरे पर घूमते रहते थे। यद्यपि खुलकर पिता के द्वारा खरीदी जाने वाली जमीन-जायदाद में उन्होंने कोई हिस्सा नहीं लिया था पर वह स्वरूप पाते अपने परिवार के प्रति अपना एक योग समझते थे। किसी दिन वह भी कुछ ऐसा महत्वपूर्ण काम कर दिखाना चाहते थे कि लोग उन्हें भी देखते ही रह जाएँ... और इसका सारा श्रेय 'उसी' को था जो उन्हें शारदीय घाम सी गरमाती रहती थी... लेकिन एक दिन किस अनकहे ढंग पर चली गयी कि उन्हें विश्वास ही नही हुआ। वह जानते थे कि पिता भी उससे सलाह लेते थे। अपनी पत्नी के इस रूप पर वह मन ही मन कितने प्रसन्न रहा करते थे... पर वह ऐसी रूठ कर जाने कहाँ चली गयी कि बस... जाने कहाँ क्यों, वह खुद कंधा देकर श्मशान तक ले गये थे। कैसे उसे नहलाया था। उस समय उसका मुख कितना शांत एवं दीपित लग रहा रहा था जैसे वह अभी मात्र सो ही रही है। किसी भी क्षण जाग कर जब वह कुटुम्ब-परिवार के बीच अपने को इस प्रकार घूँघटहीन लेटे हुए पाएगी तो कितनी लजा जाएगी... और वही पत्नीमुख कैसे एक आलोक देकर हमेशा-हमेशा के लिए चला गया और वह भी टूट गये। अब उन्हें कोई उत्साह नहीं रह गया। जब वह इस पत्नी की मृत्युपरान्त पहली बार दौरे पर जाने के लिए घोड़ी पर बैठे तो उन्हें लगा कि उनका संसार सदा के लिए निष्प्रभ हो चुका है। अब केवल कर्तव्य है। उन्होंने जो एक मौन स्वप्न बुना था कि वह अत्यन्त स्नेह एवं शांत भाव से परिवार को स्वरूपित करते जाएँगे जिसमें स्वतः उनकी कोई महत्वाकांक्षा नहीं होगी वरन विनम्र समर्पण होगा ताकि शेष परिवार फल-फूल सके, अब वह छिन्न-भिन्न हो गया था।... इसके बाद दूसरी पत्नी आयी। कर्तव्य था इसलिए ब्याह ले आये। लेकिन जब शांति का जन्म हुआ तो एक बार फिर इस पत्नी और पुत्री को लेकर एक छोटा सा जाला बुन डाला लेकिन वह जाला ही था

तभी तो पहली हवा में ही जब वह टूटा तो उसे टूट जाने दिया, उस पर वह रो भी न सके। पहली पत्नी के समय तो वह एकान्त मे, दौरों पर किसी गाँव की पड़साल में अकेले लेटे आधी-आधी रातो मे रोते रहते थे पर इस बार जब यह शांति की माँ गयी तो वह केवल उदास ही हो सके। उन्होंने अब सोचना भी छोड़ दिया। वैसे वह पहले ही कितना कुछ सोचते थे पर अब तो इतना करना भी त्याग बैठे। इस बीच बन्दोबस्ती का काम लगभग खतम हो चुका था इसलिए कस्बे की कचहरी में ही दफ्तर हो गया। अब उन्होंने जीवन भर के लिए स्वीकार लिया कि उनके लिए विशेष कुछ भी नही है। जो है वह अत्यन्त नगण्य है, बड़ा ही बँधा-बँधाया है। परिवार के अन्य लोगों ने भी उनके इस वितृष्ण मनोभाव में वृद्धि ही की। शंकर ने प्राय. उनका तिरस्कार किया। पिता और उनके बीच एक व्यावहारिक दूरी सदा से रही जिसे पहले माँ दूर किया करती और अब बुआमाँ उसे पूरने की चेष्टा किया करती। शांति के लिए उनके मन मे यही आता कि वह उनके पिता की पुत्री अधिक है वनिस्बत उनकी। और इसमे उन्हें सन्तोष ही था कि पिता और बुआमाँ के कारण शांति की उन्हे कोई चिन्ता नही है। अब वह केवल उदास ही रहना जानते थे। सारा वेतन पिता को सौंप कर वह निश्चिन्त हो जाते। सवेरे कचहरी जाने के बाद वह शाम को वहाँ से उठ कर नदी किनारे किले-घाट पर हाथ-मुँह धोकर कभी गिरिवर तो कभी रुद्रेश्वरी तो कही और निकल जाते।

एक दिन वह गिरिवर के हनुमान जी के चबूतरे पर बैठे हुए थे। शाम हो चुकी थी। चारों ओर सघन पेड़ों के कारण बड़ा अँधेरा लग रहा था। पुजारी किसी काम से पास के गाँव गया हुआ था। इस हनुमान जी के साथ तथा पीछे की ओर जो काली का मन्दिर है उसके साथ कालिदास का नाम जनश्रुति मे जुड़ा हुआ है कि इनकी स्थापना उस महाकवि ने की थी। ये दोनो मन्दिर काफी जीर्ण हो गये थे। देवता उपेक्षित थे लेकिन प्रकृति इतनी मोहक थी कि लोग प्रायः यहाँ गोठ या सैर करने आया करते। दो-चार दिन पूर्व ही पुजारी ने इच्छाशंकर

से कहा था कि आपका परिवार तथा आप स्वयं ही समर्थ हैं क्यों नहीं यह देवकार्य कर डालते ? यदि इन मन्दिरों का जीर्णोद्धार हो जाएगा तो देवी एवं रामभक्त हनुमान की आप पर कृपा हो जाएगी। वह आज कुछ ऐसा ही संकल्प लेकर आये थे कि जीर्णोद्धार का कार्य प्रारम्भ हो जाए तो दूसरे लोगों से धन एकत्र किया जा सकता है। लेकिन पुजारी आता ही नहीं दिख रहा था और अँधेरा घिरता जा रहा था। वह अब लौटने की बात सोच ही रहे थे कि पीछे से, काली के मन्दिर की तरफ से एक स्त्री-कण्ठ सुनायी दिया,

—सुनिए।

इच्छाशंकर चौंके कि इस निर्जन में किसने पुकारा ? और जो मुड़कर देखा तो एक महिला थी। दिवाली बीत चुकी थी। हवा में ठण्ढक खासी आ चली थी। महिला ने एक गरम शाल ओढ़ रखी थी। वर्ण श्याम ही कहा जा सकता था। छरहरी देह की उस महिला में आकर्षण नहीं ही था किन्तु प्रयोजन लग रहा था। लेकिन कौन सा प्रयोजन ?

—क्या आपने मुझ से कहा ?

—जी हाँ। आपने मुझे नही पहचाना न ?

—जी नहीं।

और इच्छाशंकर उस गोधूली के बाद के बचे शेष प्रकाश में उस नारी मुख को देखने लगे जो गृहस्थ तो नही ही लगा। लेकिन ऐसा भी लगा कि कहीं देखा है। लेकिन कौन हो सकता है ?

—आप इच्छाशंकर जी दसाई है न ?

—हूँ तो।

—क्या सच ही नही पहचाना ?

—कैसे पहचानूँ ?

—कैसे पहचाना जाता है ?

—आपको इस मन्दिर में पहली बार ही देख रहा हूँ।

—मन्दिर में न कहें। मन्दिर के चबूतरे पर।

—मैं समझा नही।

—वेश्या को कोई समझ सका है जो आप ही समझ ले जाएँगे ?

और कालिन्दी,... यह कालिन्दी ही थी जो उनके प्रथम विवाह में बुलायी गयी थी। जमीदार पिता के जवान पुत्र को देखकर कौन कालिन्दी या मालिनी न रिझाती ? और सात दिन तक रोज महफिल। कालिन्दी की वह दर्दभरी आवाज ..."मुझे करके

रहोगे बदनाम" . . . रोज रात को एक आवाज, अनेक स्वर, घूमते हुए, घूरते हुए . . . सात रोज तक . . . उसके बाद तीन दिन बारात में . . . वही विवश निगाहें . . . कालिन्दी का मुजरे में बार-बार समर्पण के भाव में सामने आकर समर्पित होना . . . उसके बाद ? . . . कभी नहीं । फिर कभी उन्हें कालिन्दी न तो दिखलायी ही दी और न स्मरण ही रही । ब्याह के दिनों में खाये गये पानों की लाली जब ओठों पर न रह सकी तो भला महफिलों का वह समर्पण भी कैसे याद रहता ?

और आज. . .फिर पान-जर्दे की तुर्शी जैसे ओठों, जीभ और गले में लग रही थी वैसे ही वही आवाज, घूमती हुई एक नारी की नदी-देह उन्हें बारबार भिगोने लगी ।

—आप ? . . . आप ?

—हाँ . . . वही . . . बहुत बदल गयी हूँ न ? आप तो अच्छे हैं ?

—यहाँ कैसे ?

—स्वयं मैं भी नहीं जानती कि यहाँ कैसे ? मीराजियों से घिरी रहनेवाली वेश्या के चारों ओर आज देवी-देवता कैसे आ गये मेरी महफिल में, मुझे भी आश्चर्य है ।

और वह हँस पड़ी । इच्छा भी हँसे तो लेकिन वह खिजलाहट ही अधिक थी । बल्कि कहना चाहिए कि वह अब कालिन्दी की उपस्थिति से असुविधा अनुभव कर रहे थे कि यदि पुजारी ने देख लिया तो वह और उसके माध्यम से उनका परिवार तथा पूरा कस्बा उन्हें क्या समझेगा ।

—शायद पुजारी से कुछ काम था न आपको ?

—मैं आपको कठिनाई में नहीं डालना चाहती मेरा एक काम है वह आप कर दीजिएगा ।

—क्या ?

—देखती हूँ आप मुझसे बड़ी जल्द पिण्ड छुड़ाना चाहते हैं ।

—नहीं तो ।

—और नहीं तो क्या ? आपने यह भी नहीं पूछा कि मैं आपको किस कठिनाई में भला डाल सकती हूँ . . . खैर असल में पुजारी जी ने मुझे कहलवाया था कि वह मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाना चाहते हैं ।

—तो आपसे क्या मतलब ?

वह हँसी । बल्कि कहना चाहिए हँसती ही चली गयी ।

—यही तो मैं भी नहीं समझी इच्छाबाबू ! . . . लेकिन क्या किया जाए पैसा तो आखिर पैसा है चाहे वह वेश्या का ही क्यों न हो । जीर्णोद्धार के लिए पैसा चाहिए ही ।

—तो आप जीर्णोद्धार के लिए...

—क्यों ? मैं अपवित्र हूँ पर लक्ष्मी कैसे अपवित्र हो सकती है ? अच्छा छोड़िए ज्यादा बहस में आपको और मुझे देर हो सकती है और कहीं किसी ने देख लिया तो आप व्यर्थ में बदनाम हो जाएँगे, है न ?

कालिन्दी ने, है न ? कुछ इस तरह से कहा कि प्रथम अँधेरे में भी वह साँझवत झलक उठी।

और इसके बाद तो वह कालिन्दी के यहाँ आरंभ में कभी-कभी जाने लगे। स्पष्ट था कि प्रयोजन दोनों ही ओर से कुछ नहीं था। तभी तो जब भी इच्छा पहुँचे कि उन्हें पीछे के दरवाजे से ऊपर ले जाकर जमुना भीतर वाले कमरे में बिठा जाती। पान की तश्तरी आगे कर दी जाती। अगर मौसम में हल्की भी गर्मी होती तो जमुना कोने में खड़ी होकर पंखा झलती रहती। दो कमरों पार कालिन्दी का गायन तथा घुँघरू-स्वर सुनायी पड़ता रहता। कमरे में सज्जा के नाम पर विशिष्ट या हल्कापन नहीं ही दिखा। उन दिनों के प्रचलित रवि वर्मा के चित्र, छत में एक छोटा सा झाड़फानूस, तीन-चार रंग-बिरंगे लटकते हण्डे, सफेद चाँदनी की बिछात तथा तकिये ही थे। केवड़े या खस की हल्की गंध वाला पानी—सब सजा हुआ सा ही, लेकिन कुल मिला कर वासना से अधिक वीतरागिता ही उन्हें होती। वे जब भी जाते तो एक अव्यक्त भाव से ही जाते और जब उस कमरे में बैठे प्रतीक्षा करते तब भी अस्पष्ट ही रहते। केवल यही भाव आता कि वह यहाँ किस प्रयोजन के लिए आते हैं ? मन्दिर के जीर्णोद्धार का प्रयोजन तो सामाजिक हो सकता है उसमें व्यक्ति कहाँ संयुक्त होता है ? क्या कहीं कुछ मोह तो नहीं है ? लेकिन क्या मोह हो सकता है ? कालिन्दी का ? क्या उसमें मोह सम्भव है ? क्यों नहीं सम्भव है ? क्या वह नारी नहीं है ? लेकिन क्या कभी उन्हें नारी का इस प्रकार अभाव अनुभव हुआ है ? मान लो नहीं हुआ है तो क्या कभी भविष्य में भी यह अभाव अनुभव नहीं हो सकता है ? लेकिन कालिन्दी तो मात्र नारी ही नहीं है वह वेश्या भी तो है। तो क्या वेश्या नारी

नहीं होती ? क्या वेश्या किसी अभाव की पूर्ति नहीं कर सकती है ? लेकिन उनका धर्म, संस्कार, परिवार, लोकलाज क्या इसके लिए आज्ञा देता है ? लेकिन किस बात की आज्ञा चाहिए ? अभाव व्यक्ति को हो और उसके औचित्य को प्रमाणित करने के लिए धर्म, संस्कार, परिवार और लोकलाज की आज्ञा चाहिए ? वे स्वत ही हंस उठे । उन्हें हंसता देख कालिन्दी की नौकरानी जमुना चौकी,

आप किस बात पर हंस रहे हैं ?

कुछ नहीं ऐसे ही ।

जमुना समझी कि 'अम्मा जी' उधर किसी ग्राहक को जो फटकार रही थी कि बाबू साहब मुजरा देखने आये थे दो रुपयों में, निकालिए, निकालिए पांच रुपये, - शायद यही बात सुनकर यह हंसे होंगे । तभी दरवाजे की चौखट में थकी-हारी सी कालिन्दी और उसकी 'अम्माजी' दिखी । अम्माजी अपना पानदान तथा रुपयों की छोटीसी थैली सम्हाले हुए थी , इच्छाशकर को देख मुसकुराकर आदाब किया और भीतर की ओर बढ गयी। कालिन्दी थकी सी सामने आकर बैठ गयी और एक तकिया खींच कर क्षमा मांगते हुए अधलेटी होकर छत ताकने लगी । जमुना ने सकेत पाते ही उसे पानी दिया । पानी पीकर बोली,

— जमुना !

- जी ।

जा तो जरा अच्छे से बीड़े बना ला ।

जमुना के जाने के बाद कमरे में ही नहीं मकान तक में निस्तब्धता लग रही थी ।

- आपको बहुत देर हो गयी न ?

कुछ खास तो नहीं ।

- जीर्णोद्धार का काम शुरू हो गया ?

- हां । दो-चार मेठों से भी कुछ पैसा इकट्ठा हो गया है ।

- क्या आप बहुत जल्दी में हैं ?

- क्यों ?

- बाईजी से कालिन्दी बनना चाहती थी ताकि आपके पास कुछ देर बैठ सकूं ।

बस दो मिनट में आती हूं ।

और इच्छा कुछ कहे इसके पूर्व ही वह बाई जी, कालिन्दी बनने चली गयी । कितनी स्पष्ट है न ? लेकिन क्यों है ? क्या यह भी कोई वेश्या का 'हावभाव है ? लेकिन इस हावभाव से क्या होगा ? वह क्या सोचती है ? कुछ अपेक्षा रखती है ? वेश्या क्या अपेक्षा रख सकती है ? पैसे !! लेकिन कालिन्दी ने जीर्णोद्धार के लिए जो पाँच सौ दिये उससे तो नहीं लगता कि वह पैसे से मोह

करती है क्योंकि उसने यह गुप्तदान कह कर ही दिया है। . . और कालिन्दी लौट आयी। मराठी खण-पातल पहने थी। इस समय यदि वह नाक में नथ और पहन ले तो किसी भी भले घर की मराठी वधू ही लगेगी।

—मैं कई बार सोच चुकी हूँ कि आप यहाँ क्यों आते है ?

—मैं एक बात पूछना चाह रहा था।

—क्या ?

—तुमने कपड़े बदल डाले लेकिन इस बीच कोई ग्राहक आया तो. .

—मेरे यहाँ सिर्फ गाना सुनने वाले ही ग्राहक आते है और वह भी बँधा हुआ समय है।

इच्छा मौन ही बने रहे। उन्हें मौन देख वह बोली,

—क्या आप को नहीं विश्वास आता ?

—किस बात का ? . . .और मेरे विश्वास, अविश्वास से क्या आता-जाता है ?

—तब आप मेरे यहाँ क्यों आते हैं यह कोई श्री जी का मन्दिर तो है नहीं कि शयनारती के दर्शनों के लिए आप जैसे वैष्णव रोज आएँ ही।

वह हतप्रभ हो आये। यह नारी क्या कहना चाहती है कहीं मन में यह तो नही सोच रही है कि किसी अतिरिक्त प्रयोजन के लिए वह आते हैं ? लेकिन वह मात्र यही कह सके,

—मैं भी नही समझ पाता कि क्यों आता हूँ।

कालिन्दी ओठों की अपेक्षा आँखों से अधिक मुस्कुरा रही थी।

—एक बात बताइए।

—क्या ?

—मैं क्या कह कर आपको पुकारा करूँ

—मेरा नाम काफी नहीं है ?

—नहीं।

—किसी को उसके सामाजिक नाम से पुकारने पर बड़ा दूर-दूर का सा लगता है।

—तब जो तुम चाहो।

—मैं भी उसी नाम से पुकारना चाहती हूँ जिस नाम से पहले दिन जमुना ने मुझे आपके आने की सूचना दी थी।

—क्या सूचना दी थी ?

—जमींदार साब।

—लेकिन क्या मैं जमींदार लगता हूँ ? न चूड़ीदार पाजामा, न शेरवानी. . .

—न खिजाबदार मूँछें ही...
और वह कहते-कहते हँस पड़ी ।
—कुछ भी हो मेरे लिए तो जमींदार हैं ही ।
—तब तुम बहुत मुगालते में हो ।
—क्यों ?
—जमीदार अगर कोई है भी तो वह पिताजी हैं ।
—हुआ करें ।
—लेकिन जमींदारों के लिए मुजरे का जो तुम लेती होगी वह मैं कहाँ से दे सकता हूँ ?
—मैं पाई-पाई वसूल लूँगी ।
—कैसे ? मैं तो छोटा सा क्लर्क हूँ ।
—हम वेश्याएँ बिना फीस के अपनी मुसकुराहट तक नही देती है ।
—मेरे पास सौदा करने के लिए कुछ नहीं है ।
—अगर मेरे पास चीज होगी तो ग्राहक लाख आनाकानी करे आगे-पीछे रकम निकालेगा ही ।
—लगता है सौदा करने में बहुत पटु हो ।
—पटु न होती तो कोठे पर ऐसे ही बैठ जाती ?
—जमुना पान नहीं लायी ?
—क्या आप पान खाने लगे ?
—तो फिर उसे क्यों कहा था ?
—वह तो उसे जाने का संकेत था । क्या मैने कुछ ऐसा-वैसा कह दिया ?
—नही तो ।
—जमीदार साहब !
—देखो कालिन्दी ! न तो मैं जमींदार हूँ और न ही यह सम्बोधन मुझे प्रिय ही है ।
—तो फिर बताइए क्या कहूँ ? मैं नाम लेकर नहीं पुकारूँगी ।
—इसके अलावा जो कहना चाहो ।
—अच्छा तो फिर 'हुजूर' ।
—जैसी मर्जी ।
—हुजूर ! गुस्ताखी माफ हो तो एक बात पूछूँ ?
—क्या ?

---सुना है आप को तबला बहुत अच्छा आता है ।
---किसने कहा ?
---काले चोर ने कहा हो इससे क्या ? बात तो सही है ।
- बात सही नही है कालिंदी ! शौक है बस ।
---किसी दिन कृपा करेंगे ?
क्या मुझे अपने मीराजियो में रखना चाहती हो ?
- क्या आप मुझे बहुत ही गिरा हुआ समझते है ?
- ---क्यों ?
---आपने यह बात क्यों कही ?
---मैंने तो यों ही पूछा ।
---मै वेश्या हूँ इस बात से तो इन्कार नही कर सकती लेकिन अपने को नहीं बेच डाला है । आप पेट के लिए नौकरी करते है तो मुझे भी इसी पापी पेट के लिए सबके सामने गाना-बजाना पड़ता है लेकिन आत्मा को अभी तक वेश्या नही बनने दिया है हुजूर !
- तुम तो छोटी सी बात पर इतना...
---बहुत ठोकरें खायी है अब और ठोकर नही खाना चाहती । आप जिस दिन से आने लगे है मैंने जाने कितनी मनौतियाँ मानी है ।
- ---किसलिए ?
- ---कि आप को देख कर कभी मेरे मन में अन्यथा कुछ न आयें और आप ऐसे ही आते रहें । इससे अधिक मुझे कुछ नही चाहिए ।
---लेकिन क्या ऐसा कहना तुम्हें शोभा देता है ?
---आप यही न कहना चाहते है कि मै वेश्या हूँ इसलिए यह कहना मिथ्या, स्वाँग भर है ?
- ---यह नही भी सही फिर भी...
---फिर भी क्या ?
---कालिन्दी !
- ---हुजूर !
---एक बात बताओगी ?
- ---अगर बताने योग्य होगी ।
---नहीं, वादा करो, बताओगी ।
---झूठा वादा आपसे नही करूँगी ।

—क्या तुम सचमुच ही वेश्या हो ?

वह हठात हँस पड़ी । लेकिन उसे अपनी भूल भी जल्द ही अनुभव भी हो गयी और क्षमा भाव से फिर गंभीर होते हुए बोली,

—यह आप क्यों जानना चाहते हैं ? . . . और, क्या मैं वेश्या नहीं हूँ ? आपको यह घर, अम्माजी, यह कोठा, ये तस्वीरें, यहाँ की गंध, सारंगी, तबले, घुंघरू, आने वाले लोगबाग नहीं बताते हैं कि यह कालिन्दी बाई का कोठा है ?

—मैं सबकी बात नहीं पूछता । ये सब तो वेश्या की याद कराते ही हैं लेकिन तुम वेश्या नही लगतीं ।

—हे भगवान ! आप तो मेरा पेशा ही चौपट करवा देंगे । क्या मैं वेश्या नहीं लगती ? मानती हूँ कि अधेड़ होने आयी हूँ पर अपनी ओर से तो खूब सजती-सँवरती हूँ ।

—तो तुम सिवाय छलने के और कुछ नही कर सकती न ?

और हठात इच्छाशंकर उठ खड़े हुए । कालिन्दी ने भी उन्हें रोकना चाहते हुए भी नही रोका । शायद इसलिए कि वह स्वयं अपने में स्पष्ट नही थी कि वह इच्छाशंकर से क्या चाहती है ? यह तो वह जानती ही थी कि यह उस अर्थ में ग्राहक नहीं है । न वह उन्हें ग्राहक समझना भी चाहती थी और न ही अपने को तथा इच्छाशंकर को दूसरे लोगों से पृथक । तब वह क्यों चाहती थी कि यह व्यक्ति रोज आये ? किसी दिन अम्माजी को यह व्यर्थ का रोज-रोज का आना खटक भी सकता था और संभवतः वह किसी आपदा में भी पड़ सकती है लेकिन जाने क्यों वह अपने को मात्र इतना ही पकड़ सकी थी कि जिस पहले दिन वह इनके घर नाचने गयी थी तथा उसके बाद जब उस दिन गिरिवर में देखा था वह अव्यक्त अनुभव करती रही कि यह एक व्यक्ति है जिसे अपने पर वैसा ही धारा जा सकता है, जैसे कि धूप धारी जाती है । ऐसी धूप से देह को लज्जा नहीं होती बल्कि उससे मिट्टी कैसे फूल उठती है । तभी तो उस दिन गिरिवर में जैसे ही इन्हें देखा तो वह किस विश्वास के साथ पुकारते हुए जा खड़ी हुई थी । वह तो पहचान गयी थी लेकिन यह भी कुछ ही देर में पहचान ले गये । क्या कभी इन्हें कालिन्दी याद नहीं आयी होगी ? अवश्य ही नही आयी होगी तभी तो कभी भूल कर भी इधर नहीं झाँका । लेकिन एक भद्र-कुल के व्यक्ति को कोई वेश्या क्यों याद आने लगी ? साथ ही वह यह भी कैसे कह सकती है कि इच्छाशंकर उसे भी बहुत याद रहे । बल्कि बिल्कुल ही नही याद रहे । कितनी जगह वह नाचने-गाने जाती रही है और कैसे-कैसे सुन्दर,

उदार व्यक्तियों से उसका सामना हुआ है। कुछ तो उसके भारी प्रशंसक तक बन गये थे लेकिन क्या यह भी ठीक नहीं कि इच्छा-शंकर की यह उदासीनता ही उसके मोह का कारण फिर बन गयी हो ?

क्या पुजारी ने ही नहीं बतलाया था कि इच्छाशंकर ही मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाने के लिए प्रयत्नशील हैं ? और यही सुनकर वह वहाँ उस दिन गिरिवर नहीं गयी थी ? क्या उसे नहीं मालुम था कि उनकी पहली पत्नी की मृत्यु हो चुकी है ?

अप्राप्य के प्रति एक तीव्र लालसा होती है और वही प्रायः दुस्साहस भी करवाती है। वह देसाई-परिवार में रुचि इसलिए रखती थी कि उसे आशा थी कि न सही इच्छाशंकर तो कभी सूर्यशंकर या रत्नशंकर जब इस कस्बे में आ जाएँगे तो बड़े आदमी के नाते कभी वह उस परिवार में भी मुजरा करने जाएगी। लेकिन इस व्यावसायिक कामना ने वैयक्तिक लालसा का रूप कब-किस तरह ले लिया इसे वह स्वयं नहीं जानती। केवल वह उस शाम गिरिवर उत्सुकतावश गयी थी। आरम्भ में उसका यही विचार था कि वह इच्छाशंकर पर मात्र प्रभाव डालने के लिए जीर्णोद्धार के लिए रुपये दान करेगी। लेकिन अब जब वह गाहे-बगाहे गिरिवर पहुँच जाती तो उसे अपने में ही परिवर्तन लगने लगता। जैसे-जैसे मन्दिर के दो विशाल दीपाधार ऊँचे होने लगे उसमें भी जैसे कुछ निर्मित एवं स्वरूपित होने लगा। वह क्या था इसे वह संज्ञित नहीं कर पा रही थी क्योंकि न वह ठुमरी-दादरा का ही कोई स्वरूप था, न गजल का कोई मिसरा ही था जिसे उस्तादजी से पूछ कर आश्वस्त हो लेती, न वह कोई मुद्रा ही थी जो किसी लय-ताल के ठेके पर ठीक से संगत नहीं हो पा रही थी। वह कुछ अछूता था जिसे उसने क्रमशः अपनी नारी को सामने रखकर पाया था। कई बार कुछ पायी हुई बातें हमारे निकट संज्ञाहीन ही रहती हैं। भले ही उसके सुख से हम सुखी हों लेकिन कोई पूछे कि बताओ वह क्या है जो तुम्हें सुखी किये हुए है तो हम बड़े वायवीय ढंग से ही उसे अभिव्यक्त कर सकते हैं और सुनने वाला हमारी मूल ईमानदारी तक पर शंका कर सकता है। कालिन्दी में क्या परिवर्तन था कि जिसके कारण अब उसे अपने चारों ओर के अँधेरे में सदा एक गवाक्ष, चाहे छोटा सा ही, खुला अनुभव होता। जहाँ पहले मुजरों में या महफिलों में उसे कोई रागात्मिका नहीं होती थी, वहीं अब गाने या हावभाव करते यही अनुभव होता कि पीछे के कमरे में कोई आकर ऐसा व्यक्ति भी बैठा है जिसके निकट ये क्रयित हो जाने वाले दर्द, हावभाव, गंध कोई अर्थ नहीं रखते। वैसे वह कोई

कामदेव या बुद्धदेव नहीं है लेकिन ऐसा सहज भी नहीं है जिसे वह इस प्रकार महफिल में बैठे मेंहदी रंजित हथेलियों से मुद्राओं में दूर-पास का भ्रम उत्पन्न कर सके । इच्छाशंकर को वह कोई पद पर आसीन कर के नहीं देखती है पर वह स्वतः जहाँ है वहाँ तक अनजाने ही जाना चाहती है । यही वह लालसा है । इससे अधिक वह कुछ नहीं है इसे इच्छा और कालिन्दी दोनों ही भलीभाँति बूझते हैं ।

—आज कई दिनों बाद तशरीफ लाये ।
—रोज-रोज आते रहने पर अनजाने , अनचाहे एक सम्बन्ध बनता जाता है और कालिन्दी ! सम्बन्ध ही दुःख देता है ।
—तब कभी-कभी क्यों आते हैं ?
—ताकि क्रम न टूटे और सम्बन्ध भी न बने ।
—इस क्रम का प्रयोजन ?
—इतनी सदाशयता तो निभानी ही चाहिए न ?
—तो आप सदाशयता के लिए आते हैं, है न ?
—मैं तो केवल अपने सुख के लिए आता हूँ ।
—यहाँ आने में कौनसा सुख है आप को ?
—तुम तो खासी अच्छी जिरह कर लेती हो ।
—बिचारी वेश्या का साथ कौन दे सकता है ? सब अपने-अपने सुख के लिए-ही तो कभी-कभी आते हैं ताकि क्रम बना रहे और सम्बन्ध भी न रहे । सुख मिल जाए और संबंध का दुःख बेचारी वह वेश्या ही भोगे ।

और कहते-कहते कालिन्दी की आँखें छलछला आयीं ।

—कालिन्दी !

और कालिन्दी उठ गयी । वह निपट हो आये । क्या उन्होंने किसी विशेष अर्थ अर्थात कालिन्दी को दुःख पहुँचाने के लिए ऐसा कहा था ? जबकि वह एक चींटी का भी दुःख नहीं देख सकते । शाम को कचहरी से निकल आटे की पुड़िया

से चींटियों को आटा चुगाते हुए प्रत्येक चीटी के मुँह में आटे का एक उजला कण देखकर कितनी तृप्ति होती है । वह घंटों चींटियों के बिल के पास बैठे हुए आटा चुगाते देखते रहते हैं । वह कई बार बिल में आती-जाती चींटियों के बारे में सोचते हुए जाने कहाँ पहुँच जाते हैं कि आटे के ये उजले-उजले कण इस बिल में रहने वाले जीवों के इस विशाल कुटुम्ब तक पहुँच कर एक दिन देह-प्राण का रूप ग्रहण कर इस पृथ्वी पर चलने लगेंगे । और उन्हें अपने चारों ओर आटे के श्वेत कण देह-प्राण में चलते-फिरते क्षितिज पर्यन्त तक दिखने लगते । कितनी दिव्य तृप्ति से उनकी आँखें करुणामयी हो जाती हैं। भला वह इस कालिन्दी को क्यों दुःख पहुँचाने लगे ? जिससे उन्हें एक अभाव की पूर्ति का भास होता है , उनका विधुर तथा नितान्त एकाकी मन थोड़ी देर को ही सन्तोष प्राप्त करता है । इससे अधिक की वांछा उनकी कभी नहीं रही है । तब भला वह अनजाने में भी कालिन्दी को क्यों दुःख पहुँचाते ? पर वह तो रो दी । क्या कहीं किसी मर्म को अनजाने ही उनके द्वारा ठेस पहुँची है ? क्या वह कोई अचेत ही में सम्बन्ध अनुभव तो नहीं करने लगी है ? और सन्ध्याकाश सी विस्तृत किन्तु निष्प्रभ वह आकर बैठ गयी । पर उन्हें लगा कि यह बैठना मात्र सौजन्य का निर्वाह है । संभवतः इससे अधिक आज और कुछ संभव नहीं दिखता ।

—कालिन्दी !

—हुजूर !

—लगता है तुममें कोई सम्बन्ध अंकुरित होने लगा है ।

—तो उसके लिए आपको परेशान नहीं करूँगी, कभी नही करूँगी । आप चाहे तो क्रम भी न बनाएँ ।

—लेकिन तुम क्यों नहीं सोचती कि मेरी कोई पात्रता नही है ।

—इस तरह की बड़ी बातें आपको शोभा देती हैं हुजूर !।हम वेश्याएँ गजल की तरह हैं जो हजार बार मरती हैं, टुकड़े-टुकड़े हो जाती हैं पर केवल महफिलों में । हमारा व्यक्ति से क्या सम्बन्ध ?

—मैं समझता था कि तुम. . .अच्छा रहने दो ।

—भगवान भी बनाते-बनाते रुक गया था तभी तो नारी तक न बन सकी. । वेश्या बन गयी ।

—तुम्हें बड़ा परिताप है न ?

—नहीं, बड़ा सुख है अपने वेश्या होने में ।

कालिन्दी ने कुछ इस लहजे में तथा असम्पृक्त भाव से यह कहा कि इच्छाशंकर

सिर से पैर तक काँप उठे ।

—कालिन्दी !

—क्या ? आप यही न कहना चाहते हैं कि मैं कोई सम्बन्ध अंकुरित न होने दूँ ?

—नहीं । इस बारे में कहने वाला मैं कौन होता हूँ ? मैं तो कह रहा था कि कल तुम मेरे सामने यहाँ गाओगी और मैं तबला बजाऊँगा ।

—मुझ वेश्या के लिए इतने नीचे नहीं उतरने दूँगी । हाँ, गा मैं दूँगी ।

जब इच्छाशंकर घर पहुँचे तब रोज की भाँति आधी रात हो रही थी । पिता उन्हें वैसे ही टोका भी कि कोठों पर जाते लज्जा नहीं आती ?

पर क्या वह सचमुच कोठे पर जाते हैं ?

दिन बीतने का कोई शब्द नहीं होता । कई बार क्या, बल्कि अनेकों को दिन बीतने का अनुभव तक नहीं होता । संभवतः ऐसे ही व्यक्ति परमसुखी होते हैं नहीं तो कुछ व्यक्तियों को तो एक दिन क्या बल्कि एक-एक पल तक भारी हो जाता है और अपनी खिड़की की छड़ों के पीछे उदास-उदास से, सूनी-सूनी आँखों से किसी ऋतु में हरसिंगार तो किसी ऋतु में चमेली झरते हुए देखकर ऐसे आँसू भरे हो जाते हैं कि जैसे ओस लदे केना के फूल हों । भूल से भी यदि छू दिये गये तो ढेर सारी ओस अनायास गिरकर चू पड़ेगी । कालिन्दी ऐसी ही ओस लदी केना का फूल थी जबकि इच्छाशंकर यदि संपृक्त थे तो जैसे वासुदेव, पीपल की भाँति । जो भी आया, चाहे वह घाम हो या ओस सबको मौन सह ले गये । हवा के छोटे से टुकड़े पर भी प्रसन्नता व्यक्त कर थोड़े से हिल उठे तो झंझा के प्रति पोर-पोर तक हिल कर विनम्रता प्रकट कर दी ।

मन्दिरों का जीर्णोद्धार भी हो गया लेकिन वह अपने में धीरे-धीरे जीर्ण होने लगे ।

कालिन्दी के यहाँ वह क्यों या क्यों नहीं जाएँ को कभी स्पष्ट नहीं कर सके। उनके सामने वह गाती है लेकिन उसमें वह क्रयित हो जाने वाली मादकता नहीं। एक एकान्त निष्ठा की भाँति, जैसे दीप प्रकाश मंद-मंद गुनगुनाता है बस, वैसे ही वह भी उनके पास गान गुनगुनाती होती। क्या कली भी ऐसे ही भँवरे के कान में गुनगुनाती है ? तभी तो भँवरा कली-कली मँडराता है। जिस समय कालिन्दी गुनगुनाती है उस समय कमरे की दीवारें, छत, सीमाएँ जाने कहाँ विलीन हो जाती हैं और विराट खुल आता है। अजीब विस्तार का अनुभव होता है। देह तक, उतारे हुए वस्त्रों की भाँति छूट गिरी होती है। केवल अशरीरी भाव उस विराट में संतरित, प्रवाहित लगता है। कालिन्दी, तृप्तिमूर्त लगती है। कैसे वह अपने को सम्पूर्ण उर्ध्वमुखी कली की भाँति लगती है।

—कालिन्दी !

एक लंबे मौन के बाद जैसे धूप में चमकती ओस ने देखा हो।

—हुजूर !

—वासना क्या होती है ?

—जिस काम में दायित्व न हो वह वासना है।

—दायित्व किस बात का ?

—स्वयं को सौंपने का।

—मेरा दूसरा ब्याह होने वाला है कालिन्दी !

—लेकिन मुझे मुजरे के लिए न बुलवाइएगा।

—क्यों ?

—क्योंकि अपने हुजूर के सामने हावभाव का व्यवसाय नही कर सकती।

—मेरे ब्याह करने पर तुम्हें कुछ नहीं होता ?

—आप क्या सोचते हैं ?

—शायद तुम्हें दुःख हुआ हो।

—दुःख क्यों होगा ? ब्याह एक धर्म है और मैं वेश्या हूँ।

—लेकिन नारी भी तो हो।

—नारी होना चाहती हूँ तभी तो प्रभू से पाये व्यक्ति को उतना ही प्राप्त करना चाहती हूँ कि कभी-कभी वह जो मुझे नारी का पद दे जाया करता है कहीं अधिक लोभ करने पर यह पद भी न छिन जाए, इसलिए अपनी और आपकी सीमाएँ जानती हूँ। अवश हो जाऊँगी पर विवश नहीं करूँगी।

—क्या तुम सच ही वेश्या हो कालिन्दी ?

--आपको नहीं विश्वास होता ? लेकिन क्यों ? और क्या हो सकती हूँ ?
--यही नहीं सोच पाता हूँ ।
--मैं कभी इस बारे में नहीं सोचती ।
--पता नहीं मुझ जैसे निपट एकाकी को तुम जाने कैसे मिल गयीं ।
--मिले तो आप हैं मुझे इसलिए सहेजे रखने का बोझ भी मेरा है । आप पर कोई दायित्व नहीं है । यदि किसी दिन आप भी चले गये तो उसमें मेरा ही पाप आड़े आएगा ।
--लेकिन मुझसे तुम्हें क्या मिलता है ? कभी भी कुछ तो नहीं ।
--प्रभु की मूर्ति से क्या मिलता है ?

और इच्छाशंकर कालिन्दी को देखते ही रहे । ठीक बगल के तकिये पर सूर्यास्त की भाँति सिर टिकाये अनुत्तराल सन्ध्या बने वह अपने में समर्पित थी। एक लट छिटक कर कपोल से होती हुई गले की पीठिका में झूल रही थी । इच्छाशंकर ने निःशब्द उसे पुनः बालों में सजा दिया । कैसा गुनगुना स्पर्श था कपोलों का । कालिन्दी इस स्पर्श को अपने में बहुत गहरे पीते हुए परितृप्त हो रही थी, यह उसके नासापुटों, उठते-गिरते वक्षस्थल से बोधित हो रहा था जैसे वह स्पर्श ही सम्भोग हो । सम्भोग की परितृप्ति हमारी देह के रोम-रोम से होती हुई हमारे सारे तत्वों को सीचती हुई विराट कर देती है । हम उस क्षण सम्पूर्ण विदेह होते है । सन्ध्या के आकाश और धरती की भाँति इतने प्रलम्बित जोड़-जोड़ में इतने खुल जाते है कि तृप्ति के उस अकेले क्षण में जन्म-जन्मान्तर की यात्रा हो जाती है । न उसमें कोई भावना होती है, न उद्वेग । समस्त बोधों से भरे एक विराट चेतना समुद्र की भाँति चारों दिशाओं में अज्ञात आन्दोलित होती है ।

कुछ के लिए यह महासुख कई प्रकार से अभिव्यक्त होता है । सम्भोग, क्रिया नहीं; रागात्मिका है, तादात्मय बोध है । कालिन्दी सम्भोग के इसी सुख में वैसी ही श्रावण धरती हो रही थी जो एक बूँद को भी अपने कण-कण में आद्यन्त पी जाती है ।

इच्छाशंकर असम्पृक्त रह ही नही सकते थे । अग्नि कैसी ही धातु को पिघला देती है तब भला कालिन्दी जिसके प्रति न सही वासना, आकर्षण तो था ही । वह जैसे-जैसे एक कदम आगे बढ़ते वैसे-वैसे उस उतरने के लिए एक तर्क, एक

मान्यता, एक स्वीकृति उपस्थित कर लेते । हम कैसे भी गोपनीय आचरण के लिए एक तर्क, एक मान्यता, एक स्वीकृति सँजोये रखते हैं अपने मन में कि यदि किसी ने कभी हमसे पूछा तो हम उस सामने वाले को सन्तुष्ट कर सकें । यह बात दूसरी है कि हम स्वतः ही इस प्रकार के तर्क, मान्यता एवं स्वीकृति से कितने कुछ सन्तुष्ट हुए रहते हैं । असल में हम अपने व्यक्ति के प्रति दायित्व नहीं समझते । जो कुछ है सामाजिकता ही है । इच्छाशंकर भी कुन्तल हटाने से लेकर बाहुओं के घेरे में जैसे-जैसे बढ़ते गये उसके लिए उनके पास तर्क, मान्यता एवं स्वीकृति सब थी । संकल्प-विकल्प में वह अपने पिता से तथा पत्नी से कई बार ही नहीं बल्कि प्रायः अपना पक्ष सामने रखते कि कालिन्दी वेश्या नहीं वरन देवता की वह ठण्डी देहरी है जिसे बिना लाँघे दर्शन नहीं। कई बार देहरी ही सीमा होती है । कालिन्दी वही सीमा है ।

लेकिन हम यह भूल जाते हैं कि दुनिया में किसी को किसी के वैयक्तिक आचरण में कोई अनावश्यक रुचि नहीं होती । तभी तो तत्सम्बन्ध में हमारे तर्क, मान्यता एवं स्वीकृति कालान्तर में जंग खा जाते हैं । केवल इसकी सार्थकता यही होती है कि हम हमेशा अपने को पूछे जाने के आक्रमण से लैस रखते हैं कि हठात हमें कोई न पा सके ।

न पिता लज्जाशंकर न पत्नी, न बुआमाँ किसी को भी अनावश्यक रुचि नही थी पर जब क्रमशः कस्बे, मुहल्ले, तथा परिवार में इच्छाशंकर के इस प्रकार से कोठे पर जाने की चर्चा ने अपयश का रूप धारण किया तो पिता, माता, बुआ और पत्नी सब ने हस्तक्षेप करना शुरू किया ।

—शरम नहीं आती इच्छा ! तुझे ? कोठे पर जाता है और तबले बजाता है?

—क्यों मेरी कोख लजायी रे ? पिता तो परिवार के नाम के लिए खट-मर रहे हैं और तू कैसा घुन्ना पापी निकला ।

—क्या कालिन्दी बहुत सुन्दर है ?

लेकिन इच्छाशंकर ने कभी किसी के सामने जबान खोली थी जो इन्हें जवाब देते ? पता नहीं कालिन्दी उनके सामने कहाँ से खड़े होकर बोलती है कि उनके एकाकी मन में एक नहीं अनेक प्रतिध्वनियाँ होने लगती हैं । वह बोलते ही चले जाते हैं। लेकिन कालिन्दी के अतिरिक्त वह दूसरों के सामने केवल कौड़ियों की आँखों से देखते रहते हैं । उन्हें किसी भी बात में कोई रुचि नहीं थी । कालिन्दी भी उनके निकट एक चींटी, यद्यपि महत्वपूर्ण थी, जिसे रोज रात आटा चुगाना मानवीय कर्त्तव्य समझते थे । पत्नी के प्रति, परिवार के प्रति वह उससे भी बड़ा

कर्त्तव्य अनुभव करते थे । चूंकि वह नियमों के साँचे में ढले व्यक्ति थे इसलिए विरोधी या विभिन्न कर्तव्यों में कोई विषमता उत्पन्न नहीं होने देते थे । सब अपनी-अपनी जगह स्थापित थे । यद्यपि ऐसे साधारण व्यक्तियों के जीवन में कालिन्दी जैसी किसी भी नारी के आ जाने पर विषमता सहज होती है लेकिन इच्छाशंकर निभा ले जा रहे थे ।

जब दूसरी पत्नी शांति को सौंप कर चली गयी तो उन्हें कुछ देर के लिए सूनापन घिर उठा ।

—सुन चुकी हूँ, सब सुन चुकी हूँ ।

—अच्छा हुआ कालिन्दी ! मेरे बिना ही तुम सुन चुकी वर्ना उसे बता सकना शायद कठिन ही होता ।

—एक बात पूछूँ ?

—क्या ?

—यह या इतना सन्तोष कभी स्वयं को बोझ नही लगता ?

—लगता तो है ।

—तो फिर ?

—क्या करूँ ? अपनी-अपनी नियति है कालिन्दी ! दो-दो बार ब्याह किया लेकिन पता नहीं मेरे प्रवाह में जाने कितने-कैसे प्रपात हैं कि थोड़ी दूर चल आने वाला व्यक्ति उस प्रपात में पड़कर टूट जाता है ।

—क्यों नहीं आप अपने पिताजी का हाथ बँटाते ?

—कालिन्दी ! क्या यह अच्छा न होगा कि फिर किसी दिन इस बारे में . . .

—आज इतने बरस हो गये कभी आपने अपने इस बोझ को मुझ तक व्यक्त करने की आवश्यकता नहीं समझी । माना कि मैं कोई नहीं हूँ । वेश्या किसी की क्या हो सकती है ?

—क्या मेरे सामने अपने को इस प्रकार वेश्या कहते तुम्हें आनन्द मिलता है ?

—वेश्या तो हूँ ही ।

—सच मानो कालिन्दी ! तुम जाने क्या सोच कर मेरे निकट आयी लेकिन मैं प्रायः सोचता हूँ कि क्या कभी संभव है कि तुम वेश्या न रहो और मैं कुछ इसमें कर सकता हूँ ?

—हुजूर ! मैं जानती हूँ कि आप जरूर यह सोचते होंगे लेकिन यह बात आप भी निश्चित समझ लें कि मेरे कारण जितनी बदनामी आप को इस समय उठानी पड़ रही है इससे अधिक जिस दिन भी होगी मैं. . . ।

--हाँ, रुक क्यों गयी ?
--कह देने पर संकल्प जुठा जाता है। नहीं कहूँगी।
--अगर मैं किसी दिन जबरन....
--वह मैं जानती हूँ कि आप यह नहीं करेंगे।
--कैसे ?
--यह समझने के लिए नारी बनना होता है। --हाँ सुनिए, किसी दिन शांति को देखना चाहती हूँ।
--मैं उसे ले आऊँगा। देख लेना।
--यहाँ ?? ना बाबा !
--क्यों ?
--मेरी वह पवित्र बेटी है मैं उसे यहाँ बुलाकर अपवित्र नहीं करूँगी। जानते हैं मैं उसे क्या सुनाना चाहती हूँ ?
--कोई ठुमरी ?
--बस ?? यही समझ सके अपनी कालिन्दी को ? नहीं, मैं उसके मुँह से एक बार 'माँ' सुनना चाहती हूँ।

और जिस दिन तीसरी बार ब्याह कर आये कालिन्दी ने उनसे मात्र यही कहा,
--मैं बूझती हूँ हुजूर ! आप की विवशता, लेकिन भगवान के लिए अगर इस बार भी कुछ अप्रत्याशित घट जाए तो प्रण करें कि अब फिर कभी विवाह नहीं करेंगे।
--क्यों ?
--क्योंकि अगर भगवान को पुत्र देना होगा तो इस बार ही दे देंगे नहीं तो क्या फायदा कि अब आप चालीस के हो गये और बेचारी लड़की पन्द्रह-बीस बरस की हो।
--तुम क्या समझती हो कालिन्दी ! कि मैं ब्याह करना चाहता था ?
--मैंने तो पहले ही कह दिया था कि आपकी विवशता बूझती हूँ। छोटे भाई

विवाह ही नहीं करते। सबसे छोटे रहे ही नहीं इसलिए पिताजी का आपको बार-बार विवाह के लिए जोर देना समझ में आता है लेकिन हर बात की सीमा होती है।

—एक बात पूछूँ कालिन्दी !

—क्या ?

—कभी भी तुम्हें लालच नहीं हुआ ?

—किस बात का ? क्या यह कि आप मुझे घर में क्यों नहीं डाल लेते ?

—हाँ।

—किसलिए ? ऐसा करने के बाद न आपकी, न मेरी, दोनों की ही कोई सामाजिकता नहीं रह जाती।

—तब दूसरी वेश्याएँ क्यों बैठ जाती हैं ?

—मैं अपनी बात जानती हूँ। पाप मैंने किये हैं अतः उसमें किसी निर्दोष अन्य को क्यों सानूँ ?

—क्या मैं अभी भी पराया हूँ ?

—कम से कम भोग भोगने में तो। बाकी मेरे भगवान जानते हैं कि आप मेरे लिए क्या हैं। और यह भी जानती हूँ कि इससे अधिक कामना करने पर यह दर्पण सा दरक जाएगा, और मैं उसकी कल्पना नहीं कर सकती। मैं जानती हूँ कि मैं बीमार हूँ और यह भी कि आप पथ्य हैं। एक मात्रा से अधिक की आशा ही नहीं है? रोगी लालच नहीं कर सकता। मेरे लिए आप संयम हैं। भोग नहीं। भोग होते तो कभी का भोग लिया होता।

—मैं तुम्हें कुछ नहीं दे सका न ?

—मेरी बात छोड़िए। आप को तो परिताप नहीं है न ?

—तुम नहीं जानती कि मैं तुम्हें ...

—आपको शपथ जो वाक्य पूरा करें। ऐसा नहीं सुनना चाहती कि मेरा माथा ही फिर जाए। कामदार जूती भी पैरों ही में पहनी जाती है।

—सच बताओ कालिन्दी ! तुम कौन हो ?

—जो हूँ क्या वह छुपाया है ?

—नहीं, बहुत पहले।

—मैं स्वयं नहीं जानती। मैंने जब भी होश सम्हाला, अपने को इन्हीं अम्माजी के पास ही पाया। सच मानें वह भी विवश हैं वर्ना संभवतः मुझसे यह पेशा न करवाएँ, तभी तो आप देखते नहीं कि कितनी छूट है। इसीलिए केवल

नाचना-गाना ही. . .भगवान ने इतना दे रखा है कि रूखी-सूखी खा लेते हैं, बस।

और जिस दिन उदयन का अर्थात मेरा जन्म हुआ इच्छाशंकर बहुत प्रसन्न मन कालिन्दी के यहाँ पहुँचे। उस शाम कालिन्दी की महफिल प्रकाशहीन थी। वह उसी तरह रोज वाले जीने पर चढ़ने को ही थे कि जमुना ने बताया कि सामने के जीने से ही चले जाइए। उन्हें कुछ आज अप्रत्याशित सा ही लगा क्योंकि रोज वाले जीने के बजाय वह आज सामने वाले से गये। जमुना भी उदास सी ही लगी।

ऊपर चढ़कर देखा कि महफिल वीरान थी। केवल बीच वाले फानूस में रोशनी थी। चारों ओर के गद्दे-तकिये उदास अप्रतिहत थे। बीच वाले गाव तकिये पर सिर रखे अन्यमनस्का बनी कालिन्दी समस्त आभरणों में टूटा फानूस लग रही थी। गंध थी, पर बासी, कुचले फूलों की। केवल उस प्रशस्त कमरे में वह खड़े हुए खिंच उठे थे। उनका यह आगमन केवल कोने में रखे तबलों और सारंगी ने देखा। न कहीं मीराजी ही था, न सार्जिदा। वातावरण में अजीव ढीला-ढीला तनाव था जो उनकी पदाहट से किंचित टूटता सा लग रहा था। वह पास जाकर खड़े हो गये। मुहूर्त भी समय होता है या लगता है, यह प्रतीति ऐसे ही अवसरों पर अनुभव हुआ करती है। उनके ठीक पैरों के पास एक सज्जा, च्युतशाखा सी धूसरित थी। क्या बात हो सकती है ? क्या कालिन्दी को उनके आने की भनक नहीं हुई है ?

—कालिन्दी।

हल्के सुबुकने की आवाज हुई। कालिन्दी क्यों रो रही है ? वह उससे पूछना चाहने लगे किन्तु इस बात से सचेत थे कि किसी भी क्षण कोई परिचित यहाँ आ सकता है और यहाँ का धुंधला अँधेरा अभी फानूसों में जागकर सारा उनका एकान्त नष्ट कर उन्हें कोठे पर खड़ा कर देगा।

—कालिन्दी !

वह यथावत ही रही ।

——क्या बात है ?

——कुछ नहीं ।

और उसने आँचल से मुँह छुपाते हुए उठ कर चलने की चेष्टा की कि पैरों के घुँघरुओं ने वातावरण की निस्तब्धता झुठला दी ।

——क्या सच ही कोई बात नहीं है ?

कालिन्दी ने अपना हाथ इच्छाशंकर से छुड़ाते हुए अब बरसे तब बरसे की तरह देखा ।

——आप आ गये ?

जाने कहाँ देखते हुए, जाने कितनी दूर से, जाने कितनी विवशता से वह बोली ।

——क्या बात है ?

और वह कुछ भी न कह कर उनके कंधों पर सिर रख कर रोने लगी । शायद आज पहली बार कालिन्दी ने न केवल उनका कुरता ही भिगोया बल्कि वह अन्तर तक भीग उठे ।

——मुझे नहीं बताओगी ? केवल रोती ही रहोगी ?

रोती हुई आँखें आपको देखती नहीं हैं बल्कि आपके निकट खुल आती हैं । आप भी उन्हें देखते नहीं हैं वरन उनमें तिर आते हैं । तभी तो रोकर कोई व्यक्ति अधिक निकट हो उठता है । हम ऐसी आँखों को समग्र,सम्पूर्ण सौंप देने को अकुला उठते हैं। कालिन्दी की वे आँखें वाक्य नहीं बल्कि पूरा अध्याय थीं ?

——क्या करेंगे सुन कर ?

——जब तुम मेरी पात्रता बूझती ही हो तो फिर न सुनाओ ।

——क्या आपका पुरुषार्थ किसी दिन भी मेरे लिए न खौलेगा ?

——ऐसा तुम समझती हो ?

——समझती न तो अब तक ठाकुर गजराज सिह की पाल्की मुझे ले जाती ।

——क्यों ? क्यों ले जाती ?

——उनका रुपया हमारी तरफ निकलता है ।

——तो क्या वह तुम्हें ले जाएँगे ?

——कल तक की मोहलत और दी है ।

——तुम क्या सोचती हो ?

——मैं आप की प्रतीक्षा कर रही थी । मैं मर जाऊँगी लेकिन किसी और को समर्पण नहीं करूँगी ।

—कालिन्दी बहुत बड़ा क्या, छोटा सा दावा भी करना नहीं आता पर कल जमुना को कचहरी में भेज देना . . . अरे हाँ, आज मैं कितनी खुशी की खबर लेकर आया था ।

—लड़का हुआ ?

और कालिन्दी ने देखा कि इच्छाशंकर इतने प्रसन्न, इतने तृप्त, इतने सुन्दर पहले कभी नहीं लगे ।

—मुबारक हो ।

—अच्छा होता कि पिताजी को जाकर यह मुबारकबाद देती ।

—इस खुशी में जल्सा नही करवाइएगा ?

—तुम नाचोगी ?

—बेशक ।

—तुम्हें नाचते देख कर मुझ पर क्या बीतेगी ?

—आप एक बार कह दें कि न नाचो, मैं जीवन भर के लिए यह पेशा ही छोड़ दूँ ।

—तुम्हें यह अस्वीकार कर तो दूँ पर दूसरा कुछ स्वीकार भी तो सामने होना चाहिए न ? अच्छा, मेरे पास आओ ।

और इच्छाशंकर ने जब से एक हार निकाल कर पहनाते हुए कहा,

—लड़का तुम्हें भी मुबारक हो ।

चरम दुःख की ही भाँति चरम सुख भी रुलाता ही है । इसीलिए अति को शास्त्रकारों ने वर्जित किया है । लेकिन शास्त्रकारों के वर्जित कर देने से क्या लोग चरम सुखी या चरम दुखी होना बन्द कर देंगे ? कालिन्दी इच्छाशंकर की देह से भीगा वस्त्र होती जा रही थी । चारों ओर की चरम निस्तब्धता में कालिन्दी की साँसों की धड़कन तथा बुदबुदाना उठ रहा था ।

—इतना राग किसलिए कालिन्दी ?

—मुझे माँ बना दो । केवल इसी की भीख माँगने के लिए जनम भर सेप्रतीक्षा करती रही हूँ ।

कालिन्दी उत्तेजित थी लेकिन इच्छाशंकर ठण्डी शिला हो रहे थे । पता नहीं किसी भी, कैसी ही उत्तेजना के क्षण में क्या घर, क्या बाहर वह कर्त्तव्याकर्त्तव्य के बोध से बुझ जाया करते हैं । वह उदार थे, । संस्पर्शवान थे पर एक सीमा के बाद बोधहीन हो जाया करते थे । कालिन्दी उनकी इस उदासीनता को अच्छी तरह समझती है लेकिन आज वह समझी थी कि वह मुहूर्त आ गया

जिसकी उसे प्रतीक्षा रही । वैसे कालिन्दी के प्रति भी कर्त्तव्य वह अनुभव करते थे ।

लेकिन इच्छा शंकर यह नही जानते थे कि उनकी पत्नी उनका और कालिन्दी का सम्बन्ध सुनकर इतनी बिफर जाएगी । जब पिता ने उनसे पूछा कि तिजौरी में से रुपया निकालकर उन्होंने किसे दिया ? और पूछने पर इच्छा चुप ही रहे इस पर सब को आश्चर्य हुआ क्योंकि इच्छा के बारे में दूसरी बात भले ही सोची जा सकती है कि उन्हें न जमीन, न जायदाद, न जमींदारी किसी में भी कोई दिलचस्पी नहीं है लेकिन वह एक दिन तिजौरी से रुपया निकाल कर किसी को दे देंगे और पूछे जाने पर रोज की तरह कचहरी जाने के लिए उतने ही शान्त भाव से जूतियाँ पहनने लगे हैं जैसे किसी तरकारी-भाजी के बारे में कुछ व्यर्थ का पूछा गया हो ।

—इच्छा ! बताता क्यों नहीं ? क्या किया रुपयों का ? क्या तोजी जमा की खजाने में ?

बुआ की इस बात पर इच्छा फिर भी मौन रहे । सामने पिता खड़े थे, क्या कहते ?

—तुम इससे व्यर्थ पूछती हो । मैं इन लड़कों को अच्छी तरह जानता हूँ । शंकर के बारे में सब सुन चुका हूँ लेकिन मुझे इससे यह आशा नहीं थी ।

—बता न ? दादा क्या पूछ रहे हैं । क्या जीर्णोद्धार के सिलसिले का उधार देना था या क्या हुआ ?

—मैंने किसी को दे दिया बुआ !

और वह तीर की तरह निकल गये । बुआ और पिता दोनों अवाक खड़े रह गये । तीन-चार हजार रुपया इच्छा ने किसी को दे दिया । लेकिन किसे दिया ? क्या उधार ? लेकिन उधार दे देने पर इतना संकोच कैसा ? तब ? क्या ? . . . क्या ?? जिसका उन्हें शक था कि यह कालिन्दी बाई के यहाँ जाता है कहीं उसे ही तो नहीं ?? आखिर वेश्या ने गहरा हाथ मार ही दिया ? उन्हें क्रोध तो इतना आया कि उस बाई जी को सरेआम पिटवा दें लेकिन अपनी ही बदनामी होती । और

यह इच्छा ऐसा है कि नालिश कर देने पर भी भरी कोर्ट में कह देगा कि हाँ उसने मर्जी से कालिन्दी को रुपया दिया। ऐसे में तब उनकी क्या बात और क्या इज्जत रह जाएगी ?

और इतनी बड़ी बात भला घर की चारदिवारी में कैसे रह सकती थी ? तेरे मुँह से उसके मुँह होती हुई पूरे मुहल्ले और जाति भर में यह बात इस रूप फैली कि इच्छाशंकर कालिन्दी बाई को घर में डाल रहे हैं। अभी वह पूरी तरह राजी नहीं हुई है, कुछ हजार और चाहती है उसके लिए गहने भी बन रहे हैं। और बिचारी पत्नी का जीना हराम हो गया। साँवली, बल्कि काफी साँवली पत्नी को यह समझते देर न लगी कि जिस दिन कालिन्दी घर में आ जाएगी उस दिन उन्हें या तो हमेशा के लिए मायके भेज दिया जाएगा, नहीं तो उस रण्डी की टहल में रहना पड़ेगा।

—बहना ! जाको पिया चाहे वही सुहागन ! रण्डी है तो क्या। खसम की दुलारी है जो।

—इस बेचारी के तो भाग फूट गये। पूरी जिनगी रण्डी की सेवा करो, और क्या।

—अरे इन मर्दों को लाज भी नही आवै। तीन-तीन शादी से पेट नहीं भरा दीखे। अब मोरी (गंदे पानी का नाला) में जाकर मुँह डाला। राम-राम।

—औरतों को ही बदनाम फिजूल करे हैं, जरा अपनी करनी तो देखें।

—सच बताना, रात-दिन को कोई रण्डी सौत बन कर अजाए तो आदमी पागल न हो तो क्या हो ?

और उदयन की माँ, अर्थात मेरी माँ पर इस सार्वजनिक 'सहानुभूति' का प्रभाव क्यों नहीं होता ? और वह क्रमशः पति से ऐसी खिचती चली गयीं कि पति की उपस्थिति मात्र से पहले घृणा उपरान्त क्रोध, प्रलाप में परिणत होने लगा। इच्छा कुछ न समझ पाये कि पत्नी में यह परिवर्तन क्यों है ? वह अधिक सहानुभूति रखने लगे लेकिन पत्नी के निकट वह उतना ही शंका, संशय का कारण बनता चला गया। आखिर इच्छा भी पुरुष थे, पति थे। माना कि सहिष्णुता उनमें सीमातीत थी लेकिन सीमा शब्द फिर भी जुड़ा तो था न ?

—आप मेरे बच्चे को हाथ न लगाएँ।

—यह क्या पागलपन इन दिनों तुमने लगा रखा है।

—यह आधी-आधी रात तक आप कहाँ रहते हैं ?
—देखो व्यर्थ की बातों से परेशान होने की जरूरत नहीं ।
—आप उसे सौत बनाकर कब ला रहे है ?
—मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम्हारा दिमाग खराब है ।
—हाँ, मेरा दिमाग खराब है । भगवान करे पागल हो जाऊँ ताकि तुम और वह रण्डी दोनों मौज करो ।
—क्या बकती हो ? कायदे से बातें करना सीखो ।
—हाँ, अब कायदा वह आकर सिखाये तभी न आएगा ? जब एक रण्डी को घर में डालना ही था तब ब्याह का नाटक करने की जरूरत क्या थी ?
—देखो तुम हद से बाहर होती जा रही हो ?
—लो, मुझे मार डालो । मैं यह बात क्यों न कहूँ ? तिजोरी से हजारों रुपये निकाल कर बाजारू औरत को देते हुए शर्म नही आयी ?

और इच्छाशंकर ने जाने किस बल के साथ पत्नी को दो चाँटे मारे कि उसके मुँह से खून गिरने लगा । कहते हैं कि जैसे बरसों से कोई व्यक्ति न रोया हो तो उसका रोना जीवन-मरण का संकट उपस्थित कर सकता है वैसे ही क्रोध, बल सभी आवेगों का है । इच्छाशंकर ने कभी क्रोध नही किया था, न किसी को मारा ही था इसलिए अनचाहे, अनजाने इतने जोर से मार बैठे कि पत्नी बेहोश और खून-खून हो उठी । बच्चा रो पड़ा । बच्चे का रोना थोड़ी देर तक चलते रहने के कारण बुआ का ध्यान गया कि क्या बात है ?

और इसके बाद सारे परिवार में एक ऐसी दहशत, खामोशी समा गयी कि उसकी अनुगूँज मुहल्ले तक में छा गयी । पत्नी अब ऐसी जड़ा गयी कि केवल डरी-डरी, फटी-फटी आँखों से घर के एकान्त में पड़े हुए ताकने के वह पत्थर हो गयी । इच्छा, जो कि अब तक घर भर में सौम्य माने जाते थे हठात रातों रात भय के कारण माने जाने लगे । न कभी शांति, न मैं उनके पास जाने दिये जाते । बुआ ने भी थोड़ा कठोर रुख अपना लिया । पिता को लगा कि जिस परिवार को अपने पुरुषार्थ से वह यहाँ तक लाये थे उसके बाद व्यर्थ है । तीसरी बहू को जब स्पष्ट रूप से पागल देखा तो उन्होंने सिर पीट लिया । उन्होंने स्वीकार लिया कि कहीं कुछ अपशकुनी छाया उनके परिवार पर मँडरा रही है तभी तो गाय जैसा इच्छा, भला एक वेश्या के चक्कर में कैसे पड़ा ? रुपया गया और घर में बहू पागल बनी बैठी है । वह अब इस फड़नवीस वाली जायदाद को बेचना चाहने लगे ।

इच्छाशंकर परिस्थिति की गंभीरता अनुभव कर रहे थे । उन्हें उस दिन की मार के बाद अपने पर ही अत्यन्त ग्लानि हुई कि पत्नी को समझाना चाहिए था क्योंकि उसकी शंका या भय निर्मूल नहीं कहा जा सकता था । वह भी जानते थे कि कालिन्दी को लेकर उनकी बदनामी खासी फैल गयी थी । वह कई दिनों तक कालिन्दी के यहाँ नहीं गये थे । कचहरी से निकल किलेघाट से होते हुए वह बादशाही-पुल पर घंटों बैठे रहते। उन्हें अब कुछ भी अच्छा नहीं लगता। अब उन्हें अपने पर संयम रखने के लिए नशे की आवश्यकता होने लगी।

जब अनेक दिनों के बाद भाँग के नशे में चूर जिस समय वह कालिन्दी के यहाँ पहुँचे वह उस समय अपनी महफिल में व्यस्त थी। जमुना ने इतने दिनों बाद जब उन्हें आया देखा तो वह सूचना दे आयी तथा अतिरिक्त सेवा में लग गयी।

—जमुना !

—जी।

—कभी तुमने शराब पी है ?

जमुना अवाक हो आयी। इच्छाशंकर उसके निकट अत्यन्त समादृत व्यक्ति रहे हैं। वह जानती थी कि यह व्यक्ति उसकी मालकिन के लिए कितना महत्व-पूर्ण है। कभी सीमा लाँघ कर बात न की होगी। भला आज इस बात का प्रयोजन ?

—छोटों को ज्यादा मुँह लगाना ठीक नहीं होता हुजूर !

—तुम भी मुझे 'हुजूर' कहती हो ?

बेचारी जमुना क्या समझे ? लेकिन उसे लगा कि आज यह वह रोज वाले इच्छाशंकर नहीं हैं।

—तुम्हारी मालकिन को बोलो कि हम आये हैं ।
—आती ही हैं । आप कुछ पिएँगे ?
—हाँ, लेकिन क्या पिलाओगी ? पानी ?
यद्यपि जमुना रोज ही महफिल में आने वालों को इस प्रकार व्यवहार करते देखती है और उसे लेशमात्र भी आश्चर्य नहीं होता क्योंकि इसके अलावा वह उनसे अधिक की आशा ही नहीं रखती है । लेकिन जब इच्छाशंकर के मुँह से उसने वैसी ही बातें सुनीं तो उसे मात्र आश्चर्य ही नहीं हुआ वरन भय लगा । वह तुरन्त जाकर मालकिन को सूचना कर आयी । शायद बाहर महफिल समाप्त हो गयी थी । आज कालिन्दी सिर से पैर तक काली भूषा पहने थी जिसमें सलमे-सितारे झलक दे रहे थे । इच्छा उसकी ओर देखते ही रह गये ।

—शारदीया रात्रि का आकाश ? आओ, पास आओ ।
—जमुना ! जरूरत होगी बुला लूँगी ।
कालिन्दी को इच्छा का व्यवहार अप्रत्याशित ही लगा । कई दिनों बाद देखा था । इस बीच वह स्वयं भी शंका-कुशंकाओं से घिरी रही । उसे भी बदनामी की भनक पड़ गयी थी । उसे अपने पर झल्लाहट थी । उसे अपनी ही भूल लगती थी कि इच्छा को उसने सीमा से अतिरिक्त चाहा और उसी का नतीजा था कि आज उसका नाम इच्छा के नाम के साथ जुड़ा हुआ गली-गली में फैला हुआ था ।
—तबियत कैसी है ?
—कैसी लगती है ?
—अच्छी नहीं लगती तभी तो पूछा ।
—तब भला पूछना क्या ?
—मुझ से बहुत नाराज हैं न ?
—नहीं, बहुत खुश हूँ । लाओ पिला दो कालिन्दी ! ऐसी पिलाना कि फिर कभी नशा न उतरे ।
कालिन्दी अवाक थी । जिस व्यक्ति ने आज इतने बरसों में भी कभी न सीमा, न संयम किसी का भी उल्लंघन नहीं किया वही आज इस प्रकार व्यवहार कर रहा है जैसा कि इन जगहों पर आनेवाले प्रायः किया करते हैं तो उसे ठेस नहीं लगी, मात्र आश्चर्य हुआ । कारण कि वह परिवर्तन का निमित्त भी स्वयं को ही मानती है ।
—यह नयी आदत कब से सीखी ?

—जबसे तुम्हें अंगीकार किया है । यहाँ आओ । दूर न बैठो । आज मैं सब कुछ भूल जाना चाहता हूँ ।

—आप को आराम करना चाहिए ।

—मुझे आराम नहीं, मुझे कालिन्दी और शराब चाहिए ।

कालिन्दी घबरा उठी । इच्छाशंकर को वह आद्यन्त जानती थी । सीधा व्यक्ति जब जिद पर आ जाता है तो उसे विपथ करना कठिन होता है ।

—अगर कालिन्दी और शराब में से एक को चुनना पड़े तो किसे चुनेंगे ?

—शराब को ।

कालिन्दी पर वज्रपात हुआ । वह क्या सुन रही है ?

—क्या पहले ही कहीं से पीकर आये हैं ?

—तुम्हें खुशी होगी कालिन्दी ! कि मेरी पत्नी पूरी तरह पागल हो गयी है । अच्छा यह बताओ कि उसके शक को अगर रूप दे दूँ तो कैसा रहे ? अरे, तुमने अभी तक शराब नहीं मँगवायी ?

—किस शक की बात कर रहे हैं ?

—यह एक रहस्य है कालिन्दी ! और कोई भी रहस्य होश-हवास में आदमी नहीं कहता है । तुम मुझसे मेरात्व छीन लो और मैं सब कह दूँगा । कालिन्दी ! तुम्हारे बारे में मेरे मन में बड़ी से बड़ी वासना है लेकिन मैं कायर हूँ । कभी उसे न व्यक्त कर सका, न तुम्हें बाँहों में पाकर वैसा कर ही सका जैसा चाहता रहा । लेकिन आज . . . कालिन्दी ! तुम्हें भी मेरी उपेक्षा करनी सुहाता है न ?

—नहीं तो ! लेकिन शराब नहीं पीने दूँगी ।

—तब मुझे कालिन्दी की भी जरूरत नहीं ।

और इच्छाशंकर उठे । उन्हें इस प्रकार जाते देख कालिन्दी सकपका गयी ।

—एक बात पूछना चाहती हूँ ।

—संभव है मैं उत्तर न देना चाहूँ ।

—मुझे आप भी वेश्या समझते हैं न ?

इच्छाशकर ने अपने को समेटते हुए कालिन्दी की ओर देखने की चेष्टा की । वह नशे में धुत थे । बारंबार दृष्टि बाँध कर कालिन्दी की ओर देखते । एक क्षण तो वह स्पष्ट हो जाती लेकिन दूसरे ही क्षण बिखर उठती । जैसे कालिन्दी असंख्य पाटलों वाला कोई बड़ा सा फूल हो । वह उसकी पाँखुरियों को सहेजते हैं और वे पाँखुरियाँ बिखर-बिखर पड़ती हैं । दिमाग पर एक जोर का झटका

आया और उन्होंने सामने खड़ी जल डूबी झाँई वाली कालिन्दी के कंधे पर हाथ रखते हुए कहा,

—कालिन्दी! उस दिन तुमने क्या गाया था?...'मेरो दरद न जाने कोय'... है न? कौन किसका दर्द आज तक जाना सका है? सब फिजूल की बातें हैं कालिन्दी! मैं अपने को निर्द्वन्द्व चाहता हूँ लेकिन स्वतः ही कस-कस उठा हूँ। मैं ने अपने को क्या कर लिया है कालिन्दी?

और जिस दृष्टि से कालिन्दी की ओर देखा वह आग्नेय-दृष्टि अर्जुन के बाण की भाँति उसकी सत्ता की धरती को चीरती हुई सीधे उसके अस्तित्वबोध को बेध गयी और बाणगंगा फूट उठी। वह लज्जाशंकर को अत्यन्त सरल मानती रही है। एक समतल मैदानवत, जिस पर चींटी, पशु और मनुष्य निश्चिन्त चरते-विचरते है। कहीं कोई व्यतिपात नही। लेकिन हठात आज कैसा ग्रंथित मन लिये एक टूटे प्रवेग की भाँति अरहरा रहे है। उसका भ्रम था कि इन्हें कोई दुःख नहीं। कैसे सीधे पथ के पथचारी है। लेकिन नहीं, कोई पथ सीधा नहीं होता। लगता है कि सामने वाले का पैर कैसे समतल पर हैं न? किन्तु उसकी पगथली के नीचे चुभता पथ क्या हम बूझ पाते है? हमें अपनी ही पग-थली की विषमता बहुत बड़ी लगती है।

वह उन्हें लौटा ले गयी। आज अतिरिक्त ममता उमड़ी पड़ रही थी।

—क्या कोई नहीं होता जिससे दर्द बँटाया जा सकता है?

—कालिन्दी! दर्द तो अमूर्त वस्तु है। भाव है। जो बाँटा जा सके वह दर्द नहीं होता। क्या तुम अपना संभोग का भाव बाँट सकती हो? 'बड़ा सुख है' या 'बड़ा दुःख है' से वह भाव बँट गया? कोई भी घटित होने वाली वस्तु या भावना बाँटी नहीं जा सकती। और क्या बाँटना चाहती हो?...एक पत्नी गयी, दूसरी गयी और तीसरी गयी...चली ही जाएगी...क्या इस दुःख को बँटा सकोगी कालिन्दी?

—आप को इस तरह नहीं सोचना चाहिए।

—कालिन्दी! मैं अपनी विवशता जानता हूँ। मेरा दर्द, मेरा दुःख मेरे अपने विवेकी संकोच का है। वह संकोच जो मुझमें जमकर मौन हो गया है। अपनी माँ तक को दाल में नमक है या नहीं यह नहीं कह पाता था। जाने कितनी बातें

अजन्मी, भ्रूण, ऐंठ-ऐंठ जाती हैं पर जाने कैसे पत्थर के से ओठ है कि बोल ही नहीं फूट पाता है। मैंने कितनी बार कहना चाहा कि कहूँ, कालिन्दी ! मैं तुम्हें प्रेम करता हूँ किन्तु बताओ, क्या कभी कह पाया ? क्योंकि एक गहरा संकोच अपनी पात्रता का बोध अनुक्षण घेरता रहता है कि न मैं पिता की भाँति पुरुषार्थी हूँ, न शंकर की भाँति मेरी अपनी विशिष्ट सामाजिक उपलब्धि ही। बस, बराबर यह लगता है कि ग्वाले के यहाँ साँड़ की जो उपयोगिता है संभवतः वही मेरी भी है। . . . एक लड़की है . . . एक लड़का है. . . .पल ही जाएँगे। सब अपने-अपने पथ पर चले जाएँगे, लौट जाएँगे और इच्छाशंकर एक निरर्थक संज्ञा की भाँति पृथ्वी पर बोझ बने हुए किसी दिन एकान्त में अज्ञात, अनाम झर जाएँगे। हमारे कैसे-कैसे प्रयत्नों को नियति झुठला जाती है और हमें निरीह कर जाती है। कितना व्यर्थ है कालिन्दी ! कि जिस दिन, क्षण, काल की महापीठिका की भूमिका में लोग यश, पद, लक्ष्मी और जाने क्या-क्या अर्जित करते हैं वहाँ मुझ जैसा एक अपात्र केवल पत्थर का एक निरीह, दूह बनकर उसे बोझिल किये रहने के और क्या करता है ? तुम. . .भोर का स्वप्न हो; न सच हुआ, न होगा। ठीक है भ्रम बनाये हुए है. . .कितना कुछ करना चाहता हूँ, था, लेकिन शनैः-शनैः एक-एक कण छपाक से टूटता है और छपाक की आवाज के साथ आप विवश टूटते चले जाते है। कैसी जड़ता है कालिन्दी ! . . .बताओ, इस दर्द को, इस दुःख को, इस संकोच को बँटा सकती हो ? पत्थर का गुफित संकोच अपने इस गंधित वक्ष पर आभूषण की भाँति धार सकोगी ? टूट जाएगा सब। अंग-अंग में पत्थर समा जाता है कालिन्दी।. . .दो चट्टानों में एक नन्हीं पत्ती की भांति पिस कर अनंत काल तक के लिए मौन हो जाना पड़ता है। समझती हो न बँटाने का अर्थ या यों ही बँटाने चली थी ? इस बँटाने में संज्ञा तक विनष्ट हो जाती है। फिर कभी उसी रूप में, कभी भी लौटना नहीं होता कालिंदी ! पर-दुःख को बँटाना जीवित-मृत्यु है। यंत्रणा देह की नही, मन की होती है। इस अपारमिता को जब अनुस्यूत कर लेते हैं न . . . तब अनन्त, असह्य विशाल आपके सामने खुल जाता है जिसे देख-सुन वाचा ही चली जाती है। केवल आँखों का ऐसा सूनापन बड़ा-बड़ा सा फैल आता है कि लोग इतने विशाल नेत्र देख कर भय से चीख उठते हैं क्योंकि कालिन्दी ! तब हम तो कही नहीं होते केवल विशाल दुःख होता है. . .तुम्हें—— नहीं पता, उदयन को छोड़ कर उसकी माँ भी निश्चित हो चली जाएगी। वह एक दूसरे दुःख में पगला उठी है। मैं——उसे समझता हूँ लेकिन . . .

—तो आप उन्हें समझाते क्यों नहीं ?

और इच्छाशंकर ने जिस तरह हँसा उससे कालिन्दी को लगा कि उसने कितनी छोटी बात कही ।

तभी उठात जमुना ने प्रवेश के लिए क्षमा माँगते हुए सूचना दी कि हुजूर को घर जल्द बुलाया गया है । आदमी नीचे खड़ा है । इच्छाशंकर ने बड़ी पारदर्शी दृष्टि से जमुना को देखा ।

—तुम खबर छुपा क्यों रही हो ?

और जमुना आँचल में मुँह छुपा अपना रोना छुपाने के लिए दूसरे कमरे में चली गयी ।

—पहचान लो कालिन्दी ! यह सहानुभूति है, जो रो देती है । दुःख मुझे है कि हथौड़ों की चोटों पर भी टूटने के बजाय चोट और आवाज दोनों ही लौटा रहा हूँ ।

—क्या बात है ?

—यह सरलता है, जिसे तब तक नहीं समझ में आता जब तक कि आँख फाड़ कर दिखा न दिया जाए कि क्या अपशकुन घटा है ।

—क्या ? . . . क्या ?

—हाँऽऽ. . .अच्छा अब चलता हूँ ।

जिस शांत भाव से पत्नी की मृत्यु की बात जानकर भी वह लौट रहे थे उससे कालिन्दी को डर ही लगा कि इस मनुष्य की सरलता, सिधाई, सहनशीलता क्या चट्टान की है ? वह उसी तरह फटी आँखों से अदेखते पड़ी रही । केवल उसके अवचेतन में यही दुहरा रहा था कि तीसरी पत्नी के बाद ?

और परिवार की यह गाथा, बा की असमर्थता, पिता की विवशता तब कितनी कुछ मुझ तक अभिव्यक्त हुई थी नहीं कह सकता लेकिन आज जब वर्षों का अन्तराल इतना विराट है कि कोई भी सेतु नहीं बन पाता है तब केवल स्मृतियों में यहाँ-वहाँ दंशित करते हुए वह विगत मुझ में वर्तमान बना हुआ है।

कहते हैं जीवन, यज्ञ है । जिसमें होम होना ही पड़ता है । होम होकर ही हम दिव्य या देवता हो जाते हैं । स्वाहा होना ही देवत्व है । तभी तो इस स्वाहा के बाद दिव्यता प्राप्त देवताओं की छाया नहीं होती । इतने बड़े स्वाहा के बाद कैसी विडम्बना है कि उसमें छाया तक विनष्ट हो जाती है केवल देवत्व शेष रहता है । चाहे इस अर्थ में या साधारण अर्थ में, पिता की कोई छाया न परिवार पर ही थी और न अपनी सन्तानों पर ।

बा ने, पुराणी-वा के कहने से फड़नवीस वाली जायदाद का केवल वही हिस्सा अपने पास रखा जिसमें मैंने होश सम्हाला । शेष कब, किसे और किस रूप में बेचा यह इस श्रुति के लिए बिल्कुल महत्वपूर्ण नही । लेकिन जिस समय मैंने होश सम्हाला देसाई-परिवार अपने पतन-युग में था । बा पुरुषार्थ हार बैठे थे । पिता असंज्ञ हो चुके थे । चाचा, परिवार के लिए छठे-छमासे आने वाले समादृत अभ्यागत थे । बाहर से आयी हुई दोनों चाचियाँ कभी मेरे सामने नहीं आयीं । सब से बड़ी माँ, दीदी की माँ और मेरी माँ किसी अज्ञात पथ से कहीं ऐसी चली गयी थी कि उनके लौटने का प्रश्न ही नहीं था । वृद्ध बा, वृद्धा माँ असम्पृक्त पिता तथा ममतामयी दीदी वाले अनगढ़ पारिवारिक रूप रेखा वाले खँडहर होते हुए देसाई-वंश में मैने जन्म लिया । बा-माँ का वृद्धत्व, पिता का मौन स्वाहात्व एवं दीदी की सहज करुणा--ये तीनों ही मुझे आरंभ से ही प्राप्त हुए और मैंने जीवन आरंभ ही किया उस बुझती हुई बड़े घर की भट्टी पर, जिसमें एक कप पानी को तपाने की शक्ति नहीं शेष रह गयी थी --केवल क्षार, ऐंठे-बुझे कोयलों का ढेर लेकिन अन्तिम श्वास लेती हुई आँच । किसी को सुनकर भट्टी की विशालता पर सन्तोष हो सकता है लेकिन आँच की क्षीणता को भोक्ता ही जानता है ।

वल्लभा मेरे लिए एकान्त-बाँशी है । मैं उसे अपने में मुर्दाघर की इमली के नीचे बैठ, महादेव-घाट के जल में पैर डाल दिन-रात बजाता हूँ : दीदी अब कभी जीजाजी के साथ या अपने समुर के साथ रहने चली जाती हैं ।

हरसिंगार का गाछ ।
कैसा गहरा हरा उसका लता-मण्डप सा बन जाता है । अपने को उसकी पतली-पतली डालियों से आच्छादित कर ढँक लेता हूँ । और वही वल्लभा वाली अपनी एकान्त-बाँशी अपने में बजाने लगता हूँ । जाने कहाँ कोई झील उर्मियों में पुकारने लगती है । धूप कैसी नरम-नरम चाँदी की मलमल सी उसके जल पर हिलने लगती है । अपने चारों ओर झील, चाँदी की मलमल, ढेर सारी ठण्ढी हवा—— और हरसिंगार झरने लगता है । क्यों मुझे लगता है कि जैसे हरसिंगार ही नहीं वल्लभा ही उन सिन्दूरी डंठल वाले श्वेत फूलों में झर रही है ? बड़े ही मौन

भाव से चूते हुए यह झरझराना होता है । क्यों मुझे क्लास में बैठे हुए स्कूल की खिड़की से दिखता आकाश का छोटा सा नीला टुकड़ा आकाश न लग कर वल्लभा लगता है ? क्यों ? क्यों मैं अपने को वल्लभा में विलीन कर लेना चाहता हूँ ? . . . मैं आज समझ पाता हूँ कि क्यों कोई पानी का रेला तुरन्त यात्रा पर हठात दौड़ने लगता है । जबकि वह नहीं जानता कि अभी वह क्षण भर में ही पृथ्वी के द्वारा सोख लिया जाएगा । जबकि वह तो ऐसी ललक से उस दिशा को खोजने निकल पड़ता है जहाँ से वह लाया गया था । लेकिन कब कोई इस तरह अपने मूलस्रोत को लौट सका है ? सबको कोई न कोई पृथ्वी थोड़ी देर यात्रा का खेल खिलाकर अपने में अनुस्यूत लेती है। . . . क्या यही नहीं हुआ ?

जब से गाँव पर से लौटा हूँ मुझे कोई रुचि नहीं रह गयी है । दीदी इस बार बीमार तो नहीं लेकिन थकी मोमबत्ती सी लगीं । मैं इसे मात्र दूरी ही कारण मानूँगा कि दीदी के प्रति जाने कैसी औपचारिकता मेरे मन में आ गयी है । संभवतः दो कारणों से ऐसा हुआ । एक तो दीदी बराबर दूर रही हैं तथा दूसरे वल्लभा का मुझे नैकट्य प्राप्प हुआ । हुआ यह कि दीदी का अभाव तो वल्लभा ने भरा ही साथ ही माँ की कमी की पूर्ति भी उन्होंने की, इसलिए वल्लभा मन के अधिक निकट थीं ।

दीदी अब प्रायः कचहरी वाले गाव-तकियों के सहारे बैठी या लेटी रहती हैं । अब मैं कभी-कभी दीदी का मन बहलाव किया करता हूँ । दीदी को मैंने कभी पहले इस दृष्टि से नहीं देखा था तभी तो उनका मुख, आँखें मेरे लिए स्वीकृति ही अधिक थे ।

——दीदी ! जानती हो गंगा का उद्गम-स्थान कहाँ है ?

वह शैतानी मुसकराहट के साथ बड़ा फैला-फैला देखते हुए कैसे सन्तोष से देखने लगी हैं जैसे निष्कम्प शिखा हों ।

——तब तुम क्या जानती हो ?

——मैं कहाँ कहती हूँ कि कुछ जानती हूँ ।

—गंगोत्री से गंगा निकलती हैं ।
—तुझे कैसे मालूम ?
—किताव में लिखा है ।
—तू कैसे जानता है कि किताव वाले ने सच ही लिखा है ।
मैं दीदी के ज्ञान पर तरस खाता हूँ ।
—क्या कोई किताबें लिखता है ?
—तब क्या होता है ?
—अरे, किताबें तो... वस होती हैं ।
सच बात यह थी कि मैं भी नहीं जानता इस बारे में लेकिन दीदी से सहमत नहीं होना चाहता था ।
—किताबें कैसे होती हैं ?
—तुम तो दीदी ! दिमाग चाट जाती हो ।
मेरी इस बात पर दीदी जोरों पर हँस पड़ीं । मैं भी झेंप गया । लेकिन-कहीं न-कहीं सन्तुष्ट था कि जीवन में पहली बार बड़ों की तरह दीदी की मूर्खतापूर्ण बात पर झल्लाया । दीदी ने मुझे अपने पास बैठाते हुए पूछा,
—उदू !
—क्या ?
—तुझे मेरी याद आती थी ?
—जरूर ।
—कैसे याद करता था ?
—बस । बहुत याद करता था । . . दीदी !
—क्या ?
—तुम्हारे पेट में यह बार-बार फोड़ा क्यों हो जाता है ?
—कैसा फोड़ा ?
—पहली बार हुआ था न ?
—तुझे किसने कहा ?
—बुआजी ने कहा था । क्या नहीं हुआ था ?
—हाँ रे , हुआ था ।
लेकिन दीदी ने जिस तरह हामी भरी थी वह अविश्वसनीय थी ।
—तुम्हें फोड़ा क्यों हो जाता है ?
तभी माँ ने प्रवेशा । आते ही झिड़क दिया,

—कान खाने बैठ गया न उसके ?
—यही मुझसे बातें कर रही हैं नहीं तो मैं तो चित्र दिखा रहा था ।
—शांती ! चल दाई आयी है ।
और मुझे वही पिछले दिन फिर याद आने लगे जब ऐसी ही दाई आती थी । तब भी तो दीदी को फोड़ा हुआ था और फिर जाने क्या हुआ कि दीदी को उज्जैन तक ले जाया गया था ।
—माँ !
—क्या है ?
माँ भण्डारे में से कुछ निकाल रही थीं ।
—यह दाई-वाई को मत आने दिया करो ।
माँ ने साश्चर्य मेरी ओर देखा कि मैं क्या बोल रहा हूँ ।
—पिछली बार भी दीदी को तब अस्पताल जाना पड़ा था ।
—अच्छा अब अपनी सलाह रहने दे । बड़ा पंडित आया है । जमीन में से उगा नही है और बातें बड़ों की सी करने लगा ।

रोज की तरह स्कूल से लौटते हुए वल्लभाकी ओर जा रहा हूँ। अनजाने ही राह चलते दाहिने हाथ की तर्जनी से कोई पहाड़ा या वाक्य लिखने की मेरी गंदी आदत पड़ गयी है। कई बार मैं खुद झल्ला उठता हूँ कि कितनी वार तो लिख चुका हूँ कि 'एक राजा था उसकी चार रानियाँ थीं--' मेरा हाथ दुखने लगता है लेकिन तर्जनी अपना लिखना नही छोड़ती। माँ ने, वल्लभा ने सोते में कई बार मेरा हाथ बाँध दिया है लेकिन नींद में भी लिखना कभी-कभी चाल रहता है।

इस समय तर्जनी से लिखता आ रहा हूँ कि दीदी के पेट में फोड़ा है। दाई को नहीं आना चाहिए। यह लोग सब झूठ बोलते हैं। दरवाजे की आड़ से मैंने माँ और काकीमाँ को बातें करते सुन लिया है कि आठवाँ महिना है। . . . और तर्जनी से आठवाँ महिना है, को जाने कितनी बार लिख चुका हूँ। मन्दिरजी में घुसते ही वाक्य पूरा होने में देर थी इसलिए दरवाजे पर थोड़ा रुक गया वर्ना वाक्य दरवाजे को चौखट से टकरा कर टूट जाता।

वल्लभा के कमरे में इस समय कोई नहीं है। चीजों की उपस्थिति खालीपन

में उभर आती है। ऐसे समय हम चीजों के लिए हो जाते हैं। कब, कहाँ, कौनसी चीज हुआ करती है तथा इस समय वह वहाँ न होकर किस प्रकार, अभाव को उभार रही है। सब बड़ा बोलता सा लगता है। दर्पण में गिरती छत तथा दीवारों की आधी छाया अधिक मोहक लग रही थीं। क्यों ऐसा होता है कि वास्तविकता से अधिक आकर्षक उसकी प्रतिछाया या स्मृति होती है? रोज की भाँति कमरा आज व्यवस्थित नहीं कहा जा सकता था। साड़ी चुन्नट की हुई नहीं टाँगी गयी थी बल्कि उसके रखने में उपेक्षा इतनी स्पष्ट थी कि बलात दृष्टि उस पर जाती थी। बाल झार कर उन्हें अँगुली पर लपेट कर बाहर फेंक दिया जाता रहा है लेकिन वे सिंगारदान के पास बड़े क्षमाभाव से पड़े हुए थे जैसे कमरे में उनका होना उनका अपना दोष हो। दोनों चट्टियों की दूरी इतनी थी कि उन्हें भूल से कोई जोड़ा कह दे तो अलग बात है लेकिन वे वास्तव में इतनी दूर पड़ी थीं कि जैसे एक ही पैर की दोनों हैं और दूसरे पाँव की चट्टियों के अभाव में खण्डिता हों।

—तुम आ गये ?

वल्लभा ने दरवाजे को पूरी तरह छेंकते हुए कहा।

—हाँ।

—कब आये ?

वल्लभा मुझे अपरिचिता लग रही थीं। एक ऐसा तनाव, दूरी मुख और आचार से व्यक्त हो रहे थे कि मुझे पहचानना पड़ रहा था।

—दीदी कैसी हैं ?

—आठवाँ महीना है।

वल्लभा चौंकीं। मुझे चौंकने का कारण नहीं समझ में आया।

—तुम चौंकी क्यों ?

—तुम्हें कैसे मालूम ?

—क्या ?

—कि आठवाँ महीना है ?

—लेकिन आठवाँ महीना क्या होता है ?

—बच्चों को इन फिजूल की बातों में नहीं पड़ना चाहिए। तुम रुको, मैं नाश्ता लाती हूँ।

—नहीं, मुझे बताओ कि यह आठवाँ महीना क्या होता है ?

—कह दिया न कि बच्चों के जानने लायक यह बात नहीं है।

---तभी माँ और काकी माँ छुपकर बातें करती हैं ?
---अच्छे लड़के कभी छुप कर दूसरों की बातें नहीं सुनते:
---मैंने छुप कर नहीं सुना । वे ही छुपकर बतिया रही थीं ।
---तो फिर तुम्हें नहीं सुनना चाहिए था ?
---क्यों ?
---क्योंकि बुरी बात है ।
---जब बुरी बात है तो फिर दीदी ने क्यों की ?
---तुम तो हर बात में बहस करने लगते हो ।
---मुझे सब मालूम हो गया है ।
---क्या ?
---दीदी के बच्चा होने वाला है ।
---किसने कहा ?
---गम्पू ने ।
---तुम उस बदमाश का साथ नही छोड़ोगे ? झूठ है यह ।
---तो फिर तुम सच बात बताओ ।
---देखो उदू ! मेरी तबीयत ठीक नही है, परेशान न करो ।
---क्या हुआ तुम्हारी तबीयत को ?
---बस, खराब है ।
---तो क्या तुम्हारे भी आठवाँ महीना है ?
---उदू ?

और वल्लभा ने जिस तरह चीखते हुए कहा मैं घबरा उठा । वह हठात ऐसे ही थरथरा उठीं जैसे मौन तारों को---बलात कोई झनझना दे । एक चीख उठती है और फिर वह चीख तैर जाती है । चीख के बाद वल्लभा ने अपनी दोनों आँखें कस कर मूँद लीं और मुट्ठियाँ कस कर ओठों पर ऐसे चिपका लीं जैसे ढेर सा रोना अपने भीतर ठेल रही हों । मैं विवश हूँ । कुछ समझ नहीं पा रहा हूँ कि मैंने क्या गलत कह दिया है । संभवतः आठवाँ महीना वाली बात जरूर ही कुछ अशुभ है जो न तो दीदी और न वल्लभा किसी के भी सन्दर्भ में शुभ नही है । ---दीदी पिछली बार भी तो ऐसे ही पेट फूल आने पर अस्पताल ले जायी गयी थीं । तो आठवाँ महीना और पेट फूलने दोनों में कोई सम्बन्ध है ? जरूर है । और वल्लभा अवश्य ही इसलिए नाराज हुई हैं कि उनका तो पेट फूला नही है तब भला आठवाँ महीना कैसे हो सकता है ? और इसी झूठ पर उन्हें कितना क्रोध, रोष हो आया है ।

बिस्तरे पर टूटी पड़ी वल्लभा से मैं यह कहना चाहता हूँ कि तुम्हारा पेट नहीं फूला है इसलिए आठवाँ महीना तुम्हारा कैसे हो सकता है ?

—माँ !

वल्लभा ने तकिये में अपना सिर छुपा रखा था। वह अबोली ही रहीं।

—मैंने झूठ कहा माँ ! . . .मुझे क्षमा कर दो।

वल्लभा ने उसी तरह तकिये में मुँह भर रखा था। बोली,

—तू आज ऐसे ही चला जा उदू ! मेरा मन ठीक नहीं है।

—मैं नहीं जाऊँगा। मुझे भूख लगी है।

—तो नीचे जाकर माँग ला।

मैं समझ गया कि वल्लभा इस बीच स्वस्थ होना चाहती हैं।

मैं मौन हो कर नाश्ता करता रहा और वह सलाइयों से स्वेटर बिनती रहीं। मुझमें अनेक प्रश्न, बातें भरी थीं लेकिन वल्लभा मौन धूप बनी पलँग की रेलिंग से टिकी व्यस्त थीं।

—एक बात पूछूं ?

—नहीं। नाश्ता कर लिया हो तो या तो चुपचाप बैठो या घर जाना हो तो चले जाओ।

मुझे अपने पर क्रोध आया। क्यों मैंने ऐसी बात कह दी जिससे यह इतनी नाराज हो गयीं। लेकिन कौन सी इतनी बुरी बात कह दी ?

—मुझे मालूम होना चाहिए कि तुम्हारा पेट नहीं फूला है इसलिए तुम्हें आठवाँ महीना कैसे हो सकता है ? लेकिन . . .

वल्लभा ने मेरी बात जैसे सुनी ही नहीं। मुझे अवमानना लगती है लेकिन कुछ नहीं कर सकता हूँ। कमरे में फिर मौन विस्तृत हो फैल जाता है।

—तुम मुझे क्षमा नहीं करोगी ?

—कर दिया लेकिन और कोई बकवास नहीं करोगे।

—जरूर यह कोई बुरी बात है जिसके बारे में माँ, काकीमाँ छुप कर बातें करती हैं, तुम नाराज होती हो।

—तुम क्या जानना चाहते हो ?

बिनते हुए वल्लभा अदेखे ढंग से जिस तरह मुझ से पूछ रही हैं उससे मुझे साहस

नहीं होता। मैं केवल उन्हें देखता रहता हूँ जब कि वह सलाइयाँ चलाने में बड़ी हुई हैं।

—बोलो, क्या जानना चाहते हो ?

—यही कि आठवाँ महीना क्या होता है ?

—वही जो तुम्हारे गम्पू ने बताया है।

—लेकिन आठवें महीने का बच्चे से क्या सम्बन्ध है ?

—बच्चा जिस दिन पेट में आता है उस दिन से गिना जाता है।

—बच्चा पेट में कैसे आता है ?

—भगवान भेजता है।

—तुम्हारे पेट में कब भगवान भेजेगा ?

—मुझे भगवान नहीं भेजेगा।

—क्यों ?

—क्योंकि विधवा को भगवान बच्चा नहीं देता।

—विधवा को क्यों नहीं भेजता ?

—तुम तो हर बात में टाँग अड़ाते हो।

—लेकिन क्यों ? तुम फिर कुछ छुपा रही हो।

—हाँ, छुपा रही हूँ।

—क्या छुपा रही हो ?

—विधवा के पति नहीं होता और बिना पति के बच्चा नहीं होता। कितनी बार जानना चाहते हो ?

वल्लमा ने इतने झल्ला कर कहा तथा उठ गयी कि मैं अवाक हो आया। मुझे लगा कि बात फिर छुपा ली गयी है।

—तुम्हारे पति क्यों नहीं हैं ?

—वह मर गये।

—पति क्या होता है ?

—तुम्हारा सिर।

—नहीं, मुझे बताओ, क्या होता है ?

—उदू ! देख भाई, तेरे मारे तो सिर-दर्द और भी बढ़ जाता है। मैंने कह दिया न कि मेरे बच्चा नहीं होगा। मैं विधवा हूँ।—बस ??

—बच्चा कैसे होता है ?

—बस अब, बहुत हुआ।

—नहीं, बताना पड़ेगा, बच्चा कैसे होता है ?

—ऐसे होता है।

और वल्लमा ने जोरों से एक तमाचा जड़ दिया । मैं अभी समझूँ कि तमाचा पड़ा है और वह मार मेरे स्नायुओं से होती हुई मुझे इस सीमा तक पहुँचाए कि मैं या तो रो पड़ूँ या आँखें छलछला आय कि वल्लमा की आँखें छलछला आयीं। चाँटा मार कर मैं अवाक दूसरी तरह हुआ और वह अवाक नहीं तो विमूढ़ अवश्य हुई। वह ठिठक गयीं। दृष्टि बँध गयी। और आँखें छलछलाना शुरू हुई। उसके बाद तो वह ऐसी हुमस कर मुझे अपने अंक में भरने के लिए हुमसीं कि मुझे तब दर्द, चोट, उपेक्षा, भर्त्सना, अवमानना जाने किन-किन बातों के कारण रोना फूट आया।

अपने सीने से सटाये वह बुदबुदाती जा रही हैं,

—तू क्यों मेरी परीक्षा लेता है उदू ! . . . मेरे हाथ कट जाएँ . . . मैंने अपने बेटे को मारा . . . ठाकुरजी महाराज ! तुम मेरी सारी विवशताएँ समझते हो . . . भगवान ! उठा लो मुझे . . . अब और पाप नहीं हो पाता . . . क्या इसीलिए . . . क्या इसीलिए . . . यह पिता हैं ? . . . ठाकुरजी !

मैं कुछ भी नहीं समझ पाता हूँ। उनके हुमसते वक्षस्थल में एक डरी हुई गौरैया की भाँति चिपटा ठिठका हूँ।

—यह क्या बोल रही हो माँ !

—कुछ नहीं उदू ! तू भी एक दिन मुझसे घृणा करेगा . . . पाप का घड़ा एक न एक दिन जरूर फूटेगा . . . उदू ! . . . उदू !

—क्या ?

—तू भी मुझसे घृणा करेगा न ?

—क्यों ?

—मैं पापिनी हूँ उदू ! कलंकिनी।

—तुम ??

—उदू ! . . . उदू रे . . . . मैं तेरी माँ हूँ न ?

—हाँ।

—तू मत घृणा करना। कहने देना दुनिया को जो चाहे कहे।

—तुम क्या कह रही हो ?

—मैं एक दिन चली जाऊँगी ?

—कहाँ जाओगी ? क्यों ?

—वहाँ उदू ! . . . वहाँ, जहाँ यह नारी देह उतार कर फेंक दूँ . . . . मुझे नहीं चाहिए . . . .नहीं चाहिए, कुछ भी नहीं चाहिए ।

और वह ऐसी फफक-फफक कर रोने लगीं कि मैं उनका मुँह अँजुरी में लेकर स्वयं रोने लगा हूँ ।

—क्या बात है ? मुझे नही कहोगी ?

—किसी बेटे को माँ ने अपना पाप कहा है उदू ! जो मैं ही कह पाऊँगी ?

—पाप क्या ?

और इस बार वल्लभा ने जल भरी आँखों से ऐसा सम्मोहक देखा कि जैसे पानी की चिलमन के पीछे से धूप झाँक रही हो, खिलखिलाती ।

—उदू !

—हाँ ।

—तेरी माँ कलंकिनी नहीं है, वल्लभा जो भी हो । अच्छा अब जा ।

—नहीं मैं . . .

—नहीं उदू ! अब तुझे जाना ही होगा । . . . अब . . . कोई सम्बन्ध नहीं . . . कोई मोह नहीं . . . .

—क्या ?

—मैं कहती हूँ जा तू उदू ! —जा ऽऽ !!

और 'जा ऽऽ' पर ऐसे डर कर मैं उठा कि वल्लभ जैसे बड़ा भारी पटाखा हो, जो सहसा फट पड़ा हो ।

मैं आसन्न हूँ ।

मेरी आँखें पत्थर की हो गयी हैं। हवा जैसे मर कर मौन हो गयी है । दो चट्टानों में मैं दब गया हूँ । यह मैं क्या सुन रहा हूँ ? क्या देख रहा हूँ ? क्या यह सच है ? लेकिन इसका झूठ क्या होता है यह क्या मुझे पता है ? एक बिजली की छुरी से पूरा बादल चींथ दिया गया है और बादल फट कर टपक रहा है ।

दीदी को घर पर ही छोड़कर माँ, बा तथा पिताजी घर से चले थे । मधुसूदन जलघड़िया कैसी फटी-फटी, लटकी-लटकी आँखों के साथ भयातुर सा आया था। मैं दीदी के पास बैठा हुआ पाठ याद कर रहा था । बा भीतर सन्ध्या कर रहे थे। पिताजी कचहरी जाने की तैयारी कर रहे थे। माँ राँधना समाप्त कर ढाँका-ढूँकी कर रही थीं। दीदी के सिरहाने पथ्य का कटोरा अपने रीतेपन तथा जूठेपन में उदास पड़ा था कि तभी जलघड़िया आया था। बा से उसने जाने क्या-क्या बातें कहीं और फिर तो बा, माँ, पिताजी और वह जलघड़िया खुसपुस बतियाने में लगे रहे। बा ने अपनी पूजा समेटी। माँ ने अबूट्या बदला और पिताजी ने अपने टोपी पर ब्रश करना शुरू किया। माँ जिस ढंग से तथा रुँधे कण्ठ से दीदी

से बातें कर रही थीं वह नितान्त अप्रत्याशित एव असामान्य था ।
--शांती !
--क्या माँ !
और माँ ने अपने आँसू रोकते हुए फिर कहा,
--बेटा ! वो, वो,....
--क्या बात है माँ ?
--कुछ नहीं रे, वो ... वो वल्लभा ...
--हाँ, बुआ ...
--हाँ तबियत खराब हो गयी है, बुलाया है ... हम अभी आते हैं ।
और मैं भयातुर हो गया था। मुझे लगा कि जरूर कुछ बात है । लेकिन क्या बात है ? क्या बात हो सकती है ? कल वह कुछ कह रही थीं ... लेकिन क्या ... ??
--माँ ! मैं भी चलूँगा ।
--तू कहाँ चलेगा रे ! स्कूल नही जाना क्या ?
दीदी ने इस पर झल्ला कर कहा,
--इसे तो आधी रोटी पर दाल झेलना ऐसा आता है कि, बस । चल, कही नहीं जाना ।

जलघड़िया पहले ही जा चुका था । देहरी पर धूप आ चुकी थी । यह धूप जब देहरी लाँघ कर भीतर कचहरी में आ जाती है तब स्कूल जाने का समय होता है। बा की जूतियाँ , पिता का छाता तथा माँ के सूने उदास नंगे पैर जब उस धूप को कुचल कर बाहर निकले, वे नहीं समझ पाये कि उन्होंने मुझे कुचला ।
--क्या बात है दीदी ?
--कौन सी बात ?
--बुआ को क्या हुआ ?
--अब मुझे क्या मालूम ?
और दीदी करवट लेकर मुँह फेर लेट गयीं । मैं बड़ी देर तक अपना पाठ जोर-

जोर से याद करता रहा लेकिन कल वाली वल्लभा उस पृष्ठ पर, पृष्ठ की प्रत्येक पंक्ति पर उभर उठतीं। दीदी इस बीच झपक गयी थीं। मैं धीमे उठा और टोह लेने के ख्याल से अपनी जगह पर खड़े होकर देखने लगा कि क्या दीदी सो रही हैं ? वह सच ही झपक गयी थीं। मैं गुद्दीदार चलकर चबूतरे पर आया। धूप सेरी में खूब चटख फैली थी। यहाँ से वहाँ तक सेरी सुनसान थी। बा, माँ और पिताजी अब तक जरूर ही मन्दिरजी पहुँच गये होंगे और . . . और अपनी धोती घुटनों तक उठा मैं ऐसे दौड़ा जैसे दीदी पीछा कर रही हों। मैं नहीं जानता कि कब यति महाराज का पीपल आया। कब नाला और तारघर के खंभे से निकलने वाली आवाज कैसे अनसुनी रहे गयी। हाँ जब इमली वाली घाटी आयी तब एक जड़ से टकराया और अँगूठे में बड़ी जोर की ठोकर से लगा कि आधी दूर मैं एक ही साँस में आया था। अस्पताल की गिट्टियाँ नंगे पैरों में चुभीं जरूर लेकिन मैं बराबर वाकनीस की हवेली के हमेशा बंद रहने वाले बड़े से लकड़ी के दरवाजों को ही देखता दौड़ता रहा जिनके दोनों तरफ जाने कब के रंगीन गणपति फीके पड़ गये थे। हवेली के मोड़ से तो दयाशंकरजी वाला शिवाला और मंदिरजी का पीपल साफ दिखते हैं। . . . लेकिन उस मोड़ पर ही लोगों की खासी भीड़ थी। लोग आ-जा रहे थे।

—राम, राम ! कैसा कलजुग आ गया भगवान !

—तुम जानो सालिगरामजी ! पाप का घड़ा फूट के ही रहे है।

—ये आज मंदिर के सामने भीड़ कैसी है सेठ साहब ?

—कौन गणपतराव जी ? . . . अरे भैया क्या बताएँ !

—मैंने सुना . . . .

—ठीक ही सुना आपने भैया !

—लेकिन यह मुखिया जी को क्या सूझी मंजीलाल ?

—तीन महीने का था, तीन महीने का।

—किसका था वह पेट ?

—अरे मंदिरजी के ठौड़-मठरी, मालपुए, अन्नकूट का माल खा-खा कर बदमाशी नहीं सूझेगी तो क्या भक्ति सूझेगी ?

—कौन वकील साहब हैं ? जमनालाल जी ?

—हाँ सेठ साहब।

—कह लो भैया ! इन मुखियाजी ने वैष्णवों की नाक ही कटवा दी।

—अरे इनका क्या बिगड़ा, मरने वाली अपनी जान से गयी।

और मेरे सीने पर पत्थर हिल रहे थे। लोग, लोग, बातें, बातें . . . कौन मर गयी ? . . . मुखियाजी ने नाक कैसे कटवा दी ? . . . तीन महीने . . . क्या ? . . . आठ महीने . . . तो तीन महीने के बाद ही तो आठ महीने . . . लेकिन किसके तीन महीने ? दरवाजे पर पुलिस खड़ी थी। रोक दिया। मंदिर के दरवाजे से लोग झुककर, उझक कर, तिरछे होकर, लम्बे होकर झाँक रहे थे। तभी जलघड़िया दिखा।

—अरे उदू ! वहाँ क्यों खड़ा है ? जमादार साब इसे आ जाने दीजिए।

पहले तो जमादार झिझका लेकिन लड़का समझ झँझरियों का आधा पल्लेवाला दरवाजा खोल दिया और मैं भीतर था।

—क्या बात हुई जलघड़िया जी ?

—तुम्हें नहीं मालूम ?

और मैं, ईधन के अभाव में बुझते हुए अंगारे की तरह मौन देखते हुए उस अप्रत्याशित को जानने को तत्पर था जिसे लोग जान चुके थे।

—तुम्हारी बुआ . . .

—बुआ को क्या हुआ ?

—वह . . . वह मर गयीं।

और जैसे किसी ने आँखों में तेज प्रकाश इतना सारा तथा इतनी देर तक डाल दिया हो कि वे फटी की फटी अंधी हो गयी हों। मुझे लगा जैसे मैं अपने पैरों के रास्ते पानी की भाँति नितर रहा हूँ और अभी थोड़ी ही देर में अपने पैरों के पास ढेर सा नितरा हुआ हूँगा।

तभी माँ हड़बड़ाहट में भीतर से आती दीखी। मुझे देख वह चिल्ला ही पड़ती यदि दूसरी कोई जगह होती या मौका होता।

—तू यहाँ क्या करने आया रे ?

मेरे पैर, संज्ञा, इन्द्रियाँ, चेतना न तो कुछ देख रही थीं, न सुन रही थी।

—जा, घर जा।

—नहीं, मैं बुआ को देखूँगा।

—कहाँ है अब वह ?

—ऊपर हैं।

माँ ने मेरे संकल्प में पत्थर की सी गुम्फनता एवं कसावट देखी तो उन्होंने बहस बेकार समझी।

ऊपर जीने तक पुलिस के आदमी तैनात थे। वातावरण में एक दबाव था तथा ऐसा आतंक जो गला घोट देता है। वल्लभा के कमरे के सामने दो पुलिस के सिपाही खड़े थे। भीतर गिनती के ही लोग जाने दिये जा रहे थे। माँ को भीतर जाने देते हुए एक सिपाही बोला,

—माँ जी ! बच्चे को भीतर न ले जाइए।

तभी भीतर से एक सब-इंसपेक्टर, मुखियाजी, बा, पिताजी, नन्दन के पिता, गम्पू के पिता आदि लोग निकले। सब-इन्सपेक्टर ने सिपाही को हुक्म दिया,

—भीतर इन माँजी और दो एक महिलाओं के किसी को भीतर न जाने दिया जाए।...तो देसाई साहब ! पंचनामा हो गया। लाश जलायी जा सकती है।

लाश ? सिपाही और दरवाजे की चौखट के बीच धरती पर वल्लभा अलवान में लिपटी लेटी हुई थीं। मुँह स्पष्ट नहीं दिख रहा था लेकिन खिंच आया था। मैं शायद और भी कुछ देखता कि रमण-दादा से पिता ने कुछ कहा और उन्होंने मेरे हाथ को झटका देते हुए कहा,

—यहाँ क्या खेल है ? चल, घर चल।

मैं जानता हूँ मैंने रमण-दादा की कोई बात नही सुनी लेकिन वह मुझे जिस तरह घसीट कर ले जाना चाहते थे वह अपमानजनक था। मैंने उनसे अपने को छुड़ाना चाहा लेकिन उनके हाथों की पकड़ और भी लोहे की हो गयी। मैं अपने को छुड़ाने के प्रयास में उन्हें काट सकता था और जैसे ही मैंने उनकी कलाई में दाँत गड़ाये, वह दर्द से कराह उठे और बदले में उनका एक जोर का तमाचा मुझे वापस अपनी देह में, चेतना में, संज्ञा में ले आया और...और मैं जोर से रो पड़ा।

कोई भी बात या घटना सहसा होने पर हमें विमूढ़ कर जाती है। जो घटना जितनी बड़ी होती है हम उतने ही दीर्घ काल तक के लिए चकित हुए रहते हैं। ऐसे विमूढ़ या चकित होने में अवचेतन का बड़ा हाथ होता है। हम चाहे न जानें कि कितनी बड़ी बात घट गयी है लेकिन हमारा अवचेतन उस गंभीरता को अनुभव कर ले जाता है जबकि चेतन स्तर पर हम अस्पष्ट ही रहते हैं। उस दिन वल्लभा की अलवान लिपटी वह देह तथा ठिठुरा, लकड़ी का निर्भावी मुख मेरे अन्दर ही अन्दर ठक-ठक करता रहा। वह दृश्य सारे अनुभवों, बोधों से परे था। वह क्या था इसे ठीक से समझ सकने की न मेरी आयु थी और न अनुभव ही।

मैं जिधर करवट लेता हूँ जाने क्यों अलवान में लिपटी वह देह, लकड़ी का ठिठुरा निर्भावी मुख फिर सामने आकर बिछ जाता है। और दूर किसी अँधेरे में से एक अस्पष्ट स्वर चीखता है,

--कोई संबंध नहीं, कोई मोह नहीं अब, जा तू, उदयन ! जाऽऽ !!

और हठात कहीं कोई चीख पड़ता है। हल्के रोने से वह अँधेरा ऐसे हो उठता है जैसे शब्द भरा अँधेरा पानी हो।

--गम्पू ! दीदी कहती हैं कि बुआ ने आत्महत्या की । आत्महत्या क्या ?
--तुम्हारी बुआ ने आत्महत्या नहीं की । जानते हो गले में रस्सी डालकर झूल गयीं और मर गयीं ।
--मर गयीं ?
--तो उस दिन तूने वहाँ क्या देखा ? मरी नहीं थीं ?
--वही मरना होता है ?
--हाँ ।
--अलवान ओढ़कर ऊँचा मुँह कर लेट जाना पर मरना हो जाता है ?
--तू गधा है । अरे, उसके पहले गले में रस्सी डालनी पड़ती है और फिर मरना पड़ता है । बस ।
--मरने से क्या होता है ?
--मैं क्या जानूँ ? मैं क्या कभी मरा हूँ जो जानूँ कि मरने से क्या होता है ?
--मैं बताऊँ ?
--तू जानता है ?
--मरने मे पुलिस आती है ।

--दीदी ! तुम बताओ मरने से क्या होता है ?
--उदू ! देख भैया, बुआ के बारे में ज्यादा न सोचा कर ।
--क्यों नही सोचूँ ? काकीमाँ बुआ के बारे में बहुत खराब-खराब बातें कहती हैं।
--मैं जानती हूँ, लेकिन बुआ ऐसी नहीं थीं ।
--बुआ ने भी मरने से एक दिन पहले यही कहा था ।
--क्या कहा था ? क्या तुझसे कुछ कहा था ? तो फिर पहले क्यों नही बताया रे ?
--मैं ठीक से नहीं जानता दीदी ! पर वह कह रही थी कि उदू ! दुनिया मुझे कलंकिनी समझे पर तू मत समझना ।
--और क्या कह रही थीं ?
--जाने क्या बुदबुदाया था दीदी ! पर वह खूब रोयी थी ।
--क्यों ?
--शायद. . . शायद मुखियाजी का नाम लेकर कुछ कह रही थीं ।
--बड़े मुखियाजी बन रहे थे. . .अच्छा है अब जेल की हवा खाएँ । पापी कही

के। . . .लेकिन उदू ! देख. . .किसी से भी ये बातें मत बताना कि तू कुछ जानता है।

—क्यों ?

—तू बुआ को बहुत प्यार करता है न ?

—हाँ।

—इस तरह की बातें करने से बुआ नाराज हो जाएँगी।

—लेकिन बुआ कहाँ है ?

—ठाकुरजी के यहाँ चली गयीं।

—क्या अब नहीं आएँगी ?

—नहीं।

—वह भी कहीं जाने की बात कह रही थीं।

—तू ने उसी दिन क्यों नहीं बताया ?

—दीदी !

—क्या ?

—क्या मरना, ठाकुरजी के घर पर जाने को कहते हैं ?

—हाँ।

—लेकिन बुआ क्यों मरीं ? वह रो क्यों रही थी ? मुखियाजी वाली क्या बात है दीदी ? मुझे बताओ।

—तू अभी बहुत छोटा है।

—छोटा तो कई दिनों से हूँ और पता नहीं कब तक रहूँ।

—जब तू बड़ा हो जाएगा तब सब जान जाएगा।

—कित्ता बड़ा हो जाऊँगा तब सब जान पाऊँगा ? क्या तुम्हारे बराबर ?

—हाँ।

—तब कौन बताएगा कि बुआ क्यों मरीं ?

—सब अपने आप समझ में आ जाता है उदू ! दिन को बुलाने कोई जाता है ? कैसे वह रोज अतिथि की तरह हमारे आकाश में आ जाता है न ? ठीक ऐसे ही जीवन का अनुभव भी होता जाता है।

—दीदी ! क्या बुआ अब नहीं आएँगी ?

—क्यों ?

—दीदी ! . . . दीदी ! . . . मैं. . .उन्हें 'माँ' कहता था।

और सहसा दीदी के सीने में मुँह डाल फूट पड़ा हूँ।

आधी रात ।

वही मंदी ढिबरी । चारों ओर निश्तब्धता । सब सो रहे है । मेरी नींद को वल्लभा का वही लकड़ी का ठिठुरा निर्जीव मुख ठक-ठक कर रहा है । पिछले कई दिनों से वल्लभा की वह अलवान लिपटी देह जो छत ताकती लेटी हुई थी-- वह जैसे करवट लेती है । मैं चमक उठता हूँ कोई कारण नहीं है इस तरह चमक उठने का । वह वल्लभा ही हैं लेकिन. . . लेकिन उस लड़की के ठिठुरे, निर्जीव मुख ने जैसे लड़की की अपनी पलकें खोलीं और वे आँखें कौड़ियों सी वस जड़ बनी हैं। जैसे उनकी दृष्टि कहीं अलग रख दी गयी है । उनके बालों की जगह रेशे उड़ रहे हैं । . . .क्रमशः वह मुख उठ बैठता है । बिल्कुल कठपुतली की तरह । मैं भयावह हो उठता हूँ । केवल बुदबुदाहट ही फूटती है,

--माँ ! !

और बतखें जैसे मुँह खोलती हैं वैसे ही उस लकड़ी के मुख के ओठ धीरे-धीरे खुलते हैं और ठक-ठक आवाज में शब्द फूटते हैं ।

--उदू ! अब जा तू. . . जाऽऽ न ? . . . मुझे ठीक से मरने भी नहीं देता ।

. . . देह से मुक्ति के लिए तो आत्मा हुई और तू मेरी आत्मा को क्यों नहीं जाने देता ? . . .जा, उदू ! . . .जाऽऽ ! !

और मैं चीख पड़ता हूँ। अभी मेरी चीख पूरी हो रही होती है कि वह कठपुतली की तरह फुर्ती से लेटती हैं, दृष्टि निकाल कर रख देती हैं और फिर लकड़ी की पलकें तेजी से बन्द होती हैं। करवट वापस सीधी कर ली जाती है और. .और वह अलवा न लिपटी देह. .वह मुख. . .वे लकड़ी की पलकें . . . .रुद्रेश्वरी के सामने वाले परली पार की जलती चिता में ठक से जाकर गिर पड़ती है

मैं स्कूल से लौटता हूँ। गम्पू साथ में नही है। मंडी सुनसान पड़ी है। पेड़ के ऊपर कबूतरों वाला मचान खाली पड़ा है। अभी-अभी कबूतरों का एक झुण्ड परों को हौली तालियों की तरह बजाता हुआ उड़ गया है। मुझ में एक अव्यक्त भय कस उठता है। क्यों ? मैं नहीं जानता। ऐसे में पैर जड़ हो जाते हैं। धरती से चिपक जाते हैं जबकि मै भागना चाहता हूँ। उसी कबूतरों वाले मचान से वही अलवान लिपटी देह, लकड़ी का ठिठुरा निर्जीव मुख, लकड़ी की पलकें तथा बत्तखों की सी ठक-ठक करती आवाज सुनायी देती है। मैं फटी आँखों से उधर ही देखने को बाध्य होता हूँ। चारों ओर का सुनसान बड़ा गाढ़ा-गाढ़ा सा वातावरण में जम उठा है। साँझ का प्रकाश असमय ही जैसे किसी ने एक साँस में सोख लिया हो।

मचान पर वही अलवान वाली देह, लकड़ी का ठिठुरा निर्जीव मुख करवट लेता है। लकड़ी की पलकें उधरती हैं—और वे दृष्टि पहनती हैं और एक तीन-माह के एक बच्चे को लकड़ी का एक स्तन थमा कर चबर-चबर दूध पीने की आवाज होती है। . . .और मैं चीख कर संज्ञाशून्य हो रहा होता हूँ कि वे लकड़ी के माता-पुत्र जल्दी-जल्दी अपने को सहेजते हैं। लकड़ी की पलकें खिड़कियों के पल्लों सी जोर से आवाज करती बन्द होती हैं। इस वार दृष्टियाँ निकालना जैसे वे भूल जाती है, करवट सीधी कर ली जाती है और

मचान से उड़कर वह अलवान लिपटी देह रुद्रेश्वरी के सामने वाले परली पार की जलती चिता में ठक से आवाज करती गिर पड़ती है। . . चिता को घेर कर बैठे हुए लोग कैसे निश्चिन्त है ।

काकी माँ किसी से बातें कर रही है ।

—मामी ! तीन महीने का गर्भ था ।

—सुना तो यही है । लेकिन था किसका ?

—अरे, और किसका था ? . . . मुखियाजी का, और किसका ?

—सच्ची ?

—लेकिन कोई कहे था जालिम सिह का था ।

—तो दोनों का होगा ।

—लेकिन सच्ची, बाप होकर. . .

—अरे मैं तो पहले ही जानती थी । उदू के घर वह जब आने-जाने लगी थी तभी मुझे तो उसके लच्छन ठीक नही लगते थे ।

—होगा भई !

—और क्या मामी ! लेकिन वैष्णवो की कैसी नाक कट गयी ।

—सुना मन्दिर में ताला लगने वाला है ।

—वो तो पड़ जाता पर 'इनने' बीच में पड़कर पुलिस को, तहसीलदार को समझाया ।

—लेकिन देखो न : 'सेवा' करने अब कौन जाएगा ?

और मैं दबे पाँव अपने साँस को थूक की जगह घोंटता हुआ अपने घर भाग आता हूँ । माँ खाना बनाने में बझी हुई है । 'कचहरी' में दीदी के पास बा बैठे हुए कुछ बातें कर रहे हैं । मुझे अब अपनी देह के बाहर निकले हुए इन हाथ-पैरों तक से डर लगता है । लगता है मेरे चलने में से भी वैसी ही ठक-ठक की आवाज आ रही है । चारों ओर, किसी भी खाली जगह में वह अलवान लिपटी देह उभर आती है । मैं हर बार उस लड़की के मुख को पहचानना

चाहता हूँ कि वह मुख आकार बन जाता है या फिर अपने को समेट कर रुद्रेश्वरी की तरफ ले जाने की तत्परता में रहता है।

मैं माँ से चिपक कर सोता हूँ।

—क्या बात है उदू !

मैं केवल रो पड़ता हूँ।

—क्या बात है बेटा ?

लेकिन माँ के सीने से भी वही ठक-ठक आवाज, लकड़ी की पलकें, दृष्टि पहनने का भाव, दूध पीते बच्चे की लकड़ी की चवर-चवर सुनायी पड़ती है।

आज वल्लभा की त्रयोदशा है ।

बा और पिताजी को ही धर्मशाला में जाति-भोज देना था । दूर की बुआ के नाते 'दशा' के दिन हमारे परिवार वालों को तथा मुझे केश कटवाने पड़े। हम बच्चों के लिए कैसा ही अवसर हो, वह उत्सव है, खेल है । गोल मुंडेर की धर्मशाला की लम्बी दीवार पर हम सब बच्चे हाथों को सन्तुलन में फैलाये दीवार पर आ-जा रहे हैं । कुछ लड़के धर्मशाला के शिवाले और पीपल के वहाँ खेल रहे हैं । गम्पू और नन्दन पीपल पर चढ़े हुए चिल्ला-चिल्ला कर शोर कर रहे हैं । वातावरण में पक्वान्नों की गंध आ रही है । कुछ छोटे बच्चों ने अभी से रंग-बिरंगे सोले-मुकुटे (रेशमी वस्त्र) पहन लिये हैं और बड़े ही डरे भाव से धर्मशाला की नेवती के नीचे सहमे से हमारी दुस्साहसिकताओं को देख रहे हैं । अभी कोई बच्चा शिवाले के नन्दी की पीठ पर बैठ कर 'घोड़े-घोड़े' कहते हुए एड़ लगा रहा था कि किसी बड़े व्यक्ति ने उसे यह करते हुए देख लिया और चपत जमा दी ।

और एक आवाज आयी,

—चलो रे, पत्रावली लग गयी, सोले पहनो सब।
और बच्चे दीवार पर से, पेड़ पर से कूद-कूद कर भागे।
धर्मशाला में भीतर जो बड़ा चौकोर आँगन है, जिसके चारों ओर छायादार सहन है वहाँ एक बड़ा सा पक्का चबूतरा है जिस पर सारे बड़े लोग पगड़ी-साफे-टोपी पहने बैठे थे। त्रिपुण्ड, वैष्णवी और देवी के तिलकों में सब के मस्तक चमचमा रहे थे। वे लोग भी अब अँगरखे और उपवस्त्र रख कर सोले-मुकुटे पहन रहे थे। कई लोग सहन में राँगोली, पत्रावली आदि रख रहे थे। गीली मिट्टी के लड्डुओं में अगरबत्तियाँ सजाने वाला कितनी तेजी से उन्हें लगा रखा था। औरतें घर से ही सोले-मुकुटे पहने धर्मशाला के सदर-दरवाजे से झुण्डों में आ रही थीं और पानी वालियाँ उनके पैर धुला रही थीं। ताँबे की कोठियों के सामने खासी कीचड़ हो गयी थी। औरतें रंगीन कतार में पीछे के सहन में जाकर आमने-सामने की पंगतों में जगह बनाती बैठ रही थीं। दूसरी तरफ की कोठियों से पुरुषवर्ग पैर धोकर सामने वाली और पार्श्ववाली सहन में बैठ रहा था।
थोड़े बड़े बच्चों को प्रायः परसने का काम करने के लिए उत्साहित किया जाता है और मैं, गम्पू, नन्दन, शेखर आदि परसने वाले डोलचों, डोंगों को लिये हुए पंगतों की तरफ बढ़ते हैं। पहली बार का परसना ही काफी थका देने वाला होता है। हर पत्तल पर पहली बार तो अनिवार्यतः झुक कर दाल, कढ़ी, चावल, पूड़ी, तरकारी, चटनी, पापड़, मिठाइयाँ सभी परसनी होती हैं। मैं औरतों की तरफ जाने में झिझकता हूँ ? क्यों ? नहीं जानता। लेकिन यह बात झूठ है कि नहीं जानता। जानता हूँ, औरतें प्रायः दूर की काकी, मामी, फूफी, होती ही हैं और वे मुझे देखकर या तो हँस देती हैं या कानाफूसी करने लगती हैं।
—देखो न, तीन-तीन शादी की और यही बचा। और सब चल दीं।
—बेचारा !
—अरे उदू ! अपनी मामी को दाल परसे बिना कहाँ जा रहा है।
तभी कोई दूर की तेज भाभी कह उठती हैं,
—देवर जी ! तुम पाँच ब्याह करना समझे, कोई न कोई तो रहेगी ही।
और नथ, बेसर, झूमके, कर्णफूल वाले मुखों की खिल-खिल हँसी। और मैं,
—दाल साब ! कढ़ी महाराज !
—पूड़ी !! गरम पूड़ी !!
कहते हुए कमर में अनवरत झुकान का दर्द-बोझ उठाये रुआँसा-रुआँसा सा हो जाता हूँ। किसी की ओर देख नहीं पाता। देखा नहीं कि एक मोतियों भरा मुख,

बड़े पंचम स्वर वाली आँखों के साथ ऐसा पारदर्शी देखने लगता है कि मैं आद्यन्त नग्न लगता हूँ। जाने कितनी बार कामना की कि ऐसे ही कभी वल्लभा यहाँ बैठे और इधर परसने आते समय कैसा-कैसा सा लगे न, कि देखो सूनी माँग सही पर कैसी सुन्दर है मेरी माँ !! किसी के गाल में है ऐसा तिल ? किसी की दूध के झरने जैसी है हँसी ? होती तो क्या मैंने उसे 'माँ' नहीं पुकारा होता ? लेकिन पहली बार के परोसने में चाहे औरतों के उधर जाने से बच गया हूँ पर कितनी देर बच सकता था ? अभी मैं दाल का डोंगा लेकर मुश्किल से रसोई के बाहर आया ही हूँ कि मुझे औरतों की तरफ जाने का आदेश मिलता है। तभी नन्दन के पिता कह उठते हैं।

—अरे इन लड़कों को दाल-शाक मत ले जाने दिया करो। गरम-गरम दाल-शाक से खुद भी जलेंगे और खाने वाले को भी..

और मैं लड्डू लेकर औरतों की तरफ जाऊँ—आदेश का पालन करने जा रहा हूँ। बच्चों ने जगह-जगह पानी गिरा कर राँगोली खराब कर दी है। परसने वालों की आवाजें तथा तेज चलने की आवाज आ रही थी। औरतें अपने बाँयें घुटनों के नीचे जल की कलशी दबाये नीचा सिर किये सौम्य भाव से खा रही थीं।

—लड्डू साब ! लड्डू महाराज !

और बिना किसी ओर देखे-सुने तेजी से बढ़ता जा रहा हूँ।

—क्यों उदू ! ऐसे परसा जाता है ?

और मैं जाने कहाँ था लेकिन इस रोकने ने मुझे वापस इस धर्मशाला में, औरतों की पंगत में, परोसने वाले के रूप में ला खड़ा किया। मैं डर रहा था कि यह दूर की फूफी वैसी ही बात न करें जैसे कि अभी-अभी सुन कर आ रहा हूँ कि देसाई-परिवार यह मृत्युभोज इसलिए दे रहा है कि वल्लभा इनकी निकट की थी। वह विधवा वल्लभा जो...तीन महिने का गर्भ..वह भी अपने ही पिता का... राम-राम !!

और...और मैं देखता ही रह जाता हूँ। इस फूफी ने जो सोला पहन रखा है उसका रंग ठीक वही बादामी है जो वल्लभा की देह पर की आलवान का था।...और..और वही बादामी रंग की अलवान में लिपटी लेटी देह, लकड़ी का ठिठुरता निर्जीव मुख करवट लेता है। वैसे ही लकड़ी की पलकें उघड़ती हैं, दृष्टि पहनते हैं और एक बच्चे के दूध पीने की चबर-चबर आवाज ठक-ठक करती आने लगती है...और..और मैं संज्ञा शून्य हो गिर रहा होता हूँ। बच्चा दूध पीना बन्द कर देता है। पलकें इस बार भी दृष्टियाँ निकालना भूल

जाती हैं और पल्लों सी आवाज करती हुई ठक से बन्द हो जाती हैं और करवट सीधी होती है...कि मेरे हाथ से लड्डू का डोंगा झन्न से आवाज करते हुए गिर पड़ता है । औरतें चीख पड़ती हैं ।...वह बादामी अलवान भाग कर रुद्रेश्वरी के सामने वाले परली पार की चिता में घुस जाती है... और चारों ओर आग, आग धू-धू जलने लगती है ।

कुहराम मच जाता है ।

मैं बीमार हूँ।

रह-रह कर दिवास्वप्न आता है। धर्मशाला में पंगत पड़ी हुई है। 'ऊँ नमः पार्वती पते हर-हर महादेव' होता है... रंग, गंध, लोग, आवाजें अगरबत्तियों के जलते झुण्ड में नाच-नाच उठती हैं।... पंगत उठने वाली है। श्लोक बोले जा रहे हैं। गान हो रहा है। वेद-पाठ हो रहा है। स्तोत्र की ध्वनी गूँज रही है। मझ से भी बोलने के लिए कहा जा रहा है... मैं अनिश्चित स्थिति में हूँ। स्वर फूटता है,

—ऊँ स्वति न इन्द्रो वृद्धश्रवा हाः

स्वस्ति न पूषा विश्वदेवा :

.....

.....

एक बार। अनेक बार। एक अवसर पर। अनेक अवसर पर। श्लोक, मंत्र, स्तोत्र, गायत्री, अनुष्टुप... स्वर... स्वर। पाठ-पद्धति का शिक्षण... घर पर... श्रावणी में... मंदिर जी में कीर्तन... वल्लभा!!

अतीत बनने में देर नहीं लगती। जब तक वर्तमान है तभी तक लगता है कि

अतीत होना बड़ी बात है। पर एक बार अतीत होना शुरू हुआ नहीं कि देखते-देखते इतनी दूर सब हो जाता है कि जैसे वह कभी था ही नहीं। वह तो अतीत ही था। वल्लभा भी अतीत हो गयी थीं।

लेकिन अतीत में एक ऐसा सन्ध्या-सौन्दर्य होता है कि जो हमें डाकता है। उसकी यह डाक इतनी मनमोहनी होती है कि वह जितनी ही क्षीणतर होती है या होती जाती है हमारी उत्कण्ठा, लालसा भी तदनुरूप तीव्र होती जाती है।

—तू यह पागलपन नहीं छोड़ेगा रे ?

—कौन सा माँ ?

—यही वल्लभा वाला ?

—मैंने क्या किया ?

—नींद में यह सब क्या बड़बड़ाता रहता है?..."माँ!!—माँ!! तुम न जाओ... मैं नहीं जाने दूँगा।"

मैं फीका सा हँस देता हूँ। जानता हूँ कि माँ को परेशानी हैं इन दिनों। बेचारी दीदी के लिए प्रसूतीगृह तक दौड़ना पड़ता है। दीदी का बच्चा मरा हुआ था। किसी तरह दीदी बच गयीं।... क्या होता है बच्चे होना?... तीसरा महीना... आठवाँ महीना... दोनों में कुछ सम्बन्ध है?... तो क्या वल्लभा को भी बच्चा होने वाला था ? तब भला क्यों वह मर गयीं ?

उदास तीसरा प्रहर है।

माँ, प्रसूतिगृह गयी हुई हैं। रमण-दादा वाली भाभी दोपहर में देख-रेख करने के लिए रहती हैं। चारों ओर चीजें फैलाकर मैं बैठा हुआ हूँ। तकिये के सहारे बड़े से कमरे में बैठकर अपने को नितान्त एकाकी अनुभव करना अजीब है न ? दूर-दूर तक का सब खुल आता है।

वल्लभा !!

एक नाम, एक स्वर, एक तान की भाँति खिंच उठती हैं। एक अव्यक्त रीतापन बल्कि कहना चाहिए कि चारों ओर की धरती ने विद्रोह कर आपको द्वीपवत

एकाकी कर दिया हो। दीदी, माँ और वल्लभा ऐसी निस्तब्धता में कहीं नहीं होते। वल्लभा ने जिस रीतेपन को भरा वह भी अव्यक्त था। जाने पर, क्या बीत गया है इसे मैं नहीं समझ पा रहा हूँ, केवल यही लगता है कि अंकुर को झुका कर कहा जा रहा है कि धरती में वापस लौट जाओ। यदि अंकुरित या पुष्पित ही होना है तो उसी अँधेरे में जहाँ कि जड़ें हैं। वल्लभा को जब मैं सोचता हूँ, बल्कि बराबर ही सोच रहा हूँ, लेकिन कुछ नहीं सोच पाता हूँ। कुछ टूटे-फूटे घाट, खाली सी रेतीली नदी और विमन चला गया हुआ लंबा सा एक आकाश, प्रशस्त। बस, यही लगता है कि इन्हें जोड़ दूँ तो वह वल्लभा होगी और आज जबकि जोड़ पा रहा हूँ तो विभिन्न संज्ञाओं ने ये इतने विविध स्वरूप ग्रहण कर लिये हैं कि वल्लभा नहीं है पर उनका वल्लभा-भाव ही है।

खिड़की आती है सामने। चाँदनी और कुहरा झलकता होता है। जिसमें सलाखें खिंची पड़ी हैं। मैं हूँ और वल्लभा हैं। और उन्हें कहने के लिए जैसे ही हाथ उठाता हूँ कि कैसे विवश से हाथ झटका खाकर अपने ही ओढ़ने पर टूट पड़ते हैं। . . .क्या मर कर फिर नहीं रहना होता है ? लेकिन कोई क्यों मरता है ? क्या मरना जरूरी होता है ? . . . क्या अब फिर कभी वल्लभा नहीं होंगी ? क्या . . . क्या मैं उसी गाँव वाले नदी तट पर जाऊँ तो क्या वल्लभा वैसे ही मेरे साथ नदी नही नहा सकेंगी ? लेकिन क्यों ? . . . क्या मरना ऐसा होता है कि फिर नहीं लौटा जाता ? तब भला वहाँ जाने की क्या आवश्यकता है।

किसी एक दिन।

दीदी लौट आयी हैं। वह अत्यन्त कृशकाय हो गयी हैं। माँ उन्हें दूध दे रही हैं। मैं दीदी के पलँग के पास ही एक चटाई पर धोतियों आदि पर आने वाली रंगीन तस्वीरों को कैंची से काट-काट कर एक कापी में जमा कर रहा हूँ। मैं उसके बाद एक अल्बम बनाऊँगा और उसे वल्लभा को समर्पित कर दूंगा। वैसे मैं नहीं जानता कि समर्पण क्या होता है लेकिन इससे क्या ? मैं दो ईंटों पर खड़े होकर भी जब यह नहीं जानता कि ये दो पर्वताकार शिखर नहीं हैं और मैं एक वीर नायक

भी नहीं हूँ, पर प्रायः मैं ऐसा सोच लेता हूँ। नाली फलाँगते समय दोनों पैरों के नीचे से वहता हुआ पानी मुझे कितना दयनीय लगता है ! चीटीं जब मेरे पैरों के पास से गुजरती है तब क्या उसे मेरा जूता 'कितना विशाल' लगता होगा ? और मैं तो पूरा दैत्य ही उसे लग रहा हूँगा ? क्या यह सब मैं जान कर विशाल होता हूँ ? . . . तब बिना समर्पण की संज्ञा जाने क्या समर्पण नहीं कर सकता ? मैं एक दिन निश्चय ही उनका तथा अपना मोरपंख, यह अल्बम तथा एक कागज पेंसिल समर्पित कर आऊँगा। . . . लेकिन कहाँ ? . . . रुद्रेश्वरी के सामने जो नदी है वहीं पर। नदी में ही तो राख प्रवाहित की थी। नदी अवश्य जानती होगी कि वह मर कर कहाँ गयी हैं। . . . कागज-पेंसिल के द्वारा मैं मात्र यही प्रदर्शित कर देना चाहता हूँ कि जिस तीव्रता से मुझे उनकी याद आती है यदि वह भी वैसे ही याद करती हैं और किसी कारण आने में यदि असमर्थ हैं तो मात्र इतना ही लिख कर भेज दें कि उदू ! तू आ जा ! . . . और मैं पहुँच जाऊँगा। लेकिन कहाँ ! . . . वहीं जहाँ मर कर जाया जाता है। . . . मरने में क्या है ? मैं भी रस्सी से झूल जाऊँगा और बस, मरना हो जाएगा। लेकिन मान लो मर कर कहीं दूसरी जगह पहुँचे जहाँ वल्लभा न हों . . . तो ?

—माँ ! मर कर कहाँ जाते हैं ?

—देख भाई, मैं तो तेरे मारे परेशान हो गयी हूँ।

—माँ ! इस उदू को चाचाजी के पास भेज दो। यहाँ तो यह अब पढ़ने से रहा।

—और क्या। बस अबकी आने दो उसे।

मैं इन दोनों को मूर्ख मानता हूँ। मेरी गंभीरता को तो समझ नहीं रही हैं और अपनी ही हाँक रही हैं। अरे, इन लोगों को क्या मालुम कि मैं मरने जा रहा हूँ। मरने में केवल प्रतीक्षा इसी बात की है कि यह अल्बम पूरा हो जाए और इसे समर्पित कर दूँ। ये लोग नहीं जानते कि जब मैं रहूँगा ही नहीं तब भला ये किसे चाचाजी के साथ भेजेंगे ?

मैं इन लोगों की ओर देखना तक व्यर्थ समझता हूँ। कितने सहेज कर जाने कितने दिनों से मैंने कपड़ों पर आने वाली इन छवियों को सहेजा है। किसी को नहीं मालुम कि मैंने इन्हें तथा और भी ढेर सारी छवियों को कहाँ छुपा रखा है। उसी, नेरे में जो उपेक्षित बग्घी है न उसकी सीट के नीचे। अपने इस कोष का पता नन्दन, गम्पू किसी को भी नहीं दिया है . . . और इस अल्बम के बाद मैं छवियाँ एकत्रित करना बन्द कर दूंगा क्योंकि मैं ही जब नहीं रहूँगा तब भला छवियाँ एकत्र कौन करेगा ?

स्कूल से लौटते हुए आज बहुत दिनों के बाद मन्दिर जी की तरफ से निकलता हूँ। इस समय किसी आरती की वेला नहीं है इसलिए सुनसान है। पीपल पहले की ही भाँति चिकने पत्तों में प्रशस्त था। वल्लभा वाले कमरे की सारी खिड़कियाँ गिरी पल्कें लग रही थीं। यद्यपि पीपल की एक प्रशाखा खिड़की की निचली चौखट के बजाय अब पूरी खिड़की पर चादर सरीखी फैली हुई थी। लगता है खिड़की खोल देने पर अब तो वह कमरे में पहुँच सकती है।

मन्दिर का आधा वाला दरवाजा बन्द था। दालान की सीढ़ियों से होते हुए जलघड़िया गोशाला की तरफ जा रहा था। छोटे वाले आधे दरवाजे की आवाज सुन कर वह मुड़ा और मैं ठिठका।

——अरे उदू !

——जलघड़िया जी !

——आओ, आओ। क्या बात है भैया ?

——मैं...मैं...

और मंदिर में चारों ओर ऐसा सुनसान लग रहा था जैसे जाने कितना पुराना

प्रतीत घिरा हुआ हो। कपड़ा कस कर निचो दिया गया हो और फैलाया न गया हो और वैसे ही गुड़ीमुड़ी सूख गया हो. . .कैसा अजीब वह सूखा लगता है न? बस, मन्दिर जी भी ऐसा ही लग रहा था। पट, झँझरी के पीछे तना हुआ था। दाऊ जी' अपने पिंजरे में पंजे से चोंच खुजलाने में लगा था। सब यथावत था पर निस्तब्ध था।

—क्या बात है उद्धू ?

—मैं बुआ जी के कमरे तक जा सकता हूँ ?

—वह तो बन्द है। सरकारी ताला लगा है।

—फिर भी हो आऊँ ?

—जाओ, हो आओ।

भीतर के आँगनवाली चमेली वैसी ही छतनार थी तथा गझिन भी। जीनों की रस्सियाँ चिकनी चमक रही थीं। लेकिन मंदिर की हवेली खाली बर्तन सी लग रही थी। एक बड़ी घटना इन जीनों से इतने घोष के साथ नीचे उतरी कि उसके बाद छोटी-छोटी घटनाओं की पदचाप ही नहीं सुनायी देती।

वल्लभा के कमरे के सामने की छत पर वही परिचिता अपराह्न धूप थी। मुझे देख बड़ी परिचित प्रसन्न मुसकरा उठी जैसे कह रही हो, तुम भी आये हो ? मुँडेर पर रखी श्यामा के गमले की मिट्टी सवेरे के पानी से अब तक गीली थी। मुँडेर से आस पास का दृश्य तथा सोमवार्या बाजार फैला तथा प्रशस्त बिछा था। आकाश में घर, मुँडेरें, छतें खिंची हुई थी। वल्लभा के कमरे के ताले पर सरकारी मोहर लगा कागज चिपका हुआ ताले को गूँगा बनाये हुए था। धूप सरकती हुई दरवाजे की चौखट से थोड़ी बहुत संधियों से होती हुई कमरे में भीतर होगी इसका आभास दरवाजे की काली चीर बता रही थी। तो क्या भीतर अब वल्लभा नहीं हैं ? क्या कभी नहीं होंगी ?

और मैं उकड़ूं हो कर दरवाजे की चीर से कमरे में झाँकता हूँ। चीर ने दृष्टि को सीध दी है, फैलाव नहीं। सामने आलमारी और पलँग ही दिख रहे हैं। बड़ा घुटा-घुटा सा है भीतर। पलँग पर बिस्तरा तहा दिया गया है। धूप एक लम्बा सोने का बाल सा फर्श पर गिरा पड़ा है। किसका बाल हो सकता है यह ? सोने का बाल पलँग के नीचे तक पहुँच जाता है जैसे उस सिर, व्यक्ति को खोज रहा हो जिसका कि कभी वह था। क्या वह सिर या व्यक्ति वल्लभा नहीं हैं ?

चीजें भी व्यक्ति के साथ किस प्रकार सजी-बँधी रहती हैं कि हम होते हैं तो वे भी सप्राण लगती हैं। उनमें चिकने सेब की सी चमक रहती है। हमारी व्यस्तता के साथ चीजें भी बड़ी उतावली वाली व्यवस्तता में बझी रहती हैं। तौलिये को जरा भी फुर्सत नहीं। अभी बेचारा तार पर सूख रहा है और अभी उसे किसी का मुँह पोंछने के लिए भीतर चला जाना पड़ेगा। हमारे हाथों की हड़बड़ाहट चीजों में कैसी अभिव्यक्त होती है लेकिन जब हम नहीं होते तो कैसी निश्चिन्तता में चीजें विपद में हो जाती हैं कि जैसे सब सो गये हैं। और थोड़े काल के बाद हमारे न होने के साथ वे चीजें भी आपस में नहीं रह पाती हैं। दरी किसी कोने में पटक दी जाती है। वहाँ से वह उपेक्षित हो कर किसी अनावश्यक अँधेरे कोने में एक दिन पहुँच जाती है और तब तार-तार उस उपेक्षा में क्रमशः गल जाता है। और एक दिन होली-दिवाली की सफाई-पुताई में बड़े ही सार्वजनिक कूड़ा दान में अंग गलितं स्थिति में पहुँच जाती है। चीजों की इस प्रकार की अकाल मृत्यु के पीछे हमारी उपेक्षा कारण होती है। वल्लभा का बिस्तरा आज समेटा हुआ है। धूल प्रशस्त हो फैल आएगी और उसके बाद तो नये व्यक्तियों की संबंधहीन उपेक्षा जाने कहाँ, जाने कहाँ इसे फेंक देगी।

धूप का वह सोने का बाल अब पलँग पर चढ़ गया था जैसे वल्लभा सो रही हैं और एक लम्बा बाल जूड़े से विलग हो कर झूल आया है। क्या किसी ने पुकारा ?

——उदू!...जा रे भाई,...मैं अब यहाँ नहीं हूँ.....उदू !

और मैं भीतर जाने को आकुल, आँखें उस चीर में धँसा देता हूँ। नाक उस चीर में दब रही है। क्या इस धूप की भाँति मैं मृसण होकर भीतर नहीं पहुँच सकता ? भीतर...जहाँ वल्लभा चाहे न हों लेकिन वह है जिसे मैं अभिव्यक्त नहीं कर सकता, संज्ञा के अभाव में।

तभी मधुसूदन ने पुकारा,

——उदू !

और मैं उसे फटी आँखों से वैसे ही देखता हूँ जैसे मुझे उसने अपराध करते हुए देख लिया हो।

——उदू !...यहाँ अब कोई नहीं है...चलो।

——जलघड़िया जी !

और मेरा गला रुंध आता है।...मैं उससे चिपट उठता हूँ। वह मेरे सिर पर हाथ फेरने लगता है। जाने क्यों कोई भी व्यक्ति, कैसा ही व्यक्ति आश्रय में घुल उठता है। मधुसूदन का मेरे बालों में फिरता हुआ हाथ एक ऐसा आश्रय था जो मुझे बिखेरे दे रहा था।

और मैं फूट उठता हूँ।

——क्या अब बुआ कभी भी....?

——हाँ रे उदू ! गया हुआ कोई लौटता है ?...मैं जानता हूँ उदू ! वल्लभा को शाप दिया था किसी देवता ने। अपना भोग पूरा कर वह चली गयी। जाने दे उदू ! उसे वहाँ अधिक शांती होगी।

मैं नहीं जानता कि कितना कुछ सुना और समझा लेकिन मैं मोमबत्ती की तरह आद्यन्त घुलता हुआ एक बड़ा सा आँसू बन गया हूँ।

मराठी-कथावाचक सखाराम, कथाकरी-बुआ की कथा है। बा अब बहुत वृद्ध हो गये हैं। वल्लभा वाली घटना के बाद से तो जैसे वह एकदम ही जीर्ण हो गये हैं। अब कहीं नहीं जाते। इन कथाकरी-बुआ से उनकी वैयक्तिक मित्रता भी है। दिन में कथाकरी-बुआ स्वयं आये थे और चूँकि आज उनकी यहाँ आखिरी कथा थी इसलिए विशेष रूप से बुला गये थे।

सूबात के सामने वाले मैदान में शामियाना तना हुआ था। हजारों की भीड़ थी। सूबा साहब की बगल में बा को बैठाया गया। मैं जाकर सामने दरी पर बैठे बच्चों में बैठ जाता हूँ। माँ औरतों में जाकर बैठ गयी हैं। पिताजी नियमतः नहीं हैं। कथाकरी-बुआ अपनी पूनेशाही पगड़ी, त्रिपुण्ड, लंबा अँगरखा, लहराता दुपट्टा, वैष्णवी धोती तथा हाथों में करताल लेकर खनकाते जा रहे थे। एक तरफ पाँव-पेटी (पैर से बजाया जाने वाला हारमोनियम) पर एक सुंदर सा लड़का ब्रह्मचारी भूषा में पाँव-पेटी पर कोई गत बजा रहा था। कथाकारी-बुआ सुर साध रहे थे। उपस्थितों में अधिक तर महाराष्ट्रीय थे। और तुकाराम के अभंग से कथा-करी-बुआ ने आरम्भ किया।

संगीत, अभंग, कथा और और व्याख्या। आरोह-अवरोह और मुद्राएँ। करताल कथाकरी-बुआ के हाथों में नाच रही है और वह तन्मय होकर श्री श्रीचैतन्य-महाप्रभु के चित्र लग रहे थे। मैं मराठी नहीं समझता लेकिन 'देवा-देवा', 'पाण्डु रंगा', 'विट्ठल-विट्ठल' की पुकार एवं गुहार को अपने भीतर भी अनुभव करता बैठा रहा।

रात की उस विशाल निस्तब्धता में कथाकरी-बुआ की वह संगीतती आवाज धातु की तरह टनकारती हुई उठती रही। संभवतः सत्यवान-सावित्री की कथा थी। सावित्री यमराज से अपना पति माँग रही है और कथाकरी-बुआ अभी इस क्षण सावित्री की आर्तवाणी में बोल रहे हैं तो दूसरे क्षण यमराज की कर्कश-वाणी में उत्तर देते है। भंगिमाएँ और मुद्राएँ पेट्रोमेक्सों के प्रकाश में ऐसी सजीव लग रही थीं कि सब मंत्रमुग्ध थे। औरतों की ओर से हिचकियाँ सुनायी पड़ रही थीं। बच्चे अपनी निंदासी आँखों को विस्मय में फैलाये हुए टकटकी लगाये कथाकरी-बुआ को देख रहे थे जो भाव विभोर थे या स्वयं कथा हो गये थे।

और बा को सहसा चक्कर आया। वह अभी सम्हलें-सम्हलें कि कुर्सी पर से गिर पड़े। हठात व्यवधान देख कथा में रसभंग हुआ। हल-चल हुई। लोगों ने दौड़ कर बा को सहारा दिया। मैं दौड़ा और बा के पास पहुँच उनका हाथ थाम खड़ा हो गया। बा वैसे स्वयं बड़े दबंग व्यक्ति थे। पता नहीं कैसे क्या हुआ था। उन्होंने कुछ ही देर में अपने को सम्हाल लिया। तब तक माँ पीछे के अँधेरे में आकर खड़ी हो गयी थीं। बा ने सूबा साहब तथा कथाकरी-बुआ से क्षमा माँगी और हम लोग घर की ओर रवाना हुए।

बड़ी दूर तक कथाकरी-बुआ का स्वर आता रहा। लेकिन प्रत्येक स्वर या नाद के पहुँचने की एक सीमा होती ही है। असीम कुछ नहीं होता। क्रमशः कथा का वह स्वर भी कहीं रह कर डूब गया।

यद्यपि बा ने कथा में अपने को सहेज लिया था लेकिन वह क्षणिक था। दूसरे दिन शेखर के पिता वकील साहब जब बा की नाड़ी देखने आये तो उन्होंने जाने

क्या-क्या बताया। ठीक इसी तरह डाक्टर आये तो उन्होंने कहा कि यह दिल का दौरा था। दुबारा इस का होना खतरे से खाली नहीं होगा।...और यह सुनकर पिताजी, माँ और दीदी के चेहरे फक हो गये। जबकि बा के चेहरे पर कोई परेशानी नहीं थी।

—अरे तो तुम लोग बताओ न कि डाक्टर-वैद्य क्या कहते हैं ?

—कुछ नहीं कमजोरी बतायी है।

—मुझे बच्चों की तरह बहलाते हो ? मैं नहीं जानता कि यह दिल का दौरा है ? पहले तो शरीर में शक्ति थी लेकिन अब सहन नहीं कर सकता।—इच्छा !

—जी।

—शंकर को बुलवा लो। और मणी ! मैं चाहता हूँ कि शंकर के आते ही सारा हिस्सा-बाँटा कर दो।

—तुम तो दादा ऐसी बातें करते हो कि बस।

—कैसी बातें ! अरे पगली ! तुम शंकर को नहीं जानतीं। पीछे से वह कुछ भी कह सकता है, कर सकता है।

—मैं भी देखूँगी कैसे कुछ करता है ?

—लेकिन मैं नहीं चाहता कि पीछे से कुछ भी हो।

—लेकिन दादा ! अभी तुम...

—मणी ! जाना तो है ही और आगे-पीछे यह काम करना ही है तो कर ही दिया जाए।

और पिता की बीमारी सुनकर सूर्यशंकर पाँचवे दिन आ गये। मैं विशेष नहीं जानता लेकिन माँ और शंकर में बहुत कहा-सुनी हुई। पता नहीं चाचाजी ने जाने कितने गड़े-मुर्दे उखाड़े। और उन्होंने सिद्ध कर दिया कि पिता की जायदाद में से अब इच्छा-दादा को कायदे से कुछ नहीं मिलना चाहिए क्योंकि उनके तीन-तीन विवाह, शांती का ब्याह तथा उदू के यज्ञोपवीत में जो कुछ खर्च हुआ वह भी तो गिना ही जाएगा ? रही बात रत्नशंकर के हिस्से की तो स्पष्ट बात यह है कि उसके मर जाने से उसका हिस्सा उसकी पत्नी को जाना चाहिए। इस प्रकार पिता की जायदाद में से अब केवल उनका और छोटे भाई की विधवा का ही हिस्सा हो सकता है। माँ सुनकर जल-भुन गयीं। उन्हें शंकर से घृणा हो गयी। बा वितृष्ण हो गये।

पिता पर कोई प्रभाव नहीं हुआ।

बा ने झल्लाकर भण्डारे की ताली का गुच्छा शंकर की ओर फेंक कर कहा,

—तुझे भी ठाकुर जी की सौगंध है जो उस भण्डारे में से एक-एक कानी कौड़ी तक बीन कर न ले जाए तो।...तू बेटा है मेरा ?

इस पर माँ ने गुच्छा उठाते हुए कहा,

—नहीं पहले उदू का फैसला करना होगा। इसके हिस्से की जायदाद कहाँ है ?

—यह बाद की बात है।

—बाद की कैसे ?

तभी बा ने झल्लाते हुए कहा,

—दे दे मणी ! इसको ताली दे दो ले जाने दे।

इस बीच पता नहीं कैसे नन्दन के पिता भी आ गये। और देखते-देखते घर में तहलका मच गया। चाचाजी अपनी जिद पर अड़े थे। वह अपने इच्छा-दादा को कानी-कौड़ी देने को तैयार नहीं थे। लोकनाथ ने शंकर को बहुत समझाया पर वह टस से मस नहीं हुए। और हार कर माँ तराजू-बाद झनझनाते पटक गयीं। गम्पू के पिता खजान्ची साहब ने खुद ही रुपये पत्थर पर गिन कर बजाये और दस-दस की ढेरी बनायी और इस प्रकार दस हजार नकद, अस्सी सेर चाँदी और दो सौ तोला सोना—सूर्य शंकर ने अपना तथा छोटे भाई की विधवा बहू का कब्जे में किया।

माँ, काकीमाँ, दोनों भाभियाँ, दीदी, गम्पू की माँ आदि सब दरवाजे की आड़ से साँस रोके देखती रहीं। लोकनाथ रावल, वकील साहब और खजांची साहब गुस्से में भरे बैठे रहे पर पिता इच्छाशंकर के चेहरे पर कोई भाव नहीं था।

तभी जाने कैसे, कहाँ से पुराणी-बा आ गये। शायद माँ ने रमण-दादा को भिजवा कर उन्हें इस आपद्काल में बुलवाया था। पुराणी-बा की उपस्थिति सब के लिए दैवी उपस्थिति लग रही थी।

—अरे, आप ??

और बा ने भी सब के साथ उठने की चेष्ठा की। बा लेटे थे। बा को बरजते हुए वह उनके पास बड़े ही शांत भाव से आकर बैठ गये। दुपट्टे से हवा करते हुए अत्यन्त गंभीर भाव से शंकर से पूछा,

—हो गया सब शंकर ?

—हाँ मौसा जी !

—शंकर ! तुमने हम सब के कुलों की इज्जत को बढ़ाया है। तुम आज इतने बड़े

पद पर भगवान की कृपा से पहुँचे हो जहाँ बिरले ही पहुँच पाते हैं। मुझे तुमसे सदा बड़ी-बड़ी आशाएँ रही हैं। तुम्हें भगवान ने स्वअर्जित क्या नहीं दिया है ? फिर अपने बड़े भाई का हिस्सा दाब कर...

—मौसा जी ! मैं किसी का हिस्सा नहीं दाबना चाहता। दादा अपना हिस्सा ले चुके। विधवा-बहू को हिस्सा नहीं मिलना चाहिए ?

—शास्त्रगत तो नहीं। मानवीय नाते से अवश्य मिलना चाहिए तो इसमें झगड़ा किस बात का ? और इस इच्छा के जो तीन-तीन विवाह हुए तो क्यों ? कुल चले इस के लिए ही न ? तो यह उदू क्या तेरा भी कुल नहीं चलाएगा रे ? तुझे क्या किसी दिन तर्पण नहीं लेना है ?...और सुन ले, तू यह सब ले जा। कोई तेरा रास्ता नहीं रोकेगा पर यह भी जान ले कि इसमें की एक पाई का भी भोग तू नहीं कर पाएगा। दे लज्जाशंकर ! इसे।

—मैं ने पहले ही दे दिया मौसा जी !

—मकान और जमींदारी दादा की रहेगी।

शंकर की इस बात पर माँ ने ललकारा,

—वह भी चाहिए तो नट्ठारे ! ले जा उसे भी।

इस पर पुराणी-बा ने पिता से पूछा,

—इच्छा ! तुझे कुछ नहीं कहना ?

—चाहे आज शंकर जो भी समझ रहा हो पर यह उदू उसी का है, यह शांती उसी की है। मुझे कुछ नहीं चाहिए। अच्छा है वह सारी चीजों की देखभाल ठीक से करेगा।

किसी का साहस नहीं हुआ आगे कुछ भी बोलने के लिए। केवल यही लगा कि चाचाजी का तनाव कुछ कम हुआ। पर उसी रात बा को फिर दौरा हुआ और इसके पूर्व कि किसी भी प्रकार की कोई भूमिका बन सके बा का देहावसान हो गया।

मुझे इस बार भी दाह कर्म में नहीं ले जाने वाले थे जैसा कि वल्लभा के समय हुआ था। लेकिन मैं सतर्क था। घर में सिवाय रोने के या पाथर मौन के और कुछ

नहीं था। जीवन में पहली बार मृत्यु को इतने निकट से देखने का मौका था लेकिन मुझे और नन्दन को गम्पू के घर उसी ऊपरी वाले कमरे में एक प्रकार से कैद कर दिया गया था जहाँ कभी मैंने बीड़ी पी थी।

हम उस कैद में बैठे हुए बराबर कल्पना कर रहे थे कि अब क्या हो रहा होगा। गम्पू अनुभवी था। वह एक प्रकार से सारी बातें जानता था कि लाश किस प्रकार अर्थी पर ले जायी जाती है।

—सफेद कपड़ा किसे ओढ़ाया जाता है गम्पू ?

—तुझे यह भी नहीं मालुम ? मर्दों को सफेद और औरतों को रंगीन ?

—क्यों !

—अब यह मैं नहीं जानता। लेकिन यार ! वो गोटे वाला सेठ मरा था न तब खूब पैसे फेंके गये थे और मैंने आठ आने लूटे थे।

—लेकिन गम्पू ! क्या हम बा की अर्थी में नहीं जा सकेंगे ?

—तू गधा ही है ? अरे, कोई है जो हमारा रास्ता रोक सकता है ? इनको जाने दे तो फिर देखना कि कैसे हम इन लोगों से पहले वहाँ पहुँचते है।

और जैसे ही दीवार से कान सटा गम्पू ने सुना 'राम-नाम सत्य है' वह बोला,

—लो, वो तो चल दिये।

और वातावरण में एक साथ ही 'राम-नाम सत्य है' के साथ औरतों का एक बार धाड़ मार कर रोना-चिल्लाना सुनायी दिया। मेरा दिल धक-धक कर रहा था।]

हम रुद्रेश्वरी मंदिर की चट्टानों की ओट में बैठे हुए देख रहे थे। भय था कि देख लिये गये तो डाट पड़ सकती है। पुल पर से कैसे वे लोग बा की अर्थी लिये हुए सोल-मुकुटे पहने हुए गले में सिर्फ दुकूल थे तथा 'राम-नाम सत्य' का सम्मिलित घोष। वे लोग पुल पार कर सब धीरे-धीरे कुम्हारों द्वारा बना दिये गड्ढों से बचते हुए नदी तट पर आये। पिता के हाथ में अग्नि थी।....बड़ी देर तक हम लोग अपनी दृष्टि गड़ाये सारी बातें देखते रहे। बा को तब अन्तिम स्नान करवाया गया। उसके बाद तैयार चिता पर लिटाया गया। और जब अग्नि दी गयी उस समय

पिता की विव्हलता देखकर पार बैठे मेरा मन जाने क्यों भर आया। मैं अपने आँसू रोक रहा था क्योंकि दृष्टि फैल-फैल जा रही थी। और लपटें कैसे आकाश में लाल-पीली होकर विलीन हो रही थीं।

सामने का दृश्य एकदम खुला पड़ा था। दूर-दूर तक सिवाय नदी, पेड़, खेत, क्षितिज तथा आकाश के और कुछ ऐसा नहीं था जो इस चिता को सन्तुलित करता। प्रत्येक लपट में बा नष्ट होते हुए सुदूर, ऐसे सुदूर कि जैसे सुदूर होता है—हो रहे थे। और शेष सब किनारे पर, सम्बन्ध होते हुए भी, उतारे हुए वस्त्रों की भाँति लग रहे थे।

संभवतः सुदूर होना, अग्नि होना है। तभी तो सुदूर हमारे स्पर्श, बोध, तथा चेतना के इन्द्रियत्व से परे है।

दिन ।
कई दिन ।
अनेक दिन ।
बा अब 'थे' हो गये थे । सब कर्म, क्रिया, प्रथा को स्वीकार या प्राप्त कर बा अब अतीत हो रहे थे । आये लोगों को लौट जाना था । एक विराट लौटना देखकर लोग अपना छोटा-छोटा लौटना कर रहे थे ।
चाचाजी के साथ मुझे पढ़ने के लिए जाना है । संभव है साथ में माँ भी जाएँ । पता नहीं उस दिन का पारिवारिक तनाव कब, किस रूप में समाप्त हुआ । लेकिन अब सब बदल गया था ।

मैं कल चला जाऊँगा । आज इस समय नितान्त अकेला रुद्रेश्वरी के नदी-तट पर जा रहा हूँ । दीया-बत्ती जल चुके हैं । सड़कें सुनसान हैं । नदी के पुल पर भी कोई

शब्द, कोई गति नहीं है। आकाश में केवल तारे ही तारे हैं। रुद्रेश्वरी मन्दिर से सन्ध्यारती का स्वर उठ रहा है। बड़ा ही अँधेरा-उजेला मिश्रित है।
नदी का क्षीण जल अपने में उतरे आकाश के साथ माधोघाट की ओर बह रहा है। पुल की विशाल मेहराबों में बहता जल, पुल की महराबों को और ऊँचाई दे देता है। महराबों में से हल्का सा दृश्याभास होता है।
मैं कल चला जाऊँगा। यह एक निर्णय है। मेरा नहीं। मेरा निर्णय तो यह था कि मैं अपना अल्बम पूरा होने पर मोरपंख के मुकुट के साथ नदी में समर्पित कर दूँगा ताकि वह वल्लभा तक पहुँच जाए। बा के लिए मेरे मन में अस्पष्टता है लेकिन अल्बम में कुछ चित्रों के नीचे बा का नाम भी लिख दिया है।

नदी में गति है। इसमें प्रवाहित कर देने पर समर्पण में भी गति आ जाएगी। और गति ही---कैसी ही, किसी ही, कितनी ही दूरी को पार कर सकती है।
मोरपंख वाला मुकुट निश्चय ही वल्लभा को प्राप्त होगा। और यह अल्बम नितान्त मेरी भावना है। मैं इन्हें समर्पित कर रहा हूँ। नदी, विश्वास है उन गये हुए प्रिय-व्यक्तियों तथा मेरे बीच की दूरी का।
ओ मेरे मोर पंख के मुकुट ! अल्बम ! जाओ।
दोनों जल में तिर उठते हैं। कैसी ही जड़ता हो, गति उसे भी-अपनी थोड़ी गति दे देती है। वे दोनों बहने लगे हैं। लेकिन अल्बम...डूबने-डूबने को है...वोऽऽ... वोऽऽ मोरपंख का मुकुट मेहराबों के नीचे से जा रहा है...
मैं रुद्रेश्वरी की नुकीली चट्टानों के ऊपर से होकर पुल के पार जाकर मोरपंख के मुकुट को देखने के लिए चढ़ रहा हूँ...चढ़ रहा हूँ.....।
जो गया, जो जा रहा है या जो जाने वाला है...उसे एक दिन नदी की यह महागति, समर्पण बनकर स्वीकारनी ही होती है।

२० नवम्बर '६२